अनुभव-प्रकाश प्रवचन

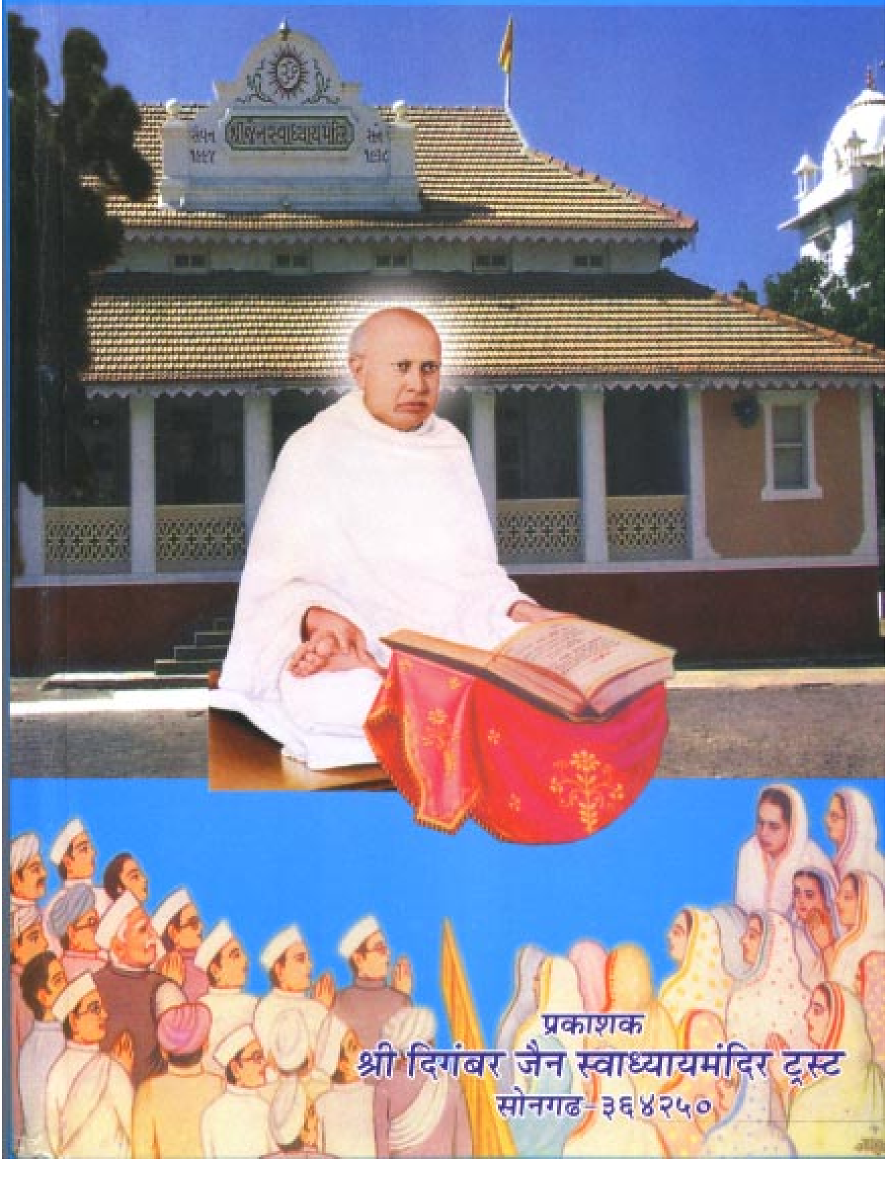

प्रकाशक
श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ- ३६४२५०

भगवानश्रीकुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प–२१३

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

नमः श्री अनुभवप्रकाशेभ्यः

अनुभवप्रकाश-प्रवचन

[प्रथम आवृत्ति]

श्री दीपचन्दजी कासलीवाल रचित ''अनुभवप्रकाश'' पर

परमपूज्य शुद्धात्मानुभवी सद्‌गुरुदेव

श्री कानजीस्वामीके अनुभवपूर्ण

अपूर्व प्रवचनोंका

सार

卐

–ः प्रकाशक ः–

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ-३६४२५० (सौराष्ट्र)

શ્રી દિગંબર જૈન સ્વાધ્યાયમંદિર ટ્રસ્ટ, સોનગઢ - ૩૬૪૨૫૦

2

प्रथमावृत्ति (हिन्दी) १००० वि. सं. २०६३ ई.स. २००७

अनुभवप्रकाश–प्रवचन(हिन्दी)के

❋ स्थायी प्रकाशन पुरस्कर्ता ❋

श्री शीतलप्रसादजी जैन परिवार, दिल्ली

यह शास्त्रका लागत मूल्य रु. ६१=०० है। मुमुक्षुओंकी आर्थिक सहायतासे इस आवृत्तिकी किंमत रु. ५०=०० होती है। तथा श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट हस्ते स्व. शांतिलाल रतिलाल शाहकी ओरसे ५०% आर्थिक सहयोग प्राप्त होनेसे यह शास्त्रका विक्रय-मूल्य रु. २५=०० रखा गया है।

मूल्य : रु. २५=००

मुद्रक :
कहान मुद्रणालय
जैन विद्यार्थी गृह कम्पाउण्ड,
सोनगढ-३६४२५० ✆ : (02846) 244081

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

શ્રી દિગંબર જૈન સ્વાધ્યાયમંદિર ટ્રસ્ટ, સોનગઢ - ૩૬૪૨૫૦

પરમ પૂજ્ય અધ્યાત્મમૂર્તિ સદ્ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

✻ श्री सद्गुरुदेव-स्तुति ✻

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना अे नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरुकूहान तुं नाविक मळ्यो.

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना!
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां.

(शिखरिणी)

सदा द्दष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिदघन विषे कांई न मळे.

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयुं 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
—रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां–अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा.

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं.

(स्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं,—मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

—*रचयिता : हिंमतलाल जेठालाल शाह*

ॐ

नमः श्री सद्गुरुदेवाय

प्रथमावृत्तिका निवेदन

अद्यात्मरसिक श्री दीपचन्दजी साधर्मीकृत यह ''अनुभवप्रकाश'' ग्रंथ(शास्त्र) सर्व भव्य जीवोंको आदरणीय हो गया है। यह शास्त्रके पढ़नेसे ऐसा निश्चय होता है कि इसके लेखक एक अनुभवी एवं आत्मज्ञ सत्पुरुष थे। उन्होंने इस ग्रंथमें अध्यात्मरसको अद्भुत तरीकेसे घोंटा है। अनेक दृष्टान्त देकर इसमें शुद्धात्माका स्वरूप बहोत सुन्दर तरीकेसे समझाया गया है, और मुमुक्षुओंको शुद्धात्माका अनुभव करनेकी प्रेरणा दी गइ है। यह ग्रन्थकी रचना करके आपने भव्यात्माओं पर अमाप उपकार किया है।

यह ग्रन्थके उपर स्वरूपानुभवी, अद्यात्मयोगी, चैतन्यविहारी, परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा अलौकिक प्रवचन किये गये हैं। ये पुनित प्रवचन स्वानुभवके पंथको अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकाशित करते हैं तथा मुमुक्षु आत्माओंके अन्तरमें स्वानुभवकी रुचि जागृत करते हैं। प्रवचनकी कथनी (शैली) इतनी सहज, भावपूर्ण और शक्तिशाली है की इसमें आत्मज्ञ गुरुदेवश्रीका अनुभव ही मूर्तिमंत होकर वाक्धारारूपसे बह रहा हो ऐसी प्रतीति सुननेवालोको होती थी। ऐसे अध्यात्मरस-झरते मधुर प्रवचनोंके द्वारा अध्यात्मपिपासु सुपात्र मुमुक्षुओं पर पूज्य गुरुदेवश्रीने महान उपकार किया है। ये प्रवचन प्रत्यक्ष सत्पुरुषोंके वियोगमें मुमुक्षुओंको अत्यन्त आधारभूत तथा हितकारी हैं।

स्व. श्री अमृतलाल नरसीभाई द्वारा लिपीबद्ध किये गए यह प्रवचन ''सद्गुरु-प्रवचन-प्रसाद'' (गुजराती)में आ चुके हैं। यह कल्याणकारी प्रवचनोंकी हिन्दीभाषी मुमुक्षुसमाजमें भी बहुत मांग होनेसे गुजराती प्रवचनोंका हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जैन द्वारा कराके इनको हिन्दी

भाषामें प्रथमबार श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है की मुमुक्षु समाज इन प्रवचनोंका अभ्यास करके लाभान्वित होगा।

यह पुस्तकका प्रिन्टींग कार्य कहान मुद्रणालय द्वारा अत्यंत सुंदर ढंगसे किया गया है। जिसके लिए हम इनके आभारी हैं।

मुमुक्षुजन अति उल्लासपूर्वक इन प्रवचनोंका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थसे शुद्धात्माका अनुभव करने हेतु सतत प्रयत्नशील रहकर परमानन्द प्राप्त करे यही भावना।

भादो वदि दोज
वि. सं. २०६३
पूज्य बहिनश्रीका
९४वाँ जन्मोत्सव

साहित्यप्रकाशनसमिति
श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ–364250 (सौराष्ट्र)

यह ग्रन्थके बारेमें पूज्य गुरुदेवश्रीके हृदयोद्गार उनके हस्ताक्षरोंमें

ॐ

આત્માને ચોથા ગુણસ્થાનથી નિર્વિકલ્પ અનુભવ કેવો હોય, કેટલો કાળ રહે અને કેટલે આંતરે આવે એ વાત આ અનુભવપ્રકાશમાં ખાસ વર્ણવમાં આવી છે.

શ્રી દીપચંદજી સાધર્મીએ પોતે અનુભવનો રણસ્થંભ રોપીને આ શાસ્ત્ર રચેલ છે; માટે આત્માર્થી જીવોએ આ શાસ્ત્ર વારં વાર અભ્યાસ, ચિંતવન અને વિચારમાં લેવા જેવું છે

आत्माको चतुर्थ गुणस्थानसे निर्विकल्प अनुभव कैसा होता है, कितने काल तक रहता है तथा कितने कालांतरमें आता है यह बात यह अनुभवप्रकाश ग्रन्थमें खास लिखी गई है।

श्री दीपचंदजी साधर्मीने स्वयं अनुभवका रणस्थंभ स्थापकर यह शास्त्रकी रचना की है । इसलिए आत्मार्थी जीवोंको यह शास्त्र बार-बार अभ्यास, चिंतवन और विचारमें लेने योग्य है।

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः
नमः अनेकान्तायः

अनुभवप्रकाश

प्रवचन–१

[पौष कृष्णा ६, रविवार ७-१२-५२]

यह अनुभवप्रकाश ग्रन्थ है, इसमें आत्माके आनन्दको प्रकाशित किया है। आत्मा ज्ञानानंदस्वभावी है, उसका अनुभव कैसे प्राप्त होता है वह इसमें दर्शाया है। सर्व प्रथम ''ॐ नमः सिद्धेभ्यः'' लिखकर ग्रन्थका प्रारंभ किया है। ॐ वह तीर्थंकर भगवानकी निरक्षरी ध्वनि है, जिसके द्वारा आत्मस्वरूपका ध्यान आता है। स्वभावमें पूर्ण शक्ति विद्यमान थी वह जिन्होंने प्रगट की, तथा अशरीरी दशा प्रगट करके जो अनन्त आनन्दका अनुभव करते हैं वे सिद्ध हैं। उनको नमस्कार करके मंगल करते हैं।

(दोहा)

गुण अनन्तमय परमपद, श्री जिनवर भगवान,
ज्ञेय लक्ष्य हैं ज्ञानमें, अचल सदा निजस्थान।

मंगलमें सिद्ध परमात्माको नमस्कार करते हैं। सिद्ध भगवान अनन्त गुणमय हैं, श्री स्वरूपलक्ष्मी वीतरागभावसे प्राप्त करके जो प्रधानपदको

प्राप्त हुए हैं वे जिनेश्वर भगवान हैं। भगवानके ज्ञानमें समस्त ज्ञेय वर्तते हैं, कोई शेष नहीं रहता, तथापि स्वयं असंख्य प्रदेशमें रहकर सबको जानते हैं।

भगवान वे द्रव्य हैं तथा अनन्त गुणोंके भण्डार हैं—ऐसा कहकर भाव बतलाया और अपनी एक समयकी पर्यायमें लोकालोकको जानते हैं वह काल (पर्याय) बतलाया, तथापि वह सब अपनेमें रहकर, क्षेत्र बदले बिना, अपने द्रव्य-गुण-पर्यायको धारण करके स्वक्षेत्रमें रहकर जानते हैं वह क्षेत्र कहा—इसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव द्वारा भगवानका स्वरूप बतलाया।

परमात्माके लक्षमें ज्ञेय हैं, परन्तु वे ज्ञेयोंको बदलते या परिवर्तित करें ऐसे नहीं हैं मात्र समस्त ज्ञेयोंको जानते हैं और अपने असंख्यप्रदेशी निजस्थानमें सदा अचल हैं, वहाँसे कभी चलित नहीं होते।

सिद्ध भगवान अथवा निर्वाणनाथ कैसे हैं? जिनेश्वर परम देवाधिदेव हैं, परमात्मा हैं। अपनी ईश्वरता स्वयंको प्रगट हुई है, इसलिए परमेश्वर हैं। तथा ज्ञानी तो धर्मात्माको परम पूज्य हैं, अज्ञानीको नहीं हैं, क्योंकि पूज्य कैसे होते हैं और पूजक कैसे होते हैं उसकी अज्ञानीको खबर नहीं होती। तथा भगवान मिथ्यात्व-रागादि मलसे रहित हैं, अनुपमेय हैं, उनके आनन्दमें खण्ड नहीं होता ऐसे शीतलीभूत भगवान निर्वाणनाथको नमस्कार करता हूँ। जो परिपूर्णदशाकी रक्षा करते हैं वे निर्वाणनाथ हैं।—ऐसी प्रतीतिपूर्वक ग्रन्थकार नमस्कार करते हैं, इसके बिना नमस्कार सच्चा नहीं होता। जीव अपने स्वरूपको जाने तो भगवानके ऊपर निमित्तका आरोप होता है। इसप्रकार स्वरूपको समझकर, भगवानको नमस्कार करके, आत्माकी आनन्ददशाके प्रकाशक इस ग्रन्थका प्रारम्भ करते हैं।

निर्मल भेदज्ञान द्वारा आत्माके प्रसादसे तथा निमित्तरूप भगवानके प्रसादसे अपने आत्मामें आनन्द प्रगट हो वह धर्म है। पहले अज्ञानदशामें विकारी पर्यायकी ओर देखता था अब स्वभावकी ओर देखनेसे निजानन्ददशा प्रगट होती है। आत्मा स्वयं आनन्दकी खान है, उसके आश्रयसे आनन्द प्रगट होता है।

इसप्रकार नमस्कार करके महिमा की और उसका फल आनन्द बतलाया।

प्रथम इस लोकमें अनन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्‌गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्य कालाणु—इसप्रकार छह द्रव्य सर्वज्ञ भगवानके अपने ज्ञानमें देखे हैं; उनमें आत्मा सर्व परद्रव्योंसे पृथक् है। शरीर, मन, वाणी, कर्मादि वस्तुएँ हैं परन्तु आत्मा उनसे भिन्न है, भिन्न न हो तो छह द्रव्य—वस्तुएँ नहीं रहतीं। आत्मा शरीरादिसे भिन्न है यह वर्णन नास्तिसे किया।

अब, अस्तिसे कैसा है इसका वर्णन करते हैं। आत्माका ज्ञानानन्दमय स्वभाव सहज है, अनादिका है, किसीके द्वारा निर्मित नहीं है। छह द्रव्य सहज हैं, परन्तु आत्मा कैसा सहज है? वह सहजस्वभावरूप सच्चिदानन्द है। सत् = अस्ति, चित् = ज्ञान, स्वयं ज्ञान और आनन्दमय है तथा आत्मा अनन्त गुणवान है। संसारमें शरीर निमित्तरूप हो, पर्यायमें विकार हो, परन्तु स्वभाव तो ज्ञान एवं आनन्दमय है। तथा आत्मा अनन्त गुणमय अमृतरसका पिण्ड है। यहाँ पर्यायमें विकारको गौण करके बात करते हैं।

आत्मा स्वभावसे शुद्ध होने पर भी अनादिसे कर्मका संयोग है। कर्मादि परद्रव्यसे भिन्न है, परन्तु उनके निमित्तसे अपनी दशामें अशुद्धता है। अशुद्धता न हो तो संसार न हो। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव अनादिसे परपदमें निजपद (अपना स्वरूप) मान रहा है। विकार, दया, दानादि परिणाम तथा शरीरादि परधामको अपना मानकर परभावमें लगा रहता है। कर्म परभाव नहीं कराते, परन्तु स्वयं परको अपना मानकर परभाव करता है।

अनादिकालसे यह जीव परको तथा विकारको अपना मान रहा है। विकार एक समयका होने पर भी उसे अपना त्रैकालिक स्वरूप माने तो उसमें से दृष्टि कैसे हटेगी? नहीं हट सकती। इसप्रकार रागकी रुचि द्वारा शुभाशुभ वृत्तियाँ करता रहता है और जन्मके, वृद्धावस्थाके तथा मरण आदिके दुःख सहन करता है।

इन दुःखोंकी परिपाटीका कारण कहते हैं। भगवान आत्मा अनन्तगुणोंका पिण्ड होने पर भी परको अपना मानकर कर्मके निमित्तसे परभाव करके दुःख सहन करता है। अपने स्वभावके अशुद्ध चिंतवनसे ही दुःखकी परिपाटी प्राप्त होती है और स्वभावके शुद्ध चिंतवनसे दुःख नहीं होता—ऐसा अनेकान्त बतलाता है।

यदि जीव अपने सहजस्वरूपको सँभाले तो दुःखका नाश हो, परन्तु अज्ञानी जीव उसकी प्रतीति नहीं करता, इसलिए दुःखकी परिपाटी प्राप्त हुई है। पहले पर्यायमें दुःखकी बात कही; अब कहते हैं कि अपना त्रैकालिक स्वभाव सहजस्वभाव—परमानन्दकी मूर्ति है उसको सँभाले तो दुःखका नाश हो, परन्तु गृहीत मिथ्यात्व हटे बिना यह बात समझमें नहीं आ सकती। जो परसे और पुण्यसे धर्म मनवाते हैं वे सच्चे देवादि नहीं हैं–कुदेवादि हैं—इत्यादि बातें आगे कहेंगे।

अपने स्वरूपके अशुद्ध चिंतवनसे दुःख है, परन्तु अपने सहज स्वभावको सँभाले तो दुःखका अन्त हो। पर्यायबुद्धिसे जो संसार है वह स्वभावबुद्धिसे अर्थात् गुण-गुणी त्रिकाल अभेद हैं—ऐसी दृष्टिसे टूटता है।

आत्माका सहज ज्ञानानंद स्वभाव है उसकी श्रद्धा–ज्ञान करे तो देव-गुरु-शास्त्रका विकल्प निमित्त कहा जाए। देव-गुरु-शास्त्र ऐसा कहते हैं कि आत्मा अनन्तगुणोंका पिण्ड है, इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभावबुद्धि करे तो दुःखका नाश हो। अनादिसे पर्यायमें संसार है और वह स्वभावके आश्रयसे नष्ट हो सकता है—ऐसा कहनेवाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं। शिष्य जब उसे सुनता है तब गृहीत मिथ्यात्व छूटता है। उन सच्चे देवादिको निमित्त कब कहा जाता है? कि जब अपने सहज स्वरूपको सँभाले तो देव-गुरु-शास्त्रको और उनके प्रति शुभ विकल्पको निमित्त कहते हैं।

देव-गुरु ऐसा कहते हैं कि हमारा उपदेश श्रवण करने आया है वह शुभराग है, वह बंधन है। ऐसा सुनानेवाले हैं और सुननेवाले भी हैं।

पहले अज्ञानी विपरीत श्रवण करता था वह छूट गया है। अब ऐसा कथन करनेवाले मिले हैं कि—आत्मा सहजस्वभावका धाम है उसे सँभाले तो दुःखका नाश हो। यहाँ ''सँभाले'' शब्दमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनोंका समावेश हो जाता है। अपने स्वरूपको सँभालनेकी बात कही है, परको सँभालनेकी बात नहीं कही। अज्ञानी जीव राग-द्वेषादिको सँभालनेमें लगा है उसे छोड़कर स्वभावको सँभाले तो यथार्थ दृष्टिसे श्रद्धाकी अपेक्षा दुःखका नाश हो और चारित्रमें स्थिरता करते-करते दुःखका सर्वथा नाश हो जाए।

यह अहिंसा परमो धर्म है। परकी अहिंसा या हिंसा तो कोई कर नहीं सकता। अपने स्वरूपको सँभालना वह अहिंसा है। अज्ञानी जीव पैसादि संयोगोंके लिए अशुद्ध चिंतवन करके दुःखकी परिपाटी उत्पन्न करता है। वहाँ पैसा तो पैसेके कारण आता है, परन्तु जीवने रागका प्रयत्न अपनी पर्यायमें किया है उसने पुण्य-पापभावकी अथवा कमाने-खाने-पीनेके भावकी–अशुद्धताकी प्राप्ति की है। पर वस्तुएँ–पैसा, मकानादि वस्तुएँ—आत्माकी पर्यायमें प्रविष्ट नहीं होतीं, तो फिर जीवको उन वस्तुओंकी प्राप्ति हुई कैसे कहाँ जाए? परवस्तुएँ–पैसादि तो जीवको प्राप्त नहीं हुए, परन्तु उसे तो ममत्व–आकुलता अथवा अशुद्ध भावोंकी प्राप्ति हुई है। जीवको स्वक्षेत्रमें और स्वकालमें दुःखकी प्राप्ति हुई है।

देखो, दीपचन्दजी तो गृहस्थदशामें थे, फिर भी कितनी अच्छी बात करते हैं। अज्ञानी जीव अशुद्ध चिंतवनसे दुःखकी प्राप्ति करता है और यदि स्वभावको सँभाले तो दुःखका नाश होता है। सामग्रीके कारण अशुद्ध चिंतवन नहीं होता, सामग्री तो एकसमयमात्र भी जीवका स्पर्श नहीं करती।

आत्मा ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुणोंका पिण्ड है; उसमें श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता करे तो एक क्षणमें सर्व दुःखोंका नाश हो और नित्य आनन्दमय परमपद प्रगट हो। जीव या तो दुःखकी परिपाटी प्राप्त करता है अथवा शाश्वत आनन्दपद। वह पद प्राप्त करनेके लिए अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती।

जीव अनादिकालसे अपनी सँभाल न करके परमें अपना स्वरूप मानता है। वह मान्यता कर्मके कारण नहीं हुई है, परन्तु वर्तमान दशामें अपनेको परके अस्तित्वमें मानकर स्वरूपको भूल गया है, इसलिए विपरीत दशा हुई है। पुण्य-पाप तो (पर्यायमें) स्वयं कर रहा है किसीने कराए नहीं हैं। स्वयं सहज आनन्दस्वभाववान होने पर भी अपनी सँभाल नहीं करके परको अपना मान रहा है। शरीर, पुत्र-पुत्री, मकानादि बाह्य संयोग जीवकी पर्यायमें नहीं आते, जीव तो मात्र कल्पना–रागादि करता रहता है। परमें अपनेको मानकर स्वरूपको भूल रहा है; उन्हीं परिणामोंको पलटकर, स्वोन्मुख करे तो मुक्तदशा प्राप्त हो जाए। वही परिणाम अर्थात् पर्यायमें जो विपरीत परिणाम कर रहा है उन्हें पलट दे–ऐसा कहते हैं। द्रव्य-गुण तो बदलते नहीं हैं, वे तो कूटस्थ हैं, परन्तु वर्तमान परिणाम जो परोन्मुख हैं उन्हें स्वभावोन्मुख किया जा सकता है। आत्मा अनन्त गुणोंके पिण्ड स्वरूप है उसे अपना मानना और परका विस्मरण करना। (कोई करा दे ऐसा नहीं कहा।) जीव यदि ऐसा करे तो आत्माकी परमानन्ददशा प्रगट होगी।

✠ प्रवचन–२ ✠

(पौष कृष्णा–७, सोमवार दिनांक ८-१२-५२)

स्वके विस्मरणमें संसार है और परके विस्मरणमें मुक्ति है। अपने निरुपाधिक अविकारी स्वभावके विस्मरणमें संसार है और निर्दोष चैतन्यस्वभावके स्मरणसे मुक्तिका स्वामी बनता है, स्वरूप ध्रुव ज्ञायक है, उस ओर परिणामोंको मोड़नेमें किंचित् भी क्लेश नहीं है। ऐसे परिणाम कौन करता है उसका समाधान करते हैं :—

आत्मस्वभावमें जो आनन्दका प्रकाश है उसकी बात संक्षिप्त सूत्रोंके द्वारा कहते हैं। अनादिकालसे यह जीव अविद्यामें (मिथ्यात्वमें) पड़ा है। अपने यथार्थ स्वभावको नहीं सँभालते हुए रागको सँभालता है, इसलिए उसे अविद्या कहा है। अपना ज्ञानानन्दस्वभाव जो अस्तित्ववान वस्तु है उसे चूककर क्षणिक विकारको अपना स्वभाव मान बैठा है। जैसे–सूतमें गाँठ लग जाती है वैसे ही चिदानन्द आनन्दकंदको चूककर पुण्य-पापके परिणामोंके साथ एकत्वकी गाँठ लग गई है। अपने एकत्व स्वभावसे च्युत होकर विकार, व्यवहार एवं विकल्पोंको अपना मानकर उनमें एकत्वकी प्रतीति कर रहा है। जैसे अफीमके व्यसनमें पड़ा हुआ पुरुष बिना अफीमके नहीं रह सकता, क्योंकि उसका नशा चढ़ा रहता है। वास्तवमें तो उसके छूटने पर सुखी हो सकता है, उसे छोड़ देनेमें कोई दुःख नहीं है। अफीमका व्यसनी अफीमची ऐसा मानता है कि मैं बिना अफीमके रह नहीं सकता, इसलिए तलप लगने पर वह अफिम खा ही लेता है। उसीप्रकार यह जीव मोहग्रन्थिसे बँधा हुआ है। आत्मा ज्ञानस्वभावी होने पर भी परसे बँध रहा है। मोहसे छूटनेमें सुख है तथापि छूटता नहीं है, अन्तर्स्वभावकी रुचि नहीं करता। कर्मके कारण रुचि नहीं करता—ऐसा नहीं कहा है।

स्वाश्रित सो निश्चय, पराश्रित सो व्यवहार है। जिसमें विवेक नहीं वह अज्ञानी है। अज्ञानी जीव व्यवहारसे (परसे)धर्म मानते हैं और निश्चय मानने से एकान्त होगा ऐसा कहते हैं। वे मानते हैं कि देवकी पूजासे

सम्यक्त्व, शास्त्रसे ज्ञान और गुरु भक्तिसे चारित्र होता है; परन्तु यह सब तो अज्ञानभाव है। आत्माकी प्रतीतिपूर्वक स्थिरता करे तो चारित्र होता है, गुरु चारित्र नहीं दे देते; गुरुके प्रति राग आता है परन्तु उससे चारित्र नहीं होता। शास्त्रोंके प्रति शुभराग होता है परन्तु शुभरागसे ज्ञान नहीं होता। कोई कहे कि साधकदशामें देव, गुरु और शास्त्रके प्रति शुभराग आता ही नहीं है तो वह भी मिथ्या है, तथापि वह शुभराग आए इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होंगे ऐसा भी नहीं है। शुद्धस्वभावके ओरकी एकाग्रतारूप प्रयत्न करे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो सकते हैं।

अनादिसे पराश्रयकी रुचिके कारण पर्यायमें पुण्य-पापादिभाव हैं, उनके छूटने पर सुख हो ऐसा है, परन्तु अज्ञानी विकारी भावमें सुख मान रहा है। भगवान आत्मा निरुपाधिक स्वभाववान् है और उसकी पर्यायमें दोष अथवा उपाधि है, उन दोनोंके एकत्वकी सन्धि है, उसमें प्रज्ञाछैनी डालकर पृथक् करना ही दुःखके नाशका उपाय है। प्रज्ञाछैनी अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा प्रगट करना वही सुख प्रगट करनेका उपाय है। वह उपाय बतलानेवाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं। वे कहते हैं कि स्वभाव और विभावके साथ एकत्वसंधान हुआ है उसे तोड़कर पर्यायको स्वभावोन्मुख करना है।

श्रीमद् राजचन्द्रजीने भी कहा है :—

''जो जो कारण बंधके, वही बंधका पंथ,
वह कारण छेदक दशा, मोक्ष पंथ भव अंत।''

बंधके कारणोंको छेदना ही मोक्षका पंथ है।

चेतनाके अंशको अपना मानना कि जिसमें जड़ पदार्थ अथवा विकारादिभाव जोकि जड़ हैं उनका प्रवेश नहीं हैं उस स्वभावको अपना माने वह किसप्रकार? सो कहते हैं।

यह जीव परमें अपना स्वरूप मानता है। संयोग और रागादि हों

तो मुझे लाभ हो—ऐसा मानता है। इसप्रकार काम, क्रोध, रागादि, शरीरादिको अपना मानता है। परको अपना मानता है वह भूल है, परन्तु यह जो मान रहा है वह ज्ञानकी दशा–ज्ञानका अंश है, चैतन्यसूर्यकी किरण है। राग-द्वेषकी जो लहर उठती है वह चैतन्यका नहीं परन्तु विकारका अंश है। इसलिए अपने पूर्ण ज्ञानानंद स्वभावकी स्वानुभूतिको जानना चाहिए। पूर्ण ज्ञान ही मैं हूँ, इसप्रकार यथार्थ प्रतीति करके अपनेको जानकर हजारों संत अजर-अमर हुए हैं। यथार्थ प्रतीतिमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं।

स्वोन्मुख हुए बिना किंचित् मात्र साधकदशा नहीं होती।

साधकको व्यवहार होने पर भी उस पर भार नहीं दिया है। ज्ञानी तो स्वभावको देखना कहते हैं। स्वभावको देखकर ही अजर-अमर हुए हैं, व्यवहार करके नहीं।

प्रश्न :—शास्त्रमें श्रावकके छह कर्तव्य देवपूजा, गुरुकी उपासना-भक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान कहे हैं उनका क्या अर्थ ?

समाधान :—वास्तवमें तो धर्मीको अपने पूर्ण वीतराग पदका आदर है, आत्माकी प्रतीति है और बहुमान आने पर देव-गुरु-शास्त्रके प्रति भक्तिभाव आए बिना नहीं रहता। वह भाव ज्ञानीको व्यवहारसे हैं। स्वभावको जाने बिना षट्कर्म व्यर्थ हैं अर्थात् उनको व्यवहार नहीं कहा जाता।

अज्ञानी जीव मानते हैं कि—शुभरागरूप व्यवहारसे आत्माकी प्राप्ति होती है, तो वे व्यवहारको कब छोड़ेंगे? यहाँ कहते हैं संत तो आत्माके निरागस्वभावको जानकर अजर-अमर हुए हैं। कथनमात्रसे उसकी प्राप्ति नहीं होती परन्तु वीर्यको स्वभावोन्मुख करे, अपने चित्तको ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावमें लगाए वह स्वरूपानुभवका विलास है। इसलिए कहा है कि स्वभावका रुचिवान जीव सुखमें प्रविष्ट हुआ है और संयोग तथा रागका रुचिवान दुःखमें पड़ा है।

कोई कहे कि यह तो निश्चयकी बात है, अप्रमत्त गुणस्थानकी बात है। तो कहते हैं कि भाई ! यह बात चौथे गुणस्थानकी है। अल्पसे अल्प सत्यधर्मका प्रारम्भ कैसे होता है उसकी यह बात है। अज्ञानको हटाकर ज्ञान प्रगट करनेकी बात है। अज्ञानी अनादिसे शुभभाव तो करता आया है, उसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

संत पुरुष चित्तको अपने स्वभावमें केलि कराते हैं—वह कैसे ? सो कहते हैं।

संत पुरुष निरन्तर अपने स्वभावकी भावनामें अर्थात् एकाग्रतामें मग्न रहते हैं; वे अनुभवपूर्वक आत्माको दर्शाते हैं। चेतनाका प्रकाश व्यक्तपर्यायमें आता है उसे अपने स्वभावमें दृढ़ करते हैं। ज्ञाता-द्रष्टा प्रकाश अपना है। जहाँ विकार है वहाँ ज्ञानका प्रकाश भी है; ज्ञानप्रकाश न हो तो विकार जाननेमें नही आएगा। इसलिए नित्य ज्ञानप्रकाशको पकड़कर अपनेमें दृढ़ होते हैं। विकार के समय ज्ञान नहीं हो तो विकारको जानेगा कौन ? मुझे दया आ गई, भक्तिका भाव आ गया—ऐसा ज्ञानमें ज्ञात हुआ वह उपयोग है। चैतन्यस्वभावका अनुसरण करके होनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं; राग या विकारका अनुसरण करके वे परिणाम नहीं होते। रागरहित स्वभावका अनुसरण करके होनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं; उस उपयोग द्वारा अन्तर्मुख हुआ जाता है। दया-दानादिके भाव अथवा व्यवहार वह अन्तरमें प्रविष्ट होनेका द्वार नहीं है। ज्ञानानन्द भगवानकी जो ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था है उसके द्वारा दृढ़ चिंतवन करे तो चित्परिणति निजस्वरूपमें परिणमित होने पर स्वरूपरस प्राप्त होता है; स्वभावमें स्थिरता होने पर आनन्दका अनुभव होता है।

द्रव्य-गुण-पर्यायका यथार्थरूपसे अनुभव करना वही अनुभव है। यहाँ अपेक्षासे कथन है। द्रव्य, गुण और पर्यायका यथार्थ ज्ञान होना वही अनुभव है। द्रव्य अनन्त शक्तिका पिण्ड है, गुण त्रैकालिक शक्तियाँ हैं, उनमें अनुभव नहीं होता परन्तु पर्यायमें अनुभव होता है, ज्ञानपर्याय जान लेती है। पर्याय द्रव्यको जानती है वह बराबर है परन्तु एक समयकी पर्यायके

अनुभवमें सम्पूर्ण द्रव्यका अनुभव नहीं आ जाता। ज्ञानकी पर्यायमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ज्ञात होते हैं परन्तु वेदन तीनोंमें नहीं होता, वेदन तो पर्यायमें होता है। पर्याय पर्यायको जानती है तथा गुण और गुणवानको जानती है, इसलिए ऐसा कहा है कि—द्रव्य-गुण-पर्यायको अनुभवना अर्थात् वहाँ इन तीनोंका ज्ञान होता है।

जितने अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, मुनि हुए वे इसी अनुभवसे हुए हैं और होंगे। द्रव्य-गुण-पर्यायका अर्थ कहते हैं। उसका भाव अर्थात् स्वरूप उसे यथावत् जानना सो यथार्थ ज्ञान है। जहाँ सच्चा ज्ञान हो वहाँ आत्माका अनुभव होता है, परन्तु अयथार्थ ज्ञानमें यथार्थ वेदन नहीं हो सकता। उस द्रव्य-गुण-पर्यायके अनुभवसे पंच परमगुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठी हुए हैं और होंगे। वे आत्मानुभव द्वारा हुए हैं।

प्रश्न :—तब फिर व्यवहार किसी भी प्रकारका हो, उसमें कुदेवादिकी श्रद्धा हो तो कोई बाधा आएँगी ?

समाधान :—अपने ज्ञानस्वभावकी पर्याय स्व-पर प्रकाशक है, उसमें देव-गुरु-शास्त्रादि यथार्थ निमित्तोंका ज्ञान आ जाता है। कुदेवादिकी श्रद्धाका व्यवहार धर्मीको नहीं होता। झूठका आदर-विनय करे ऐसा ज्ञान तो मिथ्याज्ञानमें होता है।

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य-गुण-पर्यायके अनुभवसे पंच परमगुरु हुए हैं; किसी निमित्त या व्यवहारके अवलम्बनसे पंचपरमेष्ठी हुए हैं—ऐसा नहीं है; वह सब प्रभाव अनुभवका है। व्यवहार निमित्त होता है परन्तु उसका प्रभाव नहीं है। ज्ञानमें आ गया है कि धर्म प्राप्त करनेवालेको सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही निमित्त होते हैं।

तथा अरिहंत और सिद्ध भगवान भी अपने ज्ञान एवं आनन्दका सेवन करते हैं वही आचरण है। दर्पणमें वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं वैसे ही चैतन्य-दर्पणमें स्व-परप्रकाशक ज्ञानका उदय हो गया है अर्थात् वह अनुभवका ही सेवन करता है और उस अनुभवमें अनन्तगुणोंके सर्वरस आते हैं—वह यहाँ कहते हैं।

ज्ञानका प्रगट प्रकाश अनन्त गुणोंको जानता है। यहाँ अरिहंत, सिद्धकी बात है। अल्पज्ञ अपने प्रमाणमें जानता है; भगवानकी ज्ञानकी दशा अनन्त गुणोंको जानती है परन्तु वे अनन्त गुण ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं हो जाते। तथा ज्ञान सविकल्प है, साकार है। स्व-परको जानना उसे साकार, सविकल्प अथवा ज्ञान विशेष कहते हैं। उस ज्ञानकी अवस्थारूपसे परिणमित होता है, वेदन करता है और उसका आस्वादन करता है। ज्ञानगुणकी पर्यायमें आत्माके सर्व गुणोंका स्वाद आ जाता है, वहाँ अनुपमेय आनन्द उत्पन्न होता है।

उसी प्रकार दर्शनगुण त्रिकाल है, उसकी वर्तमान अवस्थाको ज्ञान जाने, उसका आस्वाद करे और सुखरूप फल उत्पन्न हो वहाँ राग या उपाधि फलरूप नहीं है। ऐसे सर्व गुणोंकी अवस्था होती है उसे ज्ञान जानता है वेदन करता है और स्वाद लेता है। इसप्रकार अखण्डित अनन्त एवं अनुपम रस उत्पन्न होता है। ज्ञानकी परिणतिमें अनन्त गुणोंका वेदन किया और जाना, इसलिए सर्वगुणोंका रस, पर्याय द्वारा अनुभवमें आता है। उसी प्रकार द्रव्यरूप परिणमे अर्थात् उसका वेदन करे, आस्वादन करे और आनन्द प्राप्त करे तब परिणति द्वारा द्रव्यका अनुभव हुआ।

प्रवचन–३

(पौष कृष्णा ८, मंगलवार, दि. ९-१२-५२)

यह अनुभवप्रकाश ग्रन्थ है। अंतर्परिणति द्वारा आत्मानुभव होने को अनुभवप्रकाश कहते हैं। पर्यायमें जो विकार है उसके अवलम्बनसे आत्माका अनुभव नहीं होता, परन्तु पर्यायको अन्तर्मुख करनेसे आत्मानुभव होता है। अनुभव कहो या मोक्षमार्ग कहो दोनों एक ही हैं। जिस पर्यायकी रागमें एकाग्रता थी उस पर्यायका स्वभावमें एकत्व होने पर निजानन्द प्रगट होता है। गुणोंमें एकता होने पर मोक्षमार्गदशा प्रगट होती है। प्रथम तो स्वरूपको ध्यानमें लेना चाहिए। शिष्य जब श्रवण करता है तब विकल्प वर्तता है, गुरुके ऊपर लक्ष जाता है। वह व्यवहार भले हो, परन्तु आत्माका अनुभव तो अन्तर्मुख होने पर होता है। यह एक ही मार्ग है, अन्य मार्ग नहीं है। अपनी ज्ञानदशा स्वभावोन्मुख हो तो आनन्दका अनुभव होता है। आत्मामें अनन्तगुण हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन करते हैं। आत्मा है तो उनकी शक्तियाँ हैं या नहीं ?—हैं; उनकी वर्तमान दशा है या नहीं ? जो वर्तमान अवस्था होती है उसे स्वभावोन्मुख करना ही धर्म है।

अनन्त गुणोंका पिण्ड प्रभु चेतनाका पुंज है। उसमें ज्ञाता द्रष्टा गुणोंके साथ अनन्तगुण हैं; उन सबको अभेद गिनकर चेतनाका पुंज कह दिया है। दशाको अन्तरोन्मुख करना वह धर्म है, पुण्य-पापमें लगे रहना वह संसारका कारण है।

श्री समयसारमें सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमें ४७ शक्तियोंका वर्णन आया है, उसका अन्य रीतिसे यहाँ वर्णन करते हैं। यह विधि समझनेसे शुभराग आए उसे पुण्य समझना, परन्तु जो विधिको नहीं समझते उन्हें तो धर्म होता ही नहीं। हलुवा बनानेवालेको उसकी विधि सीखनी चाहिए। विधिपूर्वक नहीं बनाए तो लूपरी भी नहीं बनेगी।

चैतन्यवस्तुकी प्रतीतिके बिना समस्त पुण्य-पाप व्यर्थ हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रके प्रति बहुमान आए बिना नहीं रहता, तथापि उसे जानकर चिदानन्द आत्माकी परिणति ग्रहण करे तो कल्याण हो सकता है—यही वस्तुका स्वरूप है। अब, गुणोंका वर्णन करते हैं।

(१) **ज्ञानगुण** :—आत्मामें ज्ञानगुण मुख्य है। (उसमें अनन्त गुण हैं उन्हें जाननेको कहते हैं।) ज्ञानगुण प्रधान है, वह स्व-परको जाननेकी शक्तिवाला है। ज्ञान परको राग-द्वेषादिको तथा अन्य गुणोंको जाननेकी शक्ति रखता है, इसलिए ज्ञान विशेष चेतना है, उस ज्ञानकी परिणतिमें अनन्त शक्तियोंका ख्याल आ जाता है। किसी दूसरे गाँव जानेवालेको पहले उसकी दिशा जानना चाहिए। दिशा और मार्गको जाने बिना निश्चित स्थान पर नहीं पहुँचा जा सकता; वैसे ही आत्मामें पुण्य-पापके भावोंसे नहीं पहुँचा जाता। ज्ञानसे पहुँचा जा सकता है। आत्मा कौन है उसकी सच्ची दिशा समझ ले तो उसमें पहुँचा जाए। यहाँ ज्ञानगुणको सर्वका ज्ञाता होनेके कारण पहले लिया है।

(२) **सूक्ष्मगुण** :—यदि सूक्ष्मगुण न होता तो आत्मा इन्द्रियग्राह्य हो जाता; परन्तु आत्मा सूक्ष्म है इसलिए अतीन्द्रियग्राह्य है। शरीर रूपी स्थूल है और आत्माअरुपी सूक्ष्म है, इसलिए वह शरीर एवं इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता। आत्माके सर्वगुण सूक्ष्म हैं; पुण्य-पाप सूक्ष्म नहीं हैं। शरीर, मन, वाणी स्थूल हैं, दया-दानादि विकारीभाव भी स्थूल हैं। आत्मवस्तु सूक्ष्म है, इसलिए वह ज्ञान द्वारा ग्रहण होता है–पकडा जाता है। सूक्ष्मता द्वारा ज्ञानकी सिद्धि है।

(३) **सत्तागुण** :—जो सत्ता अर्थात् अस्तित्वगुण–होनेरूप स्थायित्वरूप नामका गुण न हो तो सूक्ष्म शाश्वत नहीं रहता। ज्ञान ख्यालमें आता है वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है, इसलिए सूक्ष्म है, और सत्तागुण नहीं हो तो सूक्ष्मता शाश्वत नहीं होती। स्थायित्वका भाव नहीं होता तो सूक्ष्मत्व टिका नहीं रहता और ज्ञान भी नित्य नहीं रहता।

आत्मामें अनन्त गुण हैं, उनकी पहिचान कराते हैं। उन गुणोंकी

पर्याय गुणीमें एकरूप हो तो धर्म हो। उनमेंसे एक भी गुण कम माने तो वस्तु सिद्ध नहीं होगी।

(४) **वीर्यगुण :**—स्वभावकी रचना करे वह वीर्यगुण है, पुरुषार्थ उसकी पर्याय है। यदि वीर्यगुण नहीं होता तो सत्ताका रहना भी नहीं हो पाता और उसकी प्राप्ति भी नहीं होती। वीर्य नहीं होता तो ज्ञान एवं सूक्ष्मके सामर्थ्यकी प्राप्ति नहीं होती। वीर्यसे सत्ताके सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है और सत्तासे सूक्ष्मताकी प्राप्ति तथा सूक्ष्मतासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

स्वभावकी रचना करे वह वीर्य है। अनन्तगुणोंके सामर्थ्यकी रचना करे वह वीर्य है। वीर्यगुणके बिना सत्ताका सामर्थ्य, सूक्ष्मका सामर्थ्य तथा ज्ञानका सामर्थ्य ख्यालमें नहीं आता। सर्व गुणोंमें वीर्य निमित्त है।

(५) **अगुरुलघुत्वगुण :**—आत्मामें अगुरुलघुत्वगुण है, उसके कारण प्रत्येक गुण अपनी सीमाका उल्लंघन नहीं करता। वीर्य अधिक नहीं होता और कम नहीं होता; यदि गुणकी मर्यादा न रहे तो आत्मा जड़ हो जाए। अगुरुलघुत्वगुण मध्यस्थ रखता है।

अगुरुलघुत्वगुणसे आत्मा हलका-भारी नहीं होता, इसलिए आत्मा कदापि जड़ता को प्राप्त नहीं होता। हीन परिणति हो तो वह भी सीमा तक होती है और उत्कृष्ट परिणति हो तो वह भी एक सीमा तक ही होती है। इस गुणसे गुणोंका अभाव नहीं होता और गुण अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते। प्रत्येक गुणका भी ऐसा स्वभाव है; उसमें अगुरुलघुत्वगुण निमित्त है।

(६) **प्रमेयत्वगुण :**—आत्मामें किसी न किसी ज्ञानका विषय होनेरूप प्रमेयत्व गुण है, इसलिए आत्मा ज्ञानके मापमें आ जाता है। यदि प्रमेयत्व गुण नहीं होता तो गुण ज्ञानके मापमें नहीं आते, अर्थात् जाननेमें नहीं होते। ज्ञान प्रमाण है। प्रमेयत्वगुण नहीं होता तो प्रमाण किसका करते? आत्माके अनन्तगुणोंमेंसे एक गुण भी कम जाने तो आत्माका ज्ञान अल्प साबित हो और यथार्थ अनुभव नहीं होगा। जैसे कपड़े सिलवानेके लिए माप-प्रमाण—देते हैं, उसी प्रकार यहाँ ज्ञान प्रमाण है

और ज्ञेय ज्ञानके मापमें आने योग्य हैं। ज्ञान प्रमाण और प्रमेय दोनों है और अन्य समस्त गुण प्रमेय अर्थात् ज्ञानके मापमें आने योग्य हैं। सत्ता, वीर्य, सूक्ष्म आदि गुण प्रमेय होनेसे ज्ञानमें ज्ञात होते हैं; ज्ञान माप करता है अन्य गुण मापमें आने योग्य हैं।

(७) **वस्तुत्वगुण :**—आत्मामें वस्तुत्वगुण है. उसमें गुण-पर्यायका वास (निवास) है। वस्तुकी प्रयोजनभूत क्रिया न होती तो प्रमाण किसका करते ? खरगोशके सींग, कछुएके बाल हैं ही नहीं तो वे कैसे रंगके होंगे या कैसे होंगे ? वह तो बात ही नहीं रहती। जो वस्तु हो उसका प्रमाण होता है और उसकी प्रयोजनभूत क्रिया होती है। आत्मामें वस्तुत्व नामका गुण न हो तो किसका प्रमाण रहता ? आत्माकी वस्तु आत्मामें है और परकी वस्तु परमें है। लोग कहते हैं कि वस्तु खो गई; परन्तु भाई तेरी वस्तु तो तुझमें है—ज्ञान, सूक्ष्म, वीर्यादि गुण वस्तु हैं।

(८) **अस्तित्वगुण :**—अस्तित्वगुण नहीं होता तो यह वस्तुत्व किसके आधारसे कहा जाता ?

(९) **प्रदेशत्वगुण :**—द्रव्य हो उसमें स्वक्षेत्र(आकार) बतलानेवाला प्रदेशत्व नामका गुण होता ही है। प्रदेशत्वके बिना आकार किसका ? और आकारके बिना वस्तु कैसी ? आत्मा असंख्यप्रदेशी है वह इसी गुणके कारण है। कोई आत्माको परमाणु जितना कहते हैं तो कोई व्यापक कहते हैं, वह बातें मिथ्या हैं। आत्मा मध्यम परिमाणवाला है, लोकालोक जितना नहीं है वैसे ही एक परमाणुमें आ जाए इतना भी नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि मृत्युके पश्चात् आत्मा अनंतमें मिल जाता है, वह बात मिथ्या है। आत्मा अपने असंख्य प्रदेशमें रहता है। सिद्धदशामें प्रत्येक आत्माका अपना अस्तित्व भिन्न है। निगोदमें एक-एक शरीरमें अनन्त जीव होने पर भी प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न असंख्य प्रदेशी है; प्रत्येककी सत्ता भिन्न-भिन्न है वह प्रदेशत्वगुणके कारण है। ज्योतिमें ज्योत नहीं मिलती।

(१०) **प्रभुत्वगुण :**—प्रभुत्वशक्ति द्रव्य–गुण–पर्यायमें व्याप्त है।

आत्मा अपनी प्रभुतासे स्थित है, दूसरेके आधारसे अवस्थित नहीं रहता। अज्ञानी अनादिसे अपनेको रंक मानता है। सेठके आश्रय बिना, कुटुम्बके बिना हमारा निर्वाह नहीं हो सकता—ऐसा कहता है। यहाँ कहते हैं कि तुझमें प्रभुता भरी है उसका ज्ञान करना वह पुरुषार्थ है। ज्ञानकी प्रभुता, सत्ताकी प्रभुता, आनन्दकी प्रभुता—सबकी प्रभुता अपने-अपने पास है। भगवानकी प्रभुताके कारण अपनेमें प्रभुता नहीं आती, तथा कर्म हटे तो प्रभुता प्रगट हो ऐसा भी नहीं है। प्रभुता त्रिकाल विद्यमान है उसकी प्रतीति करे तो प्रगट हो। यदि प्रभुता न हो तो उसके असंख्य प्रदेश-न्यूनाधिक हो जाए और उसकी प्रदेश प्रभुता कहाँसे रहे? अपनी प्रभुता अपनेमें विद्यमान है–ऐसा निर्णय करे तो रंकपना मिट जाए।

सहज चिदानंद.

प्रवचन–४

(पौष कृष्णा ९, बुधवार, दि. १०-१२-५२)

आत्मा चेतना आदि अनन्त गुणोंके पुंजरूप वस्तु है। उन गुणोंकी परिणति अपनेमें एकाग्र हो तो उसका नाम ''अनुभवप्रकाश'' है। स्वमें एकत्व प्राप्त करे और रागसे विभक्त हो उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। अनुभवका प्रकाश वही क्रिया है। पर्यायके परिवर्तनको क्रिया कहते हैं। परका लक्ष छोड़कर स्वभावका लक्ष करे वह धर्मकी क्रिया है। जो रागादिकी क्रिया होती है वह तो मोक्षकी कैंची है; वस्तुस्वभावमें अन्तर्मुख होनेसे धर्म होता है। साधकको शुभाशुभभाव होते हैं परन्तु वे बन्धके कारण हैं। स्वभावकी प्रतीतिवानको तीव्र अशुभभाव नहीं होते।

कोई जीव एक ही द्रव्य कहते हैं, कोई एक ही गुण कहते हैं, कोई पर्यायको नहीं मानते, कोई गुणको उपचार मानते हैं तो वे सब मिथ्या हैं? प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, आत्मा चेतना आदि गुणोंका पुंज है; उस ओर दृष्टि लगाना वह धर्म है।

दस शक्तियोंकी बात हुई। अपनी प्रभुता अपनेमें न हो तो वस्तु खण्डित हो जाए। अपनी प्रभुताका स्मरण न करके राग और संयोगको प्रभुता दे वह रंक होकर भटकेगा। शरीर, मन, वाणी अनुकूल हैं, ऐसा मानकर उन्हें बड़प्पन देता है वह कायर है; उसे प्रभुत्वशक्तिकी खबर नहीं है।

(११) **विभुत्वगुण :**—यदि विभुत्व नहीं होता तो सर्वमें प्रभुत्व कैसे व्याप्त होता? ज्ञानगुणकी प्रभुता, सूक्ष्मकी प्रभुता,—इसप्रकार प्रत्येककी प्रभुता विभुत्वके कारण है। कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा लोकालोकमें व्याप्त है, इसलिए वह विभु है, परन्तु वह बात मिथ्या है। आत्मा तो स्वक्षेत्रमें व्याप्त सदा असंख्यप्रदेशी है, उसमें विभुत्वगुण है।

आगे बात आएँगी कि–अज्ञानी शुभाशुभ विकारादि मेरे हैं—ऐसा

चिंतवन करता रहता है। परमें आनन्द है ऐसी कल्पना करता है, परन्तु चैतन्यकी प्रतीति नहीं करता।

पृ. ३७ में कहा है कि ''अविद्या जड़ छोटी शक्तिसे तेरी महान शक्तिका नाश न हो जाए। तेरी शुद्ध शक्ति भी बड़ी, तेरी अशुद्ध शक्ति भी बड़ी, तेरा चिंतवन भी तेरे गले पड़ा और इसलिए परको देखकर आत्माको भूल गया। वह अविद्या भी तेरी ही फैलाईं हुई है। तू अविद्यारूपी कर्ममें न पड़कर स्वको न लगाए तो जड़का कोई जोर नहीं है, तेरी शक्ति अपरम्पार है।'' अज्ञानीने जड़का हाथ पकड़ रखा है; उस कल्पनामें दुःख है यह तो चैतन्यपिण्ड अनन्त शक्तियोंका पुंज है, उसकी उसे खबर नहीं है।

आत्मामें प्रत्येक गुणकी प्रभुता है; उसे चूककर अप्रभुता करे तो वह अपनेसे होती है, परके कारण नहीं। अपनी कल्पनासे निजघरको भूल गया है और परघरमें भटक रहा है; अन्तर्मुख दृष्टि छोड़ दी है वह अपनी भूल है। विभुत्व गुण सबमें व्यापक है, विभुत्वके बिना समस्त गुण एक साथ कैसे रहेंगे ?

(१२) **जीवत्वगुण :**—चैतन्यप्राणको टिका रखनेवाला जीवत्वगुण नहीं होता तो विभुत्व अजीव होता अर्थात् आत्मा जड़ हो जाता। जीव चैतन्यप्राणसे जीता है; शरीर, मन, वाणी या पुण्य-पापसे जीवित नहीं है। विकारादि भाव भिन्न-भिन्न होते हैं, शरीरादिकी अवस्था भिन्न-भिन्न होती है, परन्तु चैतन्यप्राण सदा एकरूप है, उससे जीव जीवित है।

जड़ पदार्थोंको सुख-दुःख नहीं है; सुख-दुःख चैतन्यमें दिखाई देते हैं। जड़में विभावस्वभाव है ऐसा जीव जानता है, अन्य जीवमें सुख-दुःख होते हैं ऐसा जीव जानता है। प्रत्येक परमाणु पृथक् द्रव्य-गुण-पर्यायसे शुद्ध है; उसकी अर्थपर्याय और व्यजंनपर्याय दोनों शुद्ध हैं, इसलिए उसमें सुख है—ऐसा नहीं है, तथा अचेत महास्कंध है इसलिए दुःखी है—ऐसा भी नहीं है। उसमें सुख-दुःख नहीं है, जीवमें सुख-दुःख है, जीव अपने चैतन्यप्राणसे सदैव जीवित है।

(१३) **चेतनागुण** :—चेतनाके बिना जीवत्व कहाँ प्रवर्तता? जीवमें चेतनागुणके कारण जीवत्व वर्त रहा है।

(१४) **ज्ञानगुण** :—आत्मामें ज्ञानगुण नहीं होता तो चेतनके विशेष भेदोंको जानना नहीं बनता; इसलिए आत्मामें ज्ञानगुण है।

(१५) **दर्शनगुण** :—दर्शन सामान्यको देखता है। गुण–पर्यायका सामान्य एकत्व और गुण तथा पर्याय–ऐसे विशेष अथवा भेद ज्ञानके बिना नहीं होते। अभेद से देखना वह दर्शन है, भेदसे जानना वह ज्ञान है। गुण और पर्यायके भेद करके जानना वह ज्ञानका कार्य है, तथा अभेद देखना वह दर्शनका कार्य है। इसप्रकार दर्शनके बिना सामान्य और विशेष ज्ञानके बिना नहीं दिखते।

(१६) **सर्वज्ञता** :—आत्मामें सर्वज्ञशक्ति है; वह न होती तो दर्शनको कौन जानता? और सर्वको कौन जानता? आत्मामें सर्वज्ञता नामका गुण है; उसकी प्रतीतिपूर्वक लीनता करनेसे सर्वज्ञता प्रगट होती है।

(१७) **सर्वदर्शित्व** :—आत्मामें सर्वदर्शित्वशक्ति है; उसके बिना ज्ञानको कौन जानता? अभेदरूपसे कौन देखता? जानना–देखना परके कारण नहीं है परन्तु अपने कारण है। आत्मवस्तु है वह जाने-देखे बिना नहीं रहती। अल्पज्ञता है वह अपने प्रमादसे है; परन्तु अपनेमें सर्वज्ञत्व एवं सर्वदर्शित्व शक्ति परिपूर्ण विद्यमान है। सहस्त्रपुटी अभ्रकमें वैसी शक्ति है, इसलिए वह प्रगट होती है, वह शक्ति अनादिसे है, वह अग्निके तापको झेले ऐसी है; उसी प्रकार भगवान आत्माको अमुक काल तक एकाग्रताकी आँच दे तो सर्वदर्शित्व एवं सर्वज्ञत्वशक्ति प्रगट हो और संसाररूपी वृक्षका नाश हो। रागमें एकाग्रतासे संसार है और चिद्रूपस्वभावमें एकाग्रता करे तो यह शक्ति प्रगट होती है। ज्ञानावरणीय कर्म टले तो सर्वज्ञपना प्रगट हो और दर्शनावरणीय कर्म टले तो सर्वदर्शीपना प्रगट हो ऐसा नहीं है। अपने नित्य पूर्ण स्वभावकी ओर देखना है। अज्ञानी जीव लैंडी पीपरकी शक्तिका तथा अभ्रककी शक्तिका

विश्वास करते हैं परन्तु अपने ध्रुवस्वभावका विश्वास नहीं करते। प्रत्येक आत्मामें त्रिकाल ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं। प्रतीति, ज्ञान एवं चारित्र द्वारा वे प्रगट होती हैं।

(१८) **चारित्रगुण** :—स्वभावमें चरना (विचरण करना) सो चारित्र। आत्मामें अकषायरस त्रिकाल है; वह चारित्रगुण न हो तो दर्शन-ज्ञान स्थिर नहीं रह पाते। दर्शन तथा ज्ञानकी अवस्था स्थिर रही है इसलिए चारित्रगुण है। रागसे चारित्र नहीं आता, आत्माके अवलम्बनसे चारित्रदशा प्रगट होती है । प्रत्येक गुणका अपना चारित्र होता है।

(१९) **परिणामीपना** :—आत्मामें परिवर्तित होनेका गुण है। यदि आत्मामें वह गुण न हो तो चैतन्यका आनन्द नहीं आएगा; अकेले ध्रुवमें आनन्दका अनुभव नहीं होता। भगवान आत्माका चेतनास्वभाव बदले तो ज्ञानका विकास करे। आटा यदि बदलता न हो तो रोटी आदि नहीं बन सकते; जड़में परिणमन नहीं हो तो स्वादमें परिवर्तन नहीं होता; वैसे ही आत्मामें परिणमन नहीं हो तो ज्ञानका आनन्द नहीं आता, इसलिए आत्मामें परिणामीपना है।

(२०) **अकारणकार्यत्व** :—जीव परका कारण नहीं है, वैसे ही परका कार्य नहीं है। यदि आत्मामें परका करनेकी शक्ति होती अथवा परसे अपनेमें कार्य होता तो निजकार्यका अभाव होता। स्वतंत्र आत्मा परके कारण रहित है, परके कार्यसे रहित है। लक्ष्मीकी अवस्थाका कारण आत्मा नहीं है, कर्मका कारण आत्मा नहीं है, तथा कर्मके कारण आत्मामें कार्य नहीं होता। परका कार्य करने जाएँगा तो अपना कार्य नहीं होगा। परका मैं कारण नहीं हूँ, वैसे ही पर मुझमें कोई कार्य नहीं करते,—ऐसा अनादिसे आत्माका स्वभाव है। परका कार्य करे ऐसा कारण आत्मामें नहीं है और पर आत्मामें कार्य करे ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है। शरीरको चलानेके कारणरूप आत्मा हो तो अपना कार्य नहीं होगा। इसलिए आत्मामें अकारण कार्यत्वशक्ति है। परमें आत्माका अधिकार नहीं है। जड़का कार्य उसके अपने से होता है उसमें आत्मा कारण नहीं

है। परवस्तु आत्माका कार्य कर दे तो आत्मा निष्क्रिय सिद्ध हो–गुण रहित साबित हो, परन्तु आत्मा नित्य अपने कारण-कार्यसे परिपूर्ण ही है; आत्मामें अकारणकार्यत्वगुण न हो तो अपनी पर्यायमें कार्यरहित हो जाये।

(२१) **असंकुचितविकासत्व गुण** :—इस शक्तिके बिना चेतनाका विकास संकोचमें आ जाता। आत्मामें कभी भी संकोच नहीं होता। अनादिकालसे बहुत विकार किया तथापि शक्ति तो ज्योंकी त्यों विद्यमान है उसकी श्रद्धा करे तो विकास प्राप्त करे। चिदानंद आत्मामें अनन्तगुणोंका संकोच नहीं है, क्षेत्रसे संकोच नहीं है। एक प्रदेश भी कम नहीं होता, एक गुण भी कम नहीं होता। निगोदमें हो या सिद्ध दशामें हो तथापि असंकुचितत्व गुणके कारण स्वभाव संकोचको प्राप्त नहीं होता।

(२२) **त्याग-उपादान शून्यत्व** :—आत्मामें परका त्याग सदैव है, उसमें परको ग्रहण करना या छोड़ना त्रिकालमें नहीं है। आत्मा कर्मको —पर्याय अपेक्षासे ग्रहण करे या छोड़े ऐसा स्वभाव हो तो कभी संसारका अन्त न हो। त्रैकालिकस्वभाव वास्तवमें राग-द्वेषको भी ग्रहण नहीं करता और न छोड़ता है। पर्यायमें—व्यवहारसे राग-द्वेषका ग्रहण-त्याग है, परन्तु त्रैकालिक स्वभावमें वह नहीं है। स्वभावमें एकाग्र होने पर रागका त्याग हुआ ऐसा कहना वह उपचारमात्र है। जो जिसका हो वह नहीं छूटता। यदि राग वास्तवमें जीवका स्वभाव हो तो वह कभी छूटेगा नहीं। वर्तमान एक समयकी पर्यायमें राग-द्वेष होते हैं और छूटते हैं। रागादिको जीवका कहना वह कथन व्यवहारसे है। जब स्वभावमें राग-द्वेषका ग्रहण-त्याग नहीं है तब फिर पर पदार्थके ग्रहण-त्याग कैसे होंगे ?—नहीं हो सकते! अनेक लोग जैनधर्मको त्यागप्रधान कहते हैं वह बात सच नहीं है। ममत्वका तथा राग-द्वेषका त्याग भी नाममात्र है। आत्माके शुद्धस्वभावके आश्रयसे धर्म होता है। यह जैनधर्म है, इसलिए स्वभावप्रधान है।

जो जीव निमित्तमें और विकारमें सर्वस्व मानता हो उसे स्वभावबुद्धि कभी नहीं हो सकती! तथा परपदार्थ को दूर कर सकता हूँ—ऐसा

मानना वह भूल है। पर पदार्थ तो उसके अपने कारण छूटता है परन्तु वह छूटे इसलिए वीतरागतामें वृद्धि हो ऐसा भी नहीं है। अपने स्वभावके आश्रयसे वीतरागता बढ़ती है—ऐसी स्वतंत्र बात समझना चाहिए।

(२३) **अकर्तृत्वगुण** :—यदि आत्मा वास्तवमें विकारका कर्ता हो तो आत्मा और विकार तन्मय हो जाए और तब विकारी परिणमन दूर नहीं होता। आत्मा परका तथा विकारका अकर्ता है। (अकर्तृत्वकके बिना कर्मका कर्ता होता—ऐसा बतलाकर अकर्तृत्वगुण सिद्ध किया है।)

(२४) **अभोक्तृत्वगुण** :—आत्मामें अभोक्तास्वभाव है। यदि वह न हो तो आत्मा सदा पुण्य-पापको ही भोगता रहता, कभी आनंदका भोग नहीं कर पाता। आत्मा कभी जड़को नहीं भोगता। अज्ञानी शरीरका सौन्दर्य देखकर उसको भोगनेकी कल्पना करता है। आत्मा अरूपी है, जड़ पदार्थरूपी है; दोनोंके बीच अत्यंतअभाव है, इसलिए जड़को आत्मा कभी भोगता नहीं है। पर वस्तुएँ ज्ञानमें निमित्त हैं, ज्ञानका विषय हैं; इसलिए ज्ञानके निमित्तको भी ज्ञान कहते हैं। सम्पूर्ण जगत ज्ञान है, एकमेक है इसलिए नहीं किन्तु ज्ञानका विषय है इसलिए कहा। यह पुस्तक, यह जीवादि ज्ञानमें निमित्त हैं। ज्ञान अपना है अपनेको जानता है, परन्तु परको जानता है ऐसा कहना वह व्यवहार है। ज्ञानमें ज्ञेय निमित्त है, इसलिए परको ज्ञान कह दिया है। वास्तवमें पर कहीं ज्ञान नहीं है; स्वयं ही ज्ञान स्वरूप है।

प्रवचन–५

पौष कृष्णा १०, गुरुवार, दि. ११-१२-५२

आत्मामें अनन्त गुण हैं उनकी बात चल रही है। कोई आत्माको एकान्त अद्वैत कहे अथवा गुण-पर्याय नहीं हैं ऐसा कहे तो उसके परिहार हेतु आत्माके सर्व गुणोंकी बात करते हैं। आत्मामें अभोक्तृत्व नामक गुण है, उसके कारण आत्मा विकारका अभोक्ता है।

(२५) **असाधारण :**—आत्मा परसे साधारण नहीं है किन्तु असाधारण है। सबमें विभक्त हो जाए ऐसा नहीं है। असाधारण न हो तो जड़ और चेतन दोनों एक हो जाते, असाधारण गुणके कारण जीव अन्य पदार्थोंसे भिन्न होता है।

(२६) **साधारण :**—आत्मामें साधारण गुण है। सत्‌की अपेक्षासे जैसे धर्म है, अधर्म है, पुद्‌गल है वैसे आत्मा भी है। इसप्रकार 'है' की अपेक्षासे आत्मा सत् है।

(२७) **तत्त्व :**—अपना तत्त्व अपनेसे है। अपना तत्त्व अपनेमें नहीं होता तो वस्तु स्वरूप धारण नहीं कर सकती।

(२८) **अतत्त्व :**—अतत्त्व नामक गुण है। वह न हो तो दूसरे तत्त्व अपनेमें आ जाते। शरीर, कर्म आदिका तत्त्व अपनेमें नहीं आता।

(२९) **भाव :**—आत्मामें भाव नामका गुण है। वह न हो तो स्वभावका अभाव होता। भावगुणके कारण जीवका अस्तित्व है।

(३०) **भावभाव :**–भावभाव नामका गुण न हो तो भूतकालका भाव भविष्यकालमें नहीं रहता। जो भाव था वह वर्तमानमें है और भविष्यमें रहेगा। भाव है वह भाव है।

(३१) **भावाभाव :**—भावाभावके बिना परिणमन समयमात्र संभवित नहीं होता। वर्तमान पर्याय है वह भाव है और उसका दूसरे

समयमें अभाव होता है। वैसा गुण नहीं होता तो आत्मामें परिणमन नहीं रहता। प्रत्येक समयके परिणमनका दूसरे समयमें अभाव होता है। गुण आत्मामें है। यह गुण न हो तो प्रतिसमयका परिणमन सिद्ध नहीं होगा।

(३२) **अभावभाव :—**भविष्यकालकी पर्यायका वर्तमानमें अभाव है परन्तु भविष्यमें उसका भाव होगा, इसलिए अभावभाव गुण है। यदि वह न हो तो भावी परिणमन नहीं आता।

(३३) **अभाव :—**कर्मका आत्मामें तीनों काल अभाव है। यदि अभाव न हो तो कर्मका सद्भाव सदैव बना रहता। कर्मकी भाँति शरीर, मन, वाणी–सबका आत्मामें तीनों काल अभाव है। संसारमें कर्मका सम्बन्ध पर्यायके साथ निमित्त-नैमित्तिकरूपसे है, परन्तु त्रैकालिक स्वभावमें कर्मका अत्यन्त अभाव है।

(३४) **सर्वथा अभाव अभाव :—**आत्मामें अभाव अभाव गुण है। कर्मका वर्तमानमें आत्मामें अभाव है, परन्तु भविष्यमें कदाचित् भाव हो तो ? परन्तु ऐसा नहीं होता। तीनोंकाल आत्मामें कर्मका अभाव है।

लोग कहते हैं कि कर्म हैरान करते हैं, परन्तु यह बात मिथ्या है। स्वयं परिभ्रमण करे तो कर्मका निमित्त कहा जाता है और कर्मके निमित्तसे बाह्य संयोग प्राप्त होते हैं, परन्तु कर्मोंका आत्मामें तीनोंकाल अभाव है। यह गुण न हो तो आत्मामें भविष्यमें कर्मका सद्भाव हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता। जिस कर्मके कारण संयोग प्राप्त हो वह कर्म आत्मामें नहीं है, तब फिर बाह्य संयोग तो आत्मामें हैं ही नहीं।

(३५) **कर्ता :—**कर्ता नामका गुण है, इसलिए अपने स्वाभाविक कार्यका कर्ता है, शुद्ध चेतनाके कार्यका कर्ता है। यदि वह गुण नहीं होता तो स्वाभाविक परिणमन नहीं होता। आत्मा स्वभावका कर्ता है, परका कर्ता नहीं है। यह बात उसमें आ जाती है। ज्ञानानंदस्वभाव है; उसका कर्ता नहीं होता तो आनन्दका परिणमन नहीं हो पाता।

(३६) **कर्म :—**वीतरागी दशारूप कार्य होनेका गुण आत्मामें

त्रिकाल है। द्रव्यकर्म या भावकर्मकी बात नहीं है। कर्म अर्थात् स्वाभाविक कार्य, निर्मलानन्द दशारूपी कार्य। परिणमित होनेवाला आत्मा कर्ता है, आनन्दरूप परिणमन उसका कार्य है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हों वह तो पर्याय है, उसकी बात नहीं है, परन्तु कर्म नामका त्रिकालगुण है। जैसे सम्यक्दर्शन और ज्ञानादि गुण हैं, वैसे ही कर्म नामका गुण त्रिकाल है। केवलज्ञानरूपदशा वह कार्य है। यदि कर्म गुण न होता तो यह कार्य नहीं होता?—ऐसा बतलाकर पर्यायबुद्धि उड़ाते हैं और स्वभावबुद्धि करवाते हैं। स्वभावबुद्धि करे उसे आत्माका अनुभव होगा।

शरीर, कर्म आदिके कार्यकी बात नहीं है। आत्माके आधीन उनका कार्य है ही नहीं, तथा विकारी परिणाम होना वह भी उसका कार्य नहीं है। वीतरागी पर्यायके कर्ताका गुण तथा वीतरागी पर्यायके कार्यरूप होनेका गुण आत्मामें त्रिकाल है। वह न हो तो स्वभावका कार्य नहीं होता। अरूपी आत्माके असंख्य प्रदेशोंमें यह गुण विद्यमान है। आत्मामें सर्वगुण एकसाथ हैं, परन्तु समझानेमें क्रम पड़ता है; वहाँ तो सब गुण अक्रमरूपसे एक साथ विद्यमान हैं।

सांसारिक बातोंमें अज्ञानी खूब रुचि लेता है, परन्तु बाह्य संयोग अपने हाथमें नहीं हैं। लक्ष्मी, पैसा, व्यापारादिमें अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं होता, तथापि उनमें रुचि लेता है, परन्तु आत्माकी बात समझनेमें अरुचि लगती है—आलस्य आता है। बारोट-भांड उसके बाप-दादोंकी प्रशँसा करे तो अज्ञानी आनन्द व्यक्त करता है। यहाँ भगवान कहते हैं कि तेरे आत्मामें जो गुणोंका भण्डार भरा है उसे तो देख। यहाँ कर्म-गुणकी बात कहते हैं जड़कर्मकी नहीं, विभावरूपी कर्मकी नहीं। तथा स्वाभाविक पर्यायरूपी कार्य नहीं, परन्तु त्रिकाल गुण-कर्म है उसकी बात करते हैं।

(३७) करण :—निम्न कार्य करनेमें उत्कृष्ट साधनको करण कारक नामका गुण कहा है। धर्मका साधन स्वयं बनाता है। आत्मामें

साधन नामका गुण सदैव है। वह न होता तो स्वरूप परिणमन–सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी परिणमन नहीं होता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके साधन द्वारा मोक्षदशा होती है–ऐसा साधन नामका गुण त्रिकाल है। चौथा काल, दृढ़ संहनन आदिको अज्ञानी जीव केवलज्ञानका कारण कहते हैं, परन्तु वह सच्चा साधन नहीं है। करण नामका गुण परिणमित होकर साधन होता है। साधकदशामें देव-गुरु-शास्त्रके प्रति शुभरागको उपचारसे साधन कहा जाता है, परन्तु यदि आत्मामें करण नामक गुण नहीं होता तो आत्माके स्वरूपका साधन नहीं होता। वह गुण है तो आत्मा वीतरागी दशारूप परिणमित हो रहा है। बाह्यमें निमित्त तथा शुभराग होने पर भी यदि यह करण न होता तो वीतरागी दशा नहीं होती। वह साधन द्रव्यमें त्रिकाल विद्यमान है; निमित्तमें या रागमें साधन नहीं है।

(३८) **सम्प्रदान :—**आत्मामें सम्प्रदान नामका गुण है। वह नहीं होता तो अपनी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूपी वीतरागी दशा अपने को समर्पित नहीं हो पाती। इस गुणके कारण आत्मा अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करके अपनेको समर्पित करता है। आत्मा पर पदार्थको दान नहीं दे सकता, तथा राग करके उसे अपनेमें रख नहीं सकता। निर्मल पर्याय प्रगट करके अपनेमें रख सकता है, उसका कारण संप्रदान गुण है।

(३९) **अपादान :—**आत्मामें अपादान गुण है। वह नहीं होता तो अपनेसे अपने द्वारा अपनेरूप नहीं रहता परन्तु पररूप हो जाता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रके प्रति शुभराग हो, परन्तु वह व्यवहार हेतुरूप कब कहा जाता है? और उस शुभरागको बाह्य वस्तुएँ निमित्त कब कही जाती हैं? स्वयं अपना साधन प्रगट करे तो शुभराग तथा बाह्य वस्तुओंको साधनरूप निमित्त कहा जाता है। यहाँ अपादानगुणकी बात चलती है। वीतरागदशा अपनेमेंसे प्रगट होती है। अपनेसे अपने द्वारा निर्मलता प्रगट होती है। निमित्तसे अथवा रागसे धर्म हो सके ऐसा कोई गुण आत्मामें नहीं है। अपनेसे अपने द्वारा अपनेमें रहे ऐसा गुण आत्मामें है।

(४०) **अधिकरण :—**आत्मामें अधिकरण-आधार नामका गुण है।

एरन पर गहनेको टीपते हैं वह एरन आधार कहलाती है। वह तो व्यवहार दृष्टान्त है; उसी प्रकार आत्मामें अधिकरण नामक गुण है, उसके आधारसे निर्मलता प्रगट होती है। निमित्त अथवा व्यवहारके आधारसे धर्म नहीं होता। वीतरागी पर्यायका आधार त्रैकालिक आधार नामका गुण है। स्तवनमें प्रभुको आधार कहते हैं वह निमित्तसे कथन है। आत्माका आधार अथवा धर्मकी दशाका आधार अधिकरण नामका त्रैकालिक गुण है।

आत्माकी भाँति प्रत्येक द्रव्यमें निरन्तर अपना-अपना कार्य करनेवाले छह कारक स्वतंत्र विद्यमान है। यहाँ आत्माकी बात चलती है। यदि रागके आधार से धर्म हो तो राग दूर हो जाने पर धर्मका भी अभाव हो जाएँगा। मनुष्य शरीर अथवा दृढ़ संहननका आधार हो तो उसके हट जाने पर निर्मलता नहीं रहेगी, परंतु ऐसा नहीं है। शास्त्रमें कथन आता है कि जिनमन्दिर हों, मुनि विचर रहे हों, तो धर्मकी प्रभावना होती है, परन्तु यह कथन तो निमित्तका है। भले शुभ विकल्प आए परन्तु उसके आधारसे या मन्दिरोंके आधार से धर्म प्रगट नहीं होता, धर्म तो अधिकरण गुणके आधार से प्रगट होता है, टिकता है और बढ़ता है। यदि राग और पुण्यके कारण धर्म हो अथवा शास्त्रके आधारसे धर्म हो तो उनके हट जाने या राग दूर हो जाने पर धर्मका नाश हो जाएँगा; परन्तु ऐसा होता नहीं है।

कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण—यह छह कारक परकी अपेक्षा नहीं रखते। कोई ईश्वर को जगत् कर्ता मानते हैं वह बात भी मिथ्या है। स्वयं अपना कर्ता है, निर्मलतारूपी कर्म होनेका अपनेमें गुण है, स्वयं करण-साधन है, स्वयं ऐसा सम्प्रदान–अपने को दान दे, स्वयं अपने से अपने द्वारा निर्मलता प्रगट करे ऐसा अपादान और अपने आधार से निर्मलता प्रगट करे सो अधिकरण–ऐसे छहों गुण अपनेमें हैं।

प्रवचन–६

पौष कृष्णा ११, शुक्रवार, दि. १२-१२-५२

आत्माको अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव होना वह धर्म है। आत्मवस्तु त्रिकाल ज्ञान एवं आनन्द से परिपूर्ण है। अन्तर्मुख होकर वीतरागी आनन्दका अनुभव होना वह धर्म है और वही मोक्षका उपाय है।

आत्मामें अधिकरण गुण है, उसमें एकरूपता है। उसके आधारसे निर्मलता प्रगट होती है।

यदि अधिकरण गुण न हो तो सर्वका आधार नहीं होता। सर्वका आधार अर्थात् अनेक वीतरागी पर्यायों का आधार वह गुण है। शरीर क्रिया कर सकता है अथवा परकी दया पाल सकता है यह बात तो है ही नहीं। ऐसा राग आता है परन्तु परका कर सके यह बात मिथ्या है। वस्तुके अवलम्बनसे अनेक प्रकारकी वीतरागी पर्यायें प्रगट होती हैं।

(४१) **स्वयंसिद्ध :—**आत्माका कोई कर्ता नहीं है, तथा वह रागके कारण अथवा पर्यायके कारण टिका नहीं है। स्वयंसिद्ध नामक गुणके कारण टिका है। वह गुण नहीं होता तो पराधीनता आ जाती। आत्माका स्वयं अपनेसे निर्णय करने के लिए राग संहनन, या पर्यायकी आवश्यकता नहीं है उसमें स्वयंसिद्ध शक्ति विद्यमान है। मैं अपनेसे हूँ; परके कारण अपनापन नहीं है। आत्माका ऐसा यथार्थ स्वरूप जाने बिना धर्म नहीं हो सकता और संसार परिभ्रमण–नहीं मिट सकता।

(४२) **अज :—**आत्मामें अज अर्थात् जन्म नहीं लेना, ऐसा गुण है। आत्मा कभी जन्मता नहीं है। यदि वह गुण न हो तो शरीर और रागको उत्पन्न करनेमें निमित्त होता रहता। आत्मा चिदानंद त्रिकाल ध्रुव पदार्थ है; जन्म धारण तो नहीं परन्तु रागको उत्पन्न करनेमें भी आत्मा निमित्त नहीं है।

(४३) **अखण्ड** :—आत्मामें अखण्ड नामका एक गुण है, उसके आधार से आनन्द एवं अनुभवमें अखण्डपना आता है। यदि वह नहीं होता तो सदा राग-द्वेषमें अटकता रहता और ज्ञान-दर्शन-चारित्रमें खण्डितता बनी रहती। साधकदशामें बाधकदशा बनी रहने से कभी सिद्धदशा नहीं होती, इसलिए पर्यायमें सदा अपूर्णता रहती।

(४४) **विमल** :—दया-दानादि शुभ विकार है वह अनित्य पर्यायमें होता है; परन्तु स्वभावमें विमल नामका गुण है, इसलिए सदा निर्मल है। यदि वह न हो तो सदा मलिनता बनी रहती और संसारका अभाव नहीं होता। ऐसे स्वभावकी प्रतीति, ज्ञान एवं एकाग्रता वह धर्म है।

एक गुणको अस्वीकार करोगे तो अनन्त गुणोंका पिण्ड ऐसा द्रव्य नहीं रहता, तथा गुणकी वर्तमान दशा अर्थात् पर्याय नहीं रहती। इसप्रकार एकगुणको अस्वीकार करनेमें द्रव्य-गुण-पर्यायमें भूल होती है। वस्तु एकरूप है, उसके गुण स्वयंसिद्ध हैं। एकगुण नहीं हो तो वस्तुकी प्रतीति यथार्थ नहीं होती, उसके बिना चारित्र नहीं होता।

(४५) **एक** :—आत्मामें एक नामका गुण है। सब मिलकर एक आत्मा नहीं है, परन्तु गुण-पर्यायरूपसे अनेकरूप होने पर भी वस्तुरूपसे आत्मा एक है।

(४६) **अनेक** :—अनन्त गुणोंमें अनेक नामका एक गुण है। यदि अनेक न हो तो गुण अनेक नहीं रहते; जैसे द्रव्य एक है वैसे ही गुण भी एक रहता, परन्तु ऐसा होता नहीं है।

(४७) **नित्य** :—आत्मामें नित्य नामका गुण है। यदि वह न हो तो आत्मा एकान्त से अनित्य हो जाता; परन्तु ऐसा होता नहीं है।

(४८) **अनित्य** :—आत्माकी पर्यायमें—१. अनन्तगुणवृद्धि, २. असंख्यगुणवृद्धि ३. संख्यगुणवृद्धि, ४. अनन्तभागवृद्धि, ५. असंख्यभागवृद्धि ६. संख्यभागवृद्धि १. अनन्तगुण हानि, २. असंख्यगुण हानि ३. संख्यगुण हानि, ४. अनन्तभागहानि,

५. असंख्यभाग हानि ६. संख्यभाग हानि—ऐसे छह–छह प्रकारसे षट्गुणहानि–वृद्धिरूप परिणमन होता रहता है। ऐसे छह भेदोंरूप परिणति इस अनित्यगुणके कारण होती है। अपना प्रयोजनरूप कार्य करना है वह अनित्यके कारण होता है। आत्मा सर्वथा कूटस्थ नहीं है परन्तु उसमें प्रतिसमय नवीन-नवीन पर्यायें होती रहती हैं। अनित्य गुण न हो तो पर्यायमें नये-नये कार्य नहीं हो सकते। आत्मा नित्य परिणामी है; उसमें नित्य और अनित्य ऐसे दो गुण हैं।

(४९) **भेद** :—यदि भेदनामका गुण न हो तो द्रव्य–गुणका भेद नहीं रहता। आत्मा द्रव्यसे एक है और गुण अनन्त हैं। यदि भेद नहीं तो आत्मा एक तथा गुण भी एक हो जाता अथवा गुण अनन्त होनेसे आत्मा भी अनन्त हो जाते, परन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा द्रव्य से एक है और गुण अनेक हैं। इसप्रकार द्रव्य-गुणमें भेद है; वह भेदगुणके कारण है।

धर्म करनेवाले को ऐसा यथार्थज्ञान होना चाहिए। जिसे परम तत्त्वके श्रवणकी जिज्ञासा नहीं है वह इसे सुनने नहीं आता परन्तु क्रियाकांडमें लगा रहता है। तत्त्वकी बात सुनना दुर्लभ है; फिर उसे ग्रहण करना और धारण करना दुर्लभ है, फिर रुचिगत करना दुर्लभ है।

(५०) **अभेद** :—यदि अभेद नामका गुण न हो तो गुण और द्रव्यके प्रदेश भिन्न हो जाते। शरीर, मन, वाणी से भिन्न आत्मा वस्तुरूप से एक है वह अभेदगुणके कारण है। अभेदगुण न हो तो प्रत्येक गुण के लिए एक-एक वस्तु हो जाती अर्थात् वस्तु अनन्तगुनी हो जाती; परन्तु ऐसा होता नहीं है। आत्मामें अनन्तगुण होने पर भी द्रव्य और गुण प्रदेश से अभेद हैं। वह अभेदगुणके कारण है।

(५१) **अस्ति** :—यदि अस्तिगुण न हो तो आत्मा पररूप हो जाता, और तब आत्माकी नास्ति हो जाती। परन्तु ऐसा होता नहीं है; अस्तिगुणसे स्वयं सदा टिक रहा है।

(५२) **नास्ति** :—यदि नास्तिगुण नहीं हो तो शरीरादि जड़का

अस्तित्व आत्मामें हो जाता, परन्तु ऐसा होता नहीं है। पररूप नहीं होनेका गुण आत्मामें सदैव है।

(५३) साकार :—यदि साकार गुण न हो तो आत्माके क्षेत्रकी चौड़ाई अथवा अवगाहनका क्षेत्र नहीं होता। आत्मा शरीर प्रमाणमें साकार है।

(५४) निराकार :—परका आकार आत्मामें नहीं है; शरीर, कर्मका आकार आत्मामें नहीं है, इसलिए आत्मा निराकार है। यदि वह गुण न हो तो परका आकार धारण करके आत्मा परद्रव्यरूप हो जाता और स्वका आकार नहीं रहता; परन्तु ऐसा होता नहीं है।

(५५) अचल :—यदि यह गुण न हो तो आत्मा सदा चल बना रहे; परन्तु ऐसा होता नहीं है। अचल गुणके कारण आत्मा सदैव अचल है।

(५६) ऊर्ध्वगमन :—आत्मामें ऊर्ध्वगमनका स्वभाव है, इसलिए सिद्धदशा होने पर एक ही समयमें लोकाग्रमें पहुँच जाता है। परमाणु ऊपर जानेके पश्चात् नीचे आता है परन्तु सिद्ध नीचे नहीं आते। जीवमें ऊर्ध्वगमनका स्वभाव त्रिकाल है, परन्तु परमानन्ददशा होने पर ऊपर जाता है। जिस प्रकार अग्निकी लपटें तथा धुआँ ऊपर जाता है वैसे ही सिद्ध ऊपर जाते हैं।

चौदह ब्रह्मांडके ऊपर सिद्ध भगवान बिराजते हैं। इसलिए उनका उच्चपद जाना जा सकता है। ऊर्ध्वगमन स्वभावकी उच्चता उसके अपने कारण है, उसमें उच्चता है तो ज्ञान जानता है—ऐसा नहीं है तथा ज्ञानके कारण उच्चता नहीं है। उच्चता ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण है।

आत्मामें ऐसे अनन्त गुण हैं। धर्म करनेवाला ऐसे विशेषणोंका विचार करके आत्माकी श्रद्धा एवं अनुभव करता है।

अब, अपना ज्ञान किसप्रकार होता है वह कहते हैं। आत्माका अनुभव करना हो तो उसे क्या करना चाहिए? प्रथम तो आत्माके सिवा

शरीर, मन, वाणी आदि परपदार्थ वह मैं हूँ और वे मेरे हैं—ऐसी भ्रान्तिका भाव आत्माके अवलम्बनसे सर्वथा नष्ट करना चाहिए; उसके बिना मिथ्यात्वका नाश नहीं होता।

आत्मा स्व है, उसके सिवा सब पर हैं। परको अपना माननेरूप अहंकार–ममकारबुद्धिका नाश करनेके पश्चात् चारित्रदोषको नष्ट करे। निर्बलताके कारण राग होता हो वह स्वभावके आश्रयसे नष्ट होता है। प्रथम मिथ्याश्रद्धाका नाश होने पर फिर अस्थिरताके रागका नाश होता है।

जब पर पदार्थका रागभाव नष्ट हो जाता है तब पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है। ज्ञानमूर्ति आत्मामें परका प्रवेश नहीं है। दया-दानादि विकल्प पर हैं, उनका अभाव होने पर स्वसंवेदनरूप निज ज्ञान होता है। अपनेको जानना कैसे होता है वह बतलाते हैं। प्रथम श्रवण करे, विचार करे, पश्चात् श्रद्धा होती है। जो ज्ञान पर्यायमें या रागमें लाभ मानकर अटक जाए वह भ्रान्तिका दोष है और बिना भ्रान्तिके अटके वह चारित्रका दोष है। उन दोनोंका ज्ञानमें प्रवेश नहीं है,—ऐसा निर्णय होने पर स्वसंवेदनरूप निजज्ञान प्रगट होता है।

अब, अपने से बात करते हैं। द्रव्य-गुण-पर्यायके विचार करके निजपदको जानना वह एक ही रीति है; अन्य किसी प्रकार निजपदको नहीं जान सकते।

प्रवचन–७

पौष कृष्णा १२, शनिवार, दि. १३-१२-५२

धर्मकी निश्चय क्रिया को अनुभवप्रकाश कहते हैं। आत्मा किस प्रकार जाननेमें आए उसका उत्तर देते हैं। अनन्तकालसे आत्माका अनुभव नहीं है, किन्तु राग-द्वेषका अनुभव है। राग-द्वेष का अनुभव वह संसार है और नित्यानंद स्वरूप आत्माका अनुभव वह मोक्षदशा है।

अपनेको स्वरूप ज्ञान तथा अनाकुल शान्तिका वेदन कैसे हो वह बतलाते हैं। उसकी विधि जानना चाहिए और वैसा करनेवाले को प्रथम सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका ज्ञान होना चाहिए।

आत्मा अपनी सत्ता को सँभालते हुए परपदार्थ ही मैं हूँ—ऐसी मिथ्याभ्रान्तिका नाश करता है। राग-द्वेषादि तो निमित्तके लक्षसे होनेवाले उपाधिभाव हैं। स्वभाव की प्रतीति करके मिथ्याभ्रान्तिका नाश करनेके पश्चात् स्वरूपमें लीनता बढ़ते-बढ़ते क्रमशः रागका नाश होता है; दोनोंका एक ही काल है, परन्तु क्रमसे समझाते हैं।

आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है, उसमें परके प्रवेशका अभाव होने पर स्वसंवेदन होता है। परका प्रवेश अर्थात् रागादिभाव–ऐसा कहा वह नास्तिसे कहा है; नित्यानन्द ध्रुवस्वभावमें पुण्य-पापकी वृत्तिका प्रवेश नहीं है। भगवान आत्मा ज्ञान एवं आनन्दका स्वरूप है। ऐसी अन्तर्मुख एकाग्रता करने पर आनन्द प्रगट होता है।

तीर्थंकर भगवान और गुरु यह कहना चाहते हैं। चारों अनुयोगका तात्पर्य वीतरागता है। वीतरागता कैसे होती है ? स्वसंवेदनपूर्वक वीतरागता होती है; इसके सिवा अन्य कोई विधि कही हो तो वह निमित्तका कथन है। ऐसा बतलानेवाले गुरु और शास्त्र तो यही कहते हैं तथा सर्वज्ञकी वाणीमें भी यही आया है।

स्वयं त्रैकालिक शक्तिवान है। गुण = त्रैकालिक शक्ति और

पर्याय = वर्तमान दशा,—इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्यायके विचार द्वारा निजपदको जानना। निमित्त द्वारा अथवा राग द्वारा जानना ऐसा नहीं कहा। इसप्रकार निजपद जाननेकी विधि कही है। अथवा उपयोगमें ज्ञातरूप वस्तुको जाने, अन्तरमें जानने-देखनेका व्यापार हो उसके द्वारा वस्तुको जाने। निजस्वरूपको जानने की यह कला है। इसका नाम धर्म है। वर्तमान पर्यायमें ज्ञातरूप वस्तुको जाने। ज्ञातास्वभाव नित्यानंद पदार्थ है। पर्यायका आधार अथवा नाथ आत्मा है। नई-नई पर्यायें होती हैं उनका संचालक आत्मा है ऐसा जानना।

क्या जानना? अब विस्तार से कहते हैं। मेरा स्वरूप अनन्त महिमाके भण्डाररूप है। मुनियोंने, सन्तोंने और शास्त्रोंने मेरी महिमाका गान किया है। अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-चारित्रदशा प्रगट हो ऐसा मेरा आत्मा है।

तथा आत्मा साररूप है, ज्ञाता स्वभाव अनन्तगुणोंके भण्डाररूप है,—ऐसा उस ओरका भाव करे उसे अनुभव होता है। शरीर, मन, वाणी मेरी वस्तु नहीं है, मेरा स्वरूप तो अविकारी है। पुण्य-पापकी वृत्ति पर्यायमें होती है वह अन्तरस्वरूपमें नहीं है—ऐसा सम्यक् विचार करना वह अनुभवदशाका कारण है।

तथा स्वभाव अपार है। अनन्त शक्तिकी अनन्त पर्यायें प्रवाहित हों तथापि शक्तियाँ कम नहीं होतीं। वैसी शक्तियोंसे आत्मा शोभायमान है। ऐसा भाव ज्ञानानन्द स्वरूपकी प्रतीतिमें करना।

यह स्वरूपकी रीति है; यह मोक्षके पथ की रीति है। अहो! अनन्त गुणोंके भण्डाररूप, अविकाररूप अपार शक्तिसे परिपूर्ण मेरा स्वरूप है—ऐसा विचार करे; राग-द्वेषसे किंचित् चलायमान होता है, उसका अन्त अचल स्वभावके आश्रय से होता है। बहिर्मुख राग द्वारा आत्माका अनुभव नहीं होता। ध्यान धारण करने से निश्चलता होती है ऐसा ज्ञान जानता है। तथा स्वरूपका ज्ञान ही अनुपम पदका सर्वस्व है। आत्मा ज्ञान और आनन्दका पिण्ड है, वह ज्ञान सर्वस्वको जाने यही मेरा

धन है। कोई पुण्य-पाप या निमित्त साधन नहीं है। संक्षिप्तरूपसे अन्तरकी बात कही है। उस स्वरूपके ज्ञान बिना परको अपना मानकर अज्ञानी दुःखी होता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि :—

जो स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त,
समझाया वह पद नमूँ श्री सद्गुरु भगवंत।

स्वरूपके ज्ञान बिना अर्थात् मेरा आत्मा नित्यानंद है उसकी समझनके बिना, उस ओर स्वोन्मुख दशा विना, अज्ञानी राग एवं शरीर की क्रियाको अपना मानकर दुःखी हो रहा है और चारगतिमें भटकते हुए अनन्त दुःख भोग रहा है।

अब प्रश्न पूछते हैं कि—परकी मान्यता कैसे मिटेगी? हजारों रुपये की कमाई हो वहाँ हर्षित होता है, विषयोंमें सुख मानता है पुत्रकी बोली सुनकर संतुष्ट होता है;—इसप्रकार परपदार्थोंमें अपनत्व मानकर प्रसन्नताका अनुभव करता है। विकारमें दुःख होने पर भी सुख मान रहा हो वह जीव मैं आनन्दस्वरूप हूँ—ऐसा कब मानेगा? परके ओरकी वृत्ति छूटे तो माने। परमें अच्छा लगता है—ऐसी मान्यतावालेको परमें हम हैं और परपदार्थ ही हम हैं—ऐसी मान्यता बनी हुई है, पर वस्तुके कारण आनन्द है वह मान्यता कब दूर होगी?

समाधान :—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और राग–द्वेषादिसे भिन्न हूँ।—ऐसे भेदज्ञान द्वारा निजके अंशको तथा परको पृथक्-पृथक् जानना। ज्ञानका अंश रागको जानता है, दर्शनको जानता है। सम्यग्ज्ञान स्वभावोन्मुख होने पर होता है। रागादि परिणाम परसन्मुख होने से होते हैं। वह अंश मेरा नहीं है —ऐसे भेदज्ञान द्वारा दोनों को पृथक्-पृथक् जानना। लोग कहते हैं कि हम धर्म करते हैं परन्तु सुख नहीं आता। ज्ञानस्वभावकी प्रतीति तथा उसमें एकाग्रता करने पर धर्मदशा होती है। चिदानन्द पर्वत पर आरोहण करने से धर्म होता है। ज्ञानप्रवाहकी परिणति वह स्वभाव है और

परमें रुकनेवाला अंश वह राग है, वह दोष है—इसप्रकार भिन्न-भिन्न जानना चाहिए।

मैं जानने-देखनेके व्यापारवाला हूँ, राग-द्वेषादिके परिणामोंवाला नहीं हूँ। चैतन्यस्वभावका अनुसरण करके होनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं—ऐसा अन्तरमें विचारता हैं। मेरे उपयोगत्वका गुणगान तो ग्रन्थ कर रहे हैं। ''सदा स्व-उपयोगी सो आत्मा'' ऐसा दिव्यध्वनिमें आया है, ग्रन्थ भी यही गा रहे हैं, सन्तोंके उपदेशमें यही बात आई है। शास्त्रमें भी कोई अन्य स्वरूप नहीं कहते। इससे विरुद्ध कहें वे गुरु और शास्त्र सच्चे नहीं हैं। ''दया–दानादिसे तेरा कल्याण होगा'', ऐसा कहनेवाले झूठे हैं।

प्रथम तो, वस्तुस्वरूप क्या है वह जिसके श्रवणमें न आए उसे ग्रहण नहीं होगा, ग्रहणके बिना धारणा नहीं होगी और धारणाके बिना रुचि नहीं हो सकती। जो शास्त्र ऐसा कहते हों कि अंतरमें उतरकर अपने ज्ञान स्वभावको पकड़ ले तब धर्म होगा; वे सच्चे शास्त्र हैं। इससे विरुद्ध कहें वे सच्चे नहीं हैं। सम्यग्दर्शन होने पर और होनेके पश्चात् धर्मीजीव मानता है कि मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है; बाह्य संयोगोंको लाऊँ या छोडूँ वह मेरे हाथकी बात नहीं है और राग हुआ इसलिए जाना ऐसा भी नहीं है। स्व-पर प्रकाशक ज्ञान प्रगट होने से रागको जानता हूँ, मेरा स्वभाव देखना–जानना है वही मेरा स्वरूप है। बीचमें जो विकार उत्पन्न होता है वह मेरा स्वरूप नहीं है। धर्मी जीव ऐसी विचार-क्रिया स्वभावसन्मुख रहकर करता है। परवस्तुको ग्रहण करना या छोड़ना वह मेरे अधिकारकी बात नहीं है। मेरे ज्ञान या रागके कारण वे वस्तुएँ आए या जाए ऐसा उन वस्तुओंका स्वभाव नहीं है। वर्तमान पर्यायमें होनेवाले राग-द्वेषका भी व्यवहार से ज्ञाता हूँ; निश्चयसे अपने स्वरूपका ज्ञाता-द्रष्टा हूँ—ऐसा निश्चय करने पर आनन्दकी वृद्धि होती है।

देखो, यह ग्रन्थ श्री दीपचन्दजीने लिखा है। वे गृहस्थ थे; उन्होंने आत्माका अनुभव करके इसे लिखा है। इस बातको श्रवण करनेमें जिसे रुचि न हो उसे आत्माकी रुचि नहीं हो सकती। इससे विरुद्ध श्रवण करे

वह तो मिथ्यादृष्टि है। मैं तो ज्ञाता–दृष्टा स्वभाववाला हूँ ऐसा निर्णय करनेसे आनन्दकी वृद्धि होती है। मैं त्रिकाल स्थायी हूँ,–संयोगी वस्तुओंमें मेरा प्रवेश नहीं है और न उन वस्तुओंका मुझमें। मेरा स्वभाव ज्ञाता–दृष्टा है; उसका मेरे द्रव्यमें प्रवेश है—ऐसा यथावत् निर्णय करने पर आनन्द बढ़ता है।

पहले यह रीति सुनना चाहिए; ऐसा कहनेवालोंका संग करना चाहिए, ऐसे ही शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिए। ऐसी बातें नहीं सुनकर जो विपरीत बातें सुनते हैं उन्हें मिथ्यात्व होता है।

व्यवहार करते-करते आनन्दमें वृद्धि होगी ऐसा नहीं कहा है। दान देने या सेवा करने से आनन्द बढ़ेगा ऐसा भी नहीं कहा है, परन्तु आत्माका स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है—ऐसा विचार करने से चारित्र होता है और आनन्द बढ़ता है। इसे अनुभवप्रकाश कहते हैं। दया–दानादिकी वृत्ति उठे उसे परपरिणति कहते हैं। शरीर, मन, वाणीका तो आत्मामें अत्यंत अभाव है। शुभाशुभभाव हों तो ठीक हैं, ऐसा माननेवाला विकार को ही अपना मानता है।

कर्मोदयके कारण विकार हुआ ऐसा नहीं है, तथा कुदेव और कुगुरुके कारण मैंने विकार को अपना माना ऐसा भी नहीं है। उस विकार को मैंने अपना बनाया है उसमें किसीकी भूल नहीं है; परन्तु ''अपने को आप भूलके हैरान हो गया।'' सर्वज्ञ भगवान के समवसरणमें जाकर भी ज्योंका त्यों लौट आया; जो रीति ग्रहण करना थी वह नहीं की। जो कल्पना हुई उसे अपना स्वरूप माना। आत्मा प्रभुत्वशक्तिका भंडार है, उसे चूककर विकारसे लाभ माना वह विपरीत श्रद्धा है और उसीके कारण अज्ञानी भटक रहा है। वह मिथ्या मान्यता मैं छोड़ दूँ तो नहीं होगी; स्वयं विपरीत था वह सीधा हो सकता है—पलट सकता है।

संसारमें माता अपनी पुत्रीको हलवा बनानेकी विधि बतलाती है तो पुत्री बराबर सुनती है। वैसे ही सर्वज्ञदेव और सन्त कहते हैं कि–पहले पूर्ण आत्माकी प्रतीति करो तो धर्म हो सकता है। रागकी मन्दता करे

अथवा दया-दानादि करता रहे तो वे सब व्यर्थ जाएँगे। पुण्य–पापके विकारका चैतन्यसमुद्रमें प्रवेश नहीं है। ऐसा निर्णय किए बिना व्रत, तप, चारित्र सच्चे नहीं हो सकते।

परन्तु अज्ञानी तर्क करता रहता है कि पहले व्यवहार करें तो? इसप्रकार उसे विश्वास नहीं आता। शरीर, मन, वाणी आत्मासे भिन्न हैं, अपने अपराध से होनेवाले विकारभावका ध्रुवस्वभावमें प्रवेश नहीं है—ऐसा यथार्थ माने तो मिथ्यामान्यता दूर हो। ऐसा नहीं कहा कि कर्मकी मन्दता होगी तब मिथ्या मान्यता टलेगी।

अठारह वर्षकी पुत्रीकी सगाई होते ही उसे ख्याल आ जाता है कि माता-पिताका घर मेरा नहीं है परन्तु मेरे पतिका घर वह मेरा घर है। उसकी मान्यता बदल जाती है। वैसे ही अज्ञानी विकारको अपना मानता था, परन्तु मान्यता बदले और ज्ञानानन्दस्वरूप निज घर है—ऐसा मानकर सगाई करे तो मुक्ति-रमणीका पति बन जाए।

ज्ञान एवं आनन्द शक्तिको अपना माना उसी समय मुक्तिरमाके साथ सगाई हो जाती है और केवलज्ञान अवश्य होता है—ऐसा निश्चय होता है।

स्वस्वभाव ज्ञानमय चैतन्यसूर्य हूँ—ऐसी सम्यक् प्रतीति होने पर पूर्णानन्ददशाके साथ सगाई हो जाती है।

जैसे कोई पुरुष कन्या छोटी–बड़ी करनेमें कुँवारे ही रह जाते हैं और उनको विवाह करनेका अवसर नहीं आता; वैसे ही जिसे अच्छा-बूरा परखने की बुद्धि नहीं है उसका अनन्तकाल संसारमें चला जाता है, उसे मुक्ति-वधूके साथ लग्न करनेका अवसर नहीं आता; परन्तु धर्मी जीव कहते हैं कि–हमारा केवलज्ञान प्राप्त करनेका अवसर आ गया है, केवलज्ञानकी तैयारी है। विकार करना मेरा स्वरूप नहीं है। मैं ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय करने पर मुक्तिवधूके साथ अवश्य परिणय हो जाता है।

शुभाशुभ कर्मके भ्रमका विनाश निजसुख प्राप्त होने पर ही होता है। यहाँ कर्म अर्थात् पुण्य–पापरूप विकार, विकार से मुझे धीरे–धीरे

लाभ होगा वह कर्मका भ्रम है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभावकी प्रतीतिसे उस कर्मके भ्रमका नाश होता है। आनन्दस्वरूपका ज्ञान प्राप्त होते ही मिथ्यादर्शनशल्य नष्ट हो जाती है। वह निजसुख कैसे प्राप्त होता है? सो कहते हैं।

मेरा सुख जानने-देखनेके उपयोगमें है। मेरी ज्ञानपर्याय अपने द्रव्यके साथ अभेद हो उसीमें आनन्द है। जड़में या परमें आनन्द नहीं है–ऐसी प्रतीति जिसे नहीं है उसको सच्चे व्रत या चारित्र नहीं होता। मेरा सुख अपने ज्ञानोपयोगमें है, पुण्य-पाप या रागमें नहीं है, इसलिए जानने–देखनेके उपयोगको धारण कर रहा हूँ।

मैं ज्ञानानन्द स्वभावको भूलकर अनुपयोग अर्थात् विकार आदिमें रत होकर चेतना उपयोग को भूल गया, इसलिए सुख कहाँ से होगा? नहीं हो सकता; इसलिए धर्मी जीव स्वस्वरूपका विचार करता है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन-८

पौष कृष्णा १२, रविवार दि. १४-१२-५२

जिस प्रकार सूर्यका स्वभाव प्रकाश है, उसी प्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञान और आनन्द है। उसकी प्रतीत द्वारा आनन्दका अनुभव होना वह शान्तिका उपाय है। ऐसे आत्माको परपदार्थमें अपनत्वकी मान्यता कैसै मिटे ? स्वयं आनन्द और ज्ञानरूप वस्तु है उसकी पहिचान नहीं की, इसलिए परमें अपना स्वरूप मानता है। वह मान्यता कैसे दूर हो ? उसका स्पष्टीकरण करते हैं। मेरा सुख अपने ज्ञानव्यापारमें है, अन्यत्र नहीं है। मैं चेतनस्वभावका अनुसरण करके होनेवाले 'ज्ञाता दृष्टा भावोंका धारक हूँ, परन्तु उस स्वभावको भूल गया हूँ और अनुपयोग अर्थात् शरीर, मन, वाणी तथा पुण्य-पापकी वृत्तियाँ जो कि जड़ हैं–उनमें अनादिकालसे लग रहा हूँ; वे मेरे और मैं उनका—ऐसा मान रहा हूँ; अनन्त आनन्दके स्थानको भूल रहा हूँ; इसलिए जड़ पदार्थ तथा रागको अपना माना है उनमें सुख कहाँ से होगा ? नहीं हो सकता। आत्मा त्रिकाल आनन्दस्वभावी पदार्थ है, उसे भूलकर विकार तथा जड़ को अपना मानकर आनन्द से च्युत हो गया हूँ, फिर धर्म कैसे होगा ? शान्ति कैसे प्राप्त होगी ? देह-देवालयमें रजकणोंसे आत्मा भिन्न है; विकारकी ओटमें निजानन्दस्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिए विकारको ही अपना स्वरूप मानकर दुःखी हो रहा है। चिदानन्द भगवान स्वयंको भूलकर अपने चैतन्यप्रकाशको नहीं देखता हुआ शुभाशुभरागको करने योग्य मान रहा है, इसलिए सुख प्राप्त नहीं करता।

अब, धर्मात्मा विचार करता है कि—मैंने उस उपयोगके प्रकाशको साक्षात् योग्यस्थानरूप किया है। अज्ञान द्वारा जानने-देखनेके परिणाम विकारमें तथा शरीरादिको अपने माननेमें लगा रहता था वह योग्यस्थान नहीं था। ज्ञान, शरीर तथा राग-द्वेषको जाने उसके बाद राग-द्वेष एवं शरीर

ही मैं हूँ।—ऐसा माने वह चैतन्यका योग्य स्थान नहीं है।

अब, ज्ञानानन्द स्वभावका प्रकाश होता है। जैसा स्वभाव है वैसा ही प्रकाश होता है। जैसे सूर्यमें अंधकार नहीं है, वैसे ही आत्मा चैतन्यस्वभावी सूर्य है उसमें शरीर, मन, विकारादिकी एकमेकता नहीं है। ज्ञानस्वभावमें ज्ञातापर्यायको अभेद करना वह धर्म है; वह योग्यस्थानरूप किया कहा जाता है। ज्ञानको ज्ञान द्वारा एकाग्र करके योग्य स्थान दिया। शरीर, मन, वाणीको अपना मानता था वह भूल थी; मैं तो जगतके पदार्थोंका साक्षी हूँ—ऐसा मानना वह धर्म है।

वह काहे से? 'मैं नर'—ऐसी मान्यता इस जड़रूप नरदेहमें तो घटित नहीं होती। जड़ शरीर नहीं जानता कि 'मैं मनुष्य हूँ'; ज्ञान जानता है कि मैं मनुष्य हूँ; वीर्य एवं रक्तके बिन्दुसे उत्पन्न होकर रोटी, दाल, भात आदिसे शरीर बना है। उसे यह मान्यता घटित नहीं होती, परन्तु विपरीत मान्यता उपयोगसे हुई है। शरीरके सुख से अपनेको सुखी मानता है। ज्ञातृत्वका भाव आत्माका है परन्तु श्रद्धाको विपरीत करके परको अपना मानता है। ऐसी विपरीत मान्यता ईश्वरने अथवा कर्मने नहीं कराईं। ऐसी मान्यता करनेवाला मेरा उपयोग ही अशुद्ध स्वांग धारण कर बैठा था। जैसे अग्नि पर धुआँ होता है, इसलिए अग्नि दिखाई नहीं देती, वैसे ही चारों ओर दिखनेवाली पुण्य-पापकी वृत्तियोंको चैतन्यस्वरूप मान ले तो वह भूल है। अपने को भूलकर पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ वृत्तियाँ सो मैं, तथा मैं निर्धन, मैं धनवान आदि मान्यताएँ करके अशुद्ध स्वांग धारण कर बैठा है, वह मान्यता किसीने करवाई नहीं है।

कोई एक बहुरूपिया बैलका वेश धारण कर लाया और पूछता है कि मैं मनुष्य कब बनूँगा? तो वह झूठ ही पूछ रहा है; स्वयं मनुष्य ही है तथापि बैल होनेका भ्रम हो गया है। इसी दृष्टान्तकी भाँति चिदानन्दस्वभाव आदि-अन्त रहित है, अपना यथार्थ स्वरूप ज्ञान एवं आनन्द है, उसमें विकार या शरीरादिने प्रवेश नहीं किया है। पुण्य-पाप पर्यायमें हैं, स्वरूपमें उनका प्रवेश नहीं है, तथापि शरीर वह मैं हूँ ऐसा

मानता है। चिदानन्द स्वभावमें उसका प्रवेश नहीं है, वे कभी एकमेक हुए नहीं हैं और होंगे नहीं। अनादिका मूढ़ अज्ञानी परमें अपनत्व मान बैठा है; वह कल्पनाका वेश चिदानन्दमें नहीं है। पुत्री विधवा हो जाए अथवा पैसा चला जाए। तब दुःख की कल्पना करता है वह मूल स्वरूपमें नहीं है। देखो, अपने मूल स्वरूपको भूल जाना और झूठी कल्पना करना वही दुःख है। यह बात समझे बिना धार्मिक क्रिया नहीं होती।

स्वभाव-सूर्यको अपना स्वरूप नहीं मानकर यह जो पर सो मैं —ऐसा मानता है। संसार एक समय का है; वह स्वभावमें था नहीं, वर्तमानमें है ही नहीं और भविष्यमें रहेगा नहीं। ऐसे नित्यस्वभावको भूलकर बड़ी भूल कर बैठा है।

तथा मैं ऐसा ज्ञानस्वभावी हूँ और विकाररूप नहीं हूँ—ऐसी वृत्ति भी स्वभावमें नहीं है। चिदानन्द आत्मा अपनेको पर्याय जितना मानता है वह भूल है और वह स्वयं से मिटे ऐसी है।

सदा उपयोगधारक आनन्दरूप स्वयं अपने से बना है। पहले जो विपरीत मान्यता थी वह दूर हो गई और सच्ची मान्यता आ गई, इसलिए आनन्दरूप बन जाता है।

बिना प्रयत्नके वह नहीं बनता। मैं ज्ञानानंदस्वभावी हूँ—ऐसी श्रद्धाके बिना स्वरूपदर्शन नहीं होता। वर्तमान परिणामोंको अयथास्थानमें रोक रखा है उन्हें स्वस्थानमें लगा दे तो धर्म हो सकता है। कितने ही लोग कहते हैं कि बिना पुरुषार्थके सम्यग्दर्शन हो जाता है, परन्तु वह बात मिथ्या है ऐसा बतलाते हैं।

अपनी दृष्टिके आलस्यसे अपने हरिको नहीं देख पाया। पुण्य-पापके समूहको जो आत्मप्रतीतिसे हनन कर दे वह हरि है। ''हे भगवान ! अब मेरा उद्धार करो''—ऐसा अज्ञानी कहते हैं, तो फिर यह भगवानका दोष हुआ जो उसने अभी तक उद्धार नहीं किया; परन्तु ऐसा नहीं है। भगवान न तो किसीको डुबोते हैं और न उबारते या उद्धार करते हैं। अपने पुरुषार्थसे भूल दूर करके सच्ची श्रद्धा करे तो सुखी हो सकता है।

बीडी तम्बाकू पिए बिना चलता नहीं है; उड़दकी दाल अच्छी न बनी हो तो क्रोध करता है—ऐसी मान्यतावाले रंक पुरुषको यह बात नहीं बैठती। विपरीत कल्पनामें भगवान आत्माका समावेश कैसे होगा? स्वयं सदा पूर्ण ज्ञानानन्द प्रभु है—ऐसी श्रद्धा होने पर अपने स्वरूपका अवलोकन होता है।

अज्ञानी परवस्तुमें गुण मानता है परन्तु अपनेमें गुण नहीं मानता। रोटीसे भूख मिटती है। पानीसे तृषा शांत होती है, कपड़ोंसे ठण्ड उड़ जाती है, मकानसे रक्षा होती है–आदि वस्तुओंके गुणोंको स्वीकार करता है परन्तु स्वयंको निर्माल्य मानता है। यहाँ कहते हैं कि तेरा स्वभाव गुप्त पड़ा है,, उसका विश्वास तुझे नहीं आता। शरीर और विकारसे भिन्न आत्मस्वभाव निर्लेप है उसकी श्रद्धा कैसे हो वह कहते हैं।

प्रथम, सर्व लौकिक रीतिसे पराङ्मुख होना चाहिए। सांसारिक संकल्प-विकल्पोंमें यह सत्य बात नहीं सूझती। दुनिया क्या कहेगी, ऐसे कार्य नहीं करेंगे तो लोकमें प्रतिष्ठा नहीं रहेगी—इत्यादि लौकिक प्रसंगोंसे पराङ्मुख होकर निजात्म विचारोंकी ओर उन्मुख होना चाहिए।

चिदानंदभगवान कर्मरूपी गुफामें बैठा है; आठ कर्मरूपी धूलमें छुपा हुआ है। 'कर्म मार्ग दें'—ऐसा मानकर वहाँ खोजने लगे तो भगवान आत्मा नहीं मिल सकता। पहली शरीरादि नोकर्म गुफा है जो कर्मबन्धनमें निमित्त है, दूसरी ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मगुफा है वह सूक्ष्म है तथा तीसरी राग-द्वेषादिरूप गुफा है—यह तीनों एकके बाद एक कर्म-कन्दराएँ आती हैं।

प्रथम नोकर्म गुफामें प्रविष्ट होकर परिणति देखती है कि मेरा राजा कहाँ है? जानने-देखनेके परिणाम शरीर और वाणीमें से आते होंगे? वाणीमें, शरीरमें, परमाणुकी क्रियामें आत्मा होगा? परन्तु वहाँ तो कुछ दिखाई नहीं देता। शरीर तो जड़ है। पर्याय बुद्धिमान को चैतन्यका भास नहीं होता। शरीरकी क्रिया से धर्म होता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। शरीर स्वस्थ रखो, सात्त्विक आहार करो तो परिणाम शुद्ध होंगे,—ऐसा

मानकर शरीरादिमें आत्माको खोजते हैं। पर्वतोंके एकान्त स्थानमें अथवा शरीरकी क्रियामें आत्मा नहीं है; जानने-देखनेका प्रकाश शरीरमेंसे नहीं आता; नोकर्मरूपी गुफामें उसे कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता; चक्कर आ रहा है इसलिए परिणति घूमने लगी।

श्रीगुरु पूछते हैं कि—'तूं क्या शोध रही है?' तब परिणति कहने लगी कि "अपने राजाको ढूँढ़ रही हूँ, परन्तु यहाँ तो वह दिखाई नहीं देता।"

यहाँ गुरु कैसे होते हैं वह बतलाते हैं। अपनी परिणति शरीरमें से आती है और शरीरसे धर्म होता है—ऐसा जो मनवायें वे सच्चे गुरु नहीं हैं।

श्री गुरुने कहा कि तेरा राजा यहीं है, शरीरमें नहीं है। तेरे जानने-देखनेके परिणाम परोन्मुख होते हैं उन्हें अब शरीरादिकी ओर नहीं ले जाना, अन्तर्मुख हो, यहींसे तीसरी गुफा है वहीं तेरा राजा रहता है। उस तीसरी गुफाका नाम भावकर्मगुफा है। तेरे हाथमें रही हुई डोर इस गुफा तक आई है। वह डोर उसके हाथसे चलाने पर चलती है। यदि वह न हो तो डोरी अपने आप नहीं चलेगी। ज्ञाता वस्तु न हो तो यह शरीर है और यह राग मुझे हुआ ऐसा जानना नहीं बनता; इसलिए विचार कर उस शक्ति अथवा डोरीको पकड़कर–उसका अनुसरण करके चला जा। डोरीको छोड़ना नहीं। वहाँसे वह परिणति उस डोरीके आधार से द्रव्यकर्मगुफामें प्रविष्ट होकर देखती है कि इस डोरीकी क्रिया कौन करता है?

शरीर से हटकर कर्म पर आया है—कर्म घटे अथवा पुण्यबंध हो तो कुछ हाथ आएँगा या नहीं?—ऐसा विचार करता है। कर्मकी स्थिति–मर्यादा कम करें तो आत्मा प्राप्त होता–इसप्रकार कर्ममें आत्माको ढूँढने लगा।

यह कौन चलाता है? विचार करता है कि–मैंने जैसे भाव किए थे वैसे द्रव्यकर्ममें नाम पड़े हैं। कर्मकी स्थिति बढ़े या घटे उससे आत्मा प्राप्त नहीं होगा।

जैसे आत्माने परिणाम किए वैसे द्रव्यकर्म बांधे हैं। द्रव्यकर्ममें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, एवं अनुभाग—ऐसे नाम आत्माके निमित्तसे पड़े हैं; परन्तु उस जड़प्रकृतिमें आत्मा प्राप्त नहीं होगा। पुण्य-पाप, राग-द्वेषादि किए उतने प्रमाणमें कर्मबंध हुआ और उसके निमित्तसे अनेक प्रकार कर्मके नाम मिले परन्तु वहाँ आत्माकी प्राप्ति हो—ऐसा नहीं है।

अब, भावकर्मगुफामें आता है। राग-द्वेष ज्ञात होते हैं उनको जानने का प्रकाश कहाँसे आता है उसे देख ! (रागद्वेषमें अटककर द्वेषभावको ढूँढने जाएगा तो द्वेषभाव नहीं मिलेंगे।) पुण्य-पापके आश्रयसे चैतन्यका पता मिले ऐसा नहीं है। चैतन्य भगवान शरीर और कर्ममें नहीं मिलेगा, और पुण्य-पापके भाव तो तेरे चैतन्यनाथका अशुद्ध स्वांग है। चैतन्यसूर्यकी पर्याय तो जानने-देखने की है। भगवान आत्माकी पर्यायमें विकार दिखाई देता है, वह भगवान आत्माके लिए बेकार-व्यर्थ है।

जीवने दया-दानादिका राग और व्यवहारका प्रेम नहीं छोड़ा है। इससे विचारता है कि वह परिणाम छोड़ दूँगा तो आत्मा प्राप्त होगा या नहीं ? उससे कहते हैं कि ऐसा भय न रख। पुण्यका पक्ष छोड़नेको कहते हैं तो अज्ञानी आवेशमें आ जाता है। परन्तु भाई ! आत्माकी धर्मदशा प्रगट करना हो, आत्माका साक्षात्कार करना है तो उसकी विधि बतलाते हैं। प्रभु ! तेरी प्रभुता चैतन्यप्रकाशसे भरपूर है। भय न कर ! दया-दानादिकी वृत्ति उठती है वह विकार है। सर्व वृत्तियोंको जाननेवाला आत्मा है। राग-द्वेष-मोहकी डोरका अनुसरण करते हुए ढूँढ। इसका अर्थ यह नहीं है की राग-द्वेषको साथ ले जाना है, परन्तु राग-द्वेषको जानते हुए भीतर जो रागद्वेष हैं वह आत्माका स्वरूप नहीं है। राग-द्वेषके द्वारको अपना स्वरूप नहीं मानना। राग-द्वेषके परिणाम होते हैं वे तेरे अटकनेसे होते हैं। दया-दानादिके भाव तेरी दशामें होते हैं वह तो अशुद्ध स्वांग है; उनका अनुसरण करके मत देख। जिसके हाथमें दोर है उसका संग करने से तुरन्त प्राप्त होगा।

गुरु कहते हैं कि ‘‘हे दशा ! तू राग-द्वेषको देखना छोड़कर

अंतर-स्वभावको देख ! चिदानंद भगवानमें केवलज्ञानकी शक्ति विद्यमान है उसका अवलोकन कर ! जिस ज्ञानमहिमाको छुपाकर बैठा है उसकी विधिको देख, आत्मानुभव करने की यह रीति है।''

वर्तमानमें अल्पज्ञता एवं विकार होने पर भी वे स्वभावमें नहीं है। ज्ञानका भण्डार है उसे पहिचान, उसकी दृष्टि कर तो साक्षात्कार होगा, तेरा नाथ छुपा नहीं रहेगा। विचारधाराको विकारमें न लगाकर चिदानन्द प्रभुका अन्तरावलोकन कर तो सुखी होगा।—इसप्रकार निजसुखका उपाय समझाया–बतलाया है।

तेरा चैतन्यसूर्य शक्तिका पिण्ड है, परन्तु विकारके कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे—धुएँकी ओटमें अग्नि या तपेली दिखाई नहीं देती, वैसे ही चिदानन्द भगवान आत्मा पुण्य-पापके आनन्दमें दृष्टिगोचर नहीं होता। वह शरीर, मन, वाणीकी क्रियामें और कर्मके जालमें छुप गया है, इसलिए एकबार अपने चैतन्यसूर्यको देख। तेरे सुखकी प्राप्तिका उपाय तुझमें ही है। इन्द्रपदमें अथवा स्वर्गमें सुख नहीं है; भगवान आनन्दकंद आत्माका विश्वास करे तो सुखकी प्राप्ति होगी। विकार रहित त्रैकालिक स्वभावमें सुख है उसे देख; वह निजसुखका उपाय है।

चैतन्यधारा प्रवाहित है; उसे जो बाह्यमें रोक रखे वह संसार है और जो अन्तर्मुख करे वह धर्म है।

प्रवचन–९

पौष कृष्णा १३, सोमवार दि. १५-१२-५२

आत्मामें आनन्द और सुखका अनुभव होना वह 'अनुभव-प्रकाश' है। निज सुखको निज उपयोग कहा है। अपने ज्ञानका व्यापार स्वोन्मुख हो तो सुख प्रगट हो ऐसा है। बाह्य स्त्री, कुटुम्ब या रागादिमें सुख नहीं है; सुख तो अपनेमें है, उसकी प्राप्ति होना सरल है; तथापि महँगी क्यों हो रही है सो कहते हैं।

संसारी जीवको अनादिसे वर्तमानदशामें भूल हुई है। चिदानन्द भगवानको छोड़कर क्षणिककी प्रतीति करके मिथ्यात्वकी शराब पी रखी है। स्वभाव और विभावको भिन्न नहीं करना वह अविवेक है। स्वभाव निरुपाधिक नित्यवस्तु है और राग-द्वेषादि विभाव क्षणिक हैं; उन दोनोंमें भेद करना सो विवेक है। स्वभावका संग नहीं किया है, इसलिए अविवेक मल्लने उस दशाका नाश कर दिया है–ऐसा कहा है। परिणाममें अविवेक है ऐसा बतलाते हैं। शरीर, मन, वाणी पर हैं। संसार पर्यायका त्रैकालिक स्वभावमें अभाव है ऐसी प्रतीति नहीं है, इसलिए पर्यायबुद्धरूपी अविवेक मल्लने जयस्तंभ रोपा है। निगोद से लेकर समस्त मिथ्यादृष्टि जीवोंको अविवेकमल्लने जीत लिया है, इसलिए बलवान बना हुआ है। शरीर, मन, वाणी तथा पुण्य-पापादि ज्ञानमें ज्ञात होते हैं, ऐसी वस्तुएँ पर हैं और स्वयं स्व है—ऐसा भेदज्ञान नहीं है, इसलिए अविवेक मल्ल शक्तिमान बनकर खड़ा है। जो निमित्तसे पृथक् नहीं होता वह रागसे कैसे पृथक् हो सकता है?—नहीं हो सकता। असंग स्वभाव एकरूप है। चाहे जितना दीर्घ संसार हुआ परन्तु स्वभावमें कहीं न्यूनता नहीं आई। ऐसे स्वभावको नहीं मानकर कृत्रिम वृत्तियाँ की मान्यतावालेके लिए वह अविवेक मल्ल शक्तिवान होकर खड़ा है। कर्म तो जड़ है, कर्म जीवको हैरान नहीं करते; कर्ममल्ल जीवको नहीं जीतता

परन्तु जीव और कर्मके बीचका विवेक–ज्ञान नहीं है वही अपनी सुख निधिका विलास नहीं करने देता।

परसे भेदज्ञान अर्थात् विकार मेरे स्वभावमें नहीं है ऐसा ज्ञान वह विवेकमल्ल है। उस विवेकमल्ल से अविवेकमल्लको परास्त किया जाता है। व्यवहार करनेसे अविवेकमल्लको मारा जा सकता है–ऐसा नहीं कहा। चैतन्यस्वभावके ओरकी वृत्तिसे अर्थात् परसे भेदज्ञानके बल द्वारा अविवेकका नाश होता।

अपूर्णदशामें शुभरागके कालमें शुभराग होता है, और उसका लक्ष सच्चे देव-गुरु-शास्त्र पर होता है। उस काल भी स्वभाव तो शुद्ध ही है। शुद्ध स्वभावके अस्तित्वको न मानकर मात्र निमित्तको या शुभको ही मानना वह अविवेकमल्ल है।

उस अविवेकमल्लको भेदज्ञानके पुरुषार्थ द्वारा नष्ट किया जा सकता है और तभी अपनी आनन्दखानका विलास प्रगट होता है। यह एक ही रीति है अन्य कोई रीति नहीं है।

अजीर्ण हो और भोजन करे तो विष हो जाता है, वैसे ही परकी रुचि करना वह मिथ्या भोजन है। स्वाभाविक शक्ति नित्य पूर्ण ही है, उसकी रुचि नहीं करके परकी, रागकी रुचि करना, उसका पोषण करना वह अजीर्णका पोषण करनेके समान है। अपनी शान्ति और आनन्द अपने ही आलस्य से रह गए हैं। विषय-वासना, पुण्य-पापका पोषण, शरीर-मन-वाणीकी क्रिया करूँ तो लाभ होगा, ऐसी रुचिरूप कुपथ्य आहार लेने से आत्माको मिथ्याज्वर हुआ है, उससे विवेकमल्ल निर्बल हो गया है। पहले विवेकमल्ल प्रगट हुआ था और फिर वह निर्बल हो गया— ऐसा नहीं है; परन्तु व्यवहार कथनकी ऐसी रीति है।

स्वरूपाचरण पक्षको श्रद्धापूर्वक सुधारना। मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ, ऐसी श्रद्धारूपी बूटीके द्वारा सुधारकर सेवन करे तो मिथ्याज्वर मिट जाए और स्वस्थ हो जाए। विवेकका उत्पाद होने पर अविवेक मिट जाए। अविवेकको विवेकमल्ल पछाड़ दे तो आनन्द भण्डारका विलास स्वयं

हो। वह स्वश्रद्धा कैसे होती है सो कहते हैं।

अनादि संसारमें अनादिकालसे परका विचार किया–देशकी सेवा करूँ, गाँव, परिवार एवं शरीर को सुधारूँ–विकास करूँ—ऐसे परके विचारमें अनन्तकाल बीत गया। धर्मी जीव विचार करता है कि–परके विचारोंमें एकाग्र होने से ज्ञानचेतना अशुद्ध हुई। अब स्वआचार पक्षका सेवन किया जाए तो अविनाशी पदकी प्राप्ति हो। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ,—ऐसे श्रद्धान–ज्ञान करे तो आत्मसाक्षात्कार हो, अन्य कोई रीति नहीं है।

धर्मात्मा विचार करता है कि—मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? वह कैसे प्राप्त हो ? —इसप्रकार तीन प्रश्न करता है। प्रथम पद अपने चैतन्यके जाज्वल्यमान ज्ञान-दर्शनकी व्यक्तता है; वह उपयोगका प्रकाश है। उसके भेद करते हैं। एक दर्शन-ज्ञान उपयोग है और दूसरा चारित्र उपयोग है। दर्शन देखता है और ज्ञान जानता है तथा चारित्र अन्तरंग आचरण करता है—इसप्रकार ज्ञेयको देखकर-जानकर आचरण किया। परको जाना और परको देखा, परन्तु अपना भगवान आत्मा संपूर्ण विद्यमान है उसमें उपयोग नहीं लगाया। पर्याय क्षणिक है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। त्रैकालिक स्वभाव एक रूप है वह मेरा स्वरूप है, उस ओर उपयोग नहीं लगाया, इसलिए अतीन्द्रिय सुखका लाभ नहीं मिला।

अनन्त तीर्थंकर हुए वे अपने स्वभावमें उपयोग लगाकर शुद्ध हुए; अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्तरके अवलम्बनसे एकाग्रता करके परमानन्ददशा प्राप्त करके सुखी हुए। अब मुझे भी ऐसा स्वरूप शुद्ध करना है। वस्तु तो शुद्ध है परन्तु पर्यायमें शुद्धता करना है। पर्यायको स्वभावोन्मुख करके शुद्ध करना है–ऐसा धर्मात्मा विचार करता है।

धर्मात्मा निरन्तर स्वरूपका सेवन करता है। अशक्तिके कारण राग आता है उसे जानता है, परन्तु रागादिका सेवन नहीं करते। तीर्थंकरोंने पूर्णदशा प्रगट की है, मुनि सेवन कर रहे हैं। भक्ति, पूजा, यात्राका शुभराग होता है परन्तु वह व्यवहार जाननेयोग्य है, वह मूलस्वरूप नहीं

है; उस समय भी स्वरूप सेवनकी दृष्टि है। स्वरूपको भूलनेवालेकी भक्ति आदि व्यर्थ हैं। स्वरूपकी प्रतीति हो तो रागको व्यवहार कहा जाता है। धर्मात्मा द्रव्य-गुण-पर्यायको जानकर, परपदार्थको आत्मासे भिन्न जानकर विचार करना है कि मेरा पद सर्वोत्कृष्ट है, उसका अवलोकन करके अपना कार्य करना उचित है। चिदानन्दसूर्य कर्मरूपी बादलोंमें ढँक गया है, तथापि स्वरूप सूर्यका प्रकाश बादलोंसे नहीं ढँका है। यहाँ पर्यायमें न्यूनता–त्रुटि है उसकी बात नहीं है, स्वभावकी बात है। चैतन्यसूर्य कर्मोंसे आच्छादित नहीं है, निमित्तरूपसे कर्मोंका आवरण है, तथापि वे चिदानंद स्वरूपका घात नहीं कर सकते। मेरे चैतन्यस्वभावको जड़ बना दे ऐसी किसी की शक्ति नहीं है। कषायचक्र आत्माको अचेतन नहीं कर सकता। मेरी वस्तु तो ज्यों की त्यों विद्यमान है। धर्मात्मा श्रद्धा-ज्ञानके लिए विचारता है। मैंने अपने स्वभावकी सँभाल न करके पुण्य-पापभावको सँभाला वह मेरी भूल है। मैं ही अपने स्वपदको भूला हूँ, किसीने वह भूल नहीं कराई है। मेरा ज्ञानानन्द सूर्य कभी जड़ नहीं हो सकता, शरीर या कर्मरूप नहीं हो सकता; तथापि अपनी भूलसे शरीर और कर्मादिको अपना मानकर स्वरूपको भूला हूँ—ऐसा विचार धर्मात्मा करता है। अहा! अन्तरमें विद्यमान अपनी चैतन्यनिधिको भूलकर परको अपना मान रहा हूँ, उस भूलको सुधारकर निजपदको देखे तो स्वपद तो ज्योंका त्यों पड़ा है। शरीरादि जड़ है, पर्यायमें विकार-दोष है। दोष रहित स्वभाव प्रभु तो ज्योंका त्यों विद्यमान है।

'सम्यग्ज्ञानदीपिका'में दृष्टान्त है कि :—पानी से भरपूर तालाब है; वहाँ कोई धोबी कपड़े धोने जाता है। कपड़े धोते-धोते उसे प्यास लगती है, परन्तु वह विचारता है यह दो कपड़े बचे हैं इन्हें धोकर पानी पिऊँगा। इसप्रकार धोनेके लोभमें उसने पानी नहीं पिया और प्यासा रहने से चक्कर आ गया और मूर्छित हो जानेसे उसकी मृत्यु हो गई। गुरुने कहा है कि भाई ! अपने पदको सँभाल ! परन्तु शिष्य एकके बाद एक काममें लगा रहता है। पुत्र-पुत्रीका विवाह कर लूँ, कुटुम्बकी व्यवस्था बराबर हो जाए, व्यापार बराबर चलने लगे, इसप्रकार एकके पश्चात् एक विकार भाव करता

रहता है। कदाचित् पुण्य परिणाममें आया तो वहाँ दया-दान, व्रत पालनादिमें मोक्षमार्ग मानकर रुक जाता है, परन्तु अपने चैतन्य पदको नहीं संभालता। इतनेमें आयु पूर्ण हो जाती है और मनुष्यभव हार जाता है।

यहाँ, अनुभवप्रकाशमें रत्नका दृष्टान्त देते हैं :—

जैसे कोई रत्नद्वीपका मनुष्य रत्नके मन्दिरमें (घरमें) अनेक रत्नोंके बीच रहता था। वह मनुष्य अपनी कमरमें पहिने हुए कटिबंध से भी परिचित नहीं था। उस कटिबंधमें अनेक बहुमूल्य नीलमणि आदि रत्न लगे थे। वह मनुष्य अपने प्रदेशमें आया; उसके कटिबंधमें अनेक प्रकारके मणिरत्न होने पर भी अन्जान था। एक दिन वह सरोवरमें स्नान करने गया। वहाँ कटिबंधके मणिकी प्रभासे सरोवरका जल हरा हो गया। एक जौहरीने देखा और उसके कटिबंध से मणि निकालकर उस मनुष्यको राजाके पास ले गया। एक मणिके बदलेमें एक करोड मन्दिर भर जायँ इतनी सुवर्ण मुद्राएँ उसे राजाके पाससे दिलवा दीं। तब रत्नद्वीपका मनुष्य पश्चाताप करने लगा कि अरेरे ! उस द्वीपमें तो रत्नों के ढेर थे, परन्तु मैं उन्हें नहीं पहिचान पाया !

वैसे ही आत्मा अनाकुल शान्तिसे भरपूर है, उसमेंसे सम्यग्ज्ञानकी एक पर्याय विकसित हो जाए तो उसका मूल्य महान है। फिर चिदानन्द आत्माका तो कहना ही क्या ? उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, स्वच्छत्व, विभुत्व, अस्तित्व आदि अनेकगुण रत्नोंके समान भरे हैं। गुरुने उससे कहा कि श्रुतज्ञानमें बड़ी शक्ति है, तब केवलज्ञान प्रगट करे उसकी तो क्या बात ! पर्यायकी निधि शुद्ध आत्मा है। वह ज्ञानसे जगमगाता, आनन्दसे दीप्तिमान एवं शान्ति से परिपूर्ण है। जितने सिद्ध हुए वे अन्तर्मुख दृष्टिसे हुए हैं। अपना निधान अपने ही पास है; उसे जानने पर ही सुखी होता है।

स्वोन्मुख हुई श्रुतज्ञान की एक पर्यायमें सर्वज्ञ जो कहते हैं वह सब परोक्ष रीतिसे भासित हो जाता है। ऐसी कला श्रुतज्ञानमें है। प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट करे ऐसा आत्मा मेरे समीप है, इसलिए मेरा आत्मा

ज्ञानका धारक है। शरीर, मन, वाणीने ज्ञानप्रकाश धारण नहीं किया है; मेरा स्वरूप अनन्त चैतन्यशक्ति स्वभावसे शोभायमान है। जितने गुण परमात्मामें हैं उतने ही मुझमें हैं। कस्तूरी मृगको अपनी नाभिमेंसे कस्तूरीकी सुगंध आती है, तथापि वह मानता है कि यह सुगंध बाहरसे आ रही है, इसलिए वनस्पतिको सूँघने जाता है; वैसे ही मैं ज्ञानान्दस्वरूप हूँ, समस्त पदार्थ मेरे अस्तित्वमें ज्ञेयरूपसे ज्ञात होते हैं, तथापि पुस्तकोंमें, पर्वतोंके एकान्तमें तथा बाह्य संयोगोंमें आत्मभगवान को खोजने जाता है वह भूल है। अपना भगवान अपने समीप ही है। अपना उपयोग अर्थात् जानने-देखनेका व्यापार स्वभावमें एकाग्र करनेसे सुख होता है, वह मेरे आधीन है। किसी के श्राप देने से कोई दुःखी नहीं है और किसीके आशीर्वाद से किसीका कल्याण नहीं होता।

कोई जीव पापके परिणाम करके आत्माको बेचता है, कोई जीव पुण्यके परिणाम करके बेचता है, कोई रागरहित शुद्ध आत्माके श्रद्धा-ज्ञान करके आत्माको अपनेमें-अन्तरमें-बेचता है; आत्मा तो वह का वही है; मूल्यांकन करनेवाले पर आधार है। कोई पापमें सुख मानता है, कोई पुण्यमें सुख मानता है, कोई धर्मात्मा जीव चैतन्य को सँभालनेमें सुख मानता है। इसप्रकार मूल्यांकन करनेवाले पर आधार है। अंतरमें शुद्ध चैतन्यस्वभाव ज्योंका त्यों विद्यमान है; अपने परिणामरूप उपयोग को धारण कर रखूँ तो अनादिकालीन दुःखका अन्त हो जाए और परमपदसे भेंट हो !—ऐसा धर्मात्मा जीव विचारता है।

प्रवचन–१०

पौष कृष्णा ३०, मंगलवार दि. १६-१२-५२

निज सुख निज उपयोगमें कहा है, तथापि दुर्लभ क्यों हो रहा है वह कहते हैं। आत्माका आनन्द कहो, धर्म कहो या मोक्षमार्ग कहो, सब बातें एक ही हैं। मुमुक्षु जीव विचारता है कि मेरे आत्मामें ज्ञाता-दृष्टारूप दशा है; उसी क्षण राग-द्वेषादिका परिणमन होता है। अपनेको नहीं जानने से रागमें रुका हुआ है, उसके बदले अपने को जाननेमें रुके तो सुख उत्पन्न हो; मेरा ज्ञान-दर्शन स्वभाव त्रिकाल है। ज्ञानका स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। संसार एक समयका है। ज्ञाता-दृष्टाके परिणामको राग-द्वेषके साथ एकमेक मानता है वह संसार है और उसी परिणामको स्वभावोन्मुख करे तो निजपद की प्राप्ति है।

रागदशामें दया-दानादिके परिणाम होते अवश्य हैं, परन्तु वह विषमभाव है, विरुद्धरूपसे होते है। जानने-देखनेके परिणाम धारावाही होते हैं। उन परिणामोंको त्रैकालिक स्वभावमें धारण कर रखना वही धर्मका उपाय है। परिणामको अन्तर्मुख करूँ तो अनादिका भ्रम मिट जाए। धर्मी विचारता है कि इस रीतिसे पूर्णानन्दसे भेट करूँगा और अनादिकालीन दुःख दूर हो जाएँगा। वस्तु स्वभावसे प्राप्त है परन्तु परके ओरकी रुचि है, इसलिए पर्यायमें उसकी प्राप्ति नहीं है। जीव किसी भी क्षेत्रमें हो तथापि आत्मा तो निजानन्दका भण्डार है, उसकी ज्ञाता-द्रष्टा पर्यायको स्वभावमें धारण करना वही धर्म है। ऐसा विश्वास पहले होना चाहिए।

अन्तरके आनन्दस्वरूपकी प्राप्ति करनेका यह सुगम मार्ग है। शरीर की क्रिया शरीर से होती है; विकार उस कालकी योग्यतानुसार होता है; उस समय जाननेके परिणामको अन्तरोन्मुख करना वह धर्म है। देव-गुरु-शास्त्रने यह कहा है; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें ज्ञान व्याप्त है, दर्शन भी

तीनोंमें व्याप्त है। इसप्रकार ज्ञानको अन्तर्मुख करना वही निज-अनुभवका मार्ग है।

यह मार्ग सर्वज्ञोंने देखा है। स्वरूप प्राप्त करनेका मार्ग सुगम है, परन्तु उसे दृष्टिगोचर करना दुर्लभ है। दया-दानादिके परिणाम अनेक बार किए हैं, इसलिए वे सरल लगते हैं। वास्तवमें वस्तु तो सुगम है। चैतन्यके परिणाम स्वके आधीन हैं इसलिए सुलभ है। झूठे अभ्यास द्वारा अन्तर्मुख उपयोग करना दुर्लभ है। कषाय मन्द करें तो लाभ होगा, व्यवहार करें तो लाभ होगा-इसप्रकार परमें और व्यवहारमें रुचि है इसलिए यहाँ दुर्लभ कहा है।

रागमें कर्तृत्वकी रुचि छोड़कर मैं त्रैकालिक ज्ञाता हूँ—ऐसी रुचि रखकर देखे तो जिस काल राग होना है सो होना है तथा उसका लक्ष जहाँ जाना है सो जाना है। पर पदार्थों पर और राग पर दृष्टि है उसे स्वसन्मुख करना ही सुखका उपाय है।

धर्मात्मा कहता है कि मैंने श्रीगुरुके प्रसादसे यह मार्ग प्राप्त किया है। उसे गुरुके स्वरूपकी खबर है। जो दया-दानादिके रागसे धर्म मनवाए वह गुरु नहीं है। निश्चयसे तो अपने आत्माके द्वारा मार्ग प्राप्त किया है, परन्तु व्यवहारसे गुरुके प्रसादसे प्राप्त किया-ऐसा कहा, उसमें निमित्त कैसे होते हैं वह बतलाते हैं तथा विनय प्रदर्शित करते हैं। उनके प्रसादसे अनुभूतिको प्राप्त किया है।

मेरा आत्मा परसे भिन्न अखण्ड ज्ञानानन्दरूपसे अनुभवप्रकाशमें विद्यमान है। धर्मका निवास मेरे अनुभवप्रकाशमें है वह चित्तमें या पुण्य-पापमें नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा परिणाम द्वारा परिणामी ऐसे आत्माको पकड़ना सुलभ है, परन्तु विपरीत दृष्टिसे दुर्लभ लगता है। परिणाम को राग और परमें लगा दिया है, इसलिए स्वभावकी रुचि नहीं होती।

मेरा सुखनिवास वचनगोचर नहीं है, भावनागम्य है। मैं चिदानन्द प्रकाशसे तन्मय हूँ। जैसे सूर्य प्रकाश से तन्मय है और अन्धकारसे अतन्मय है वैसे ही चिदानन्दसूर्य ज्ञातृत्व परिणामसे तन्मय है, परन्तु वह

राग-द्वेषादिके साथ कदापि तन्मय नहीं हुआ है; तब फिर शरीरादिके साथ तन्मय हो ऐसा कभी नहीं हो सकता। जड़की पर्यायका आत्मामें अत्यन्त अभाव है। जड़की पर्याय एक समय भी आत्माकी पर्यायमें प्रविष्ट नहीं होती। विकार आत्माकी एकसमयकी पर्यायमें है, परन्तु वस्तुस्वभावमें उस विकारका भी अत्यन्त अभाव है।

मेरा ज्योतिस्वरूप स्वभाव प्रगटरूपसे मेरे आत्मामें प्रकाशित हो रहा है; सम्यग्ज्ञान प्रकाश घटमें–अन्तरमें–प्रगट है, वह कहीं छुप नहीं गया है।

गुरुने शिष्यसे कहा कि नमककी डली पानीमें डालो। शिष्यने डाली और वह गल गई। दूसरे दिन गुरुने शिष्यसे कहा कि नमककी डली ले आओ। शिष्यने कहा कि पानीमें वह डली कहीं नहीं है। गुरुने कहा कि नमक की वह डली हाथ नहीं आएँगी, परन्तु पानीका स्वाद चखो तो ख्याल आ जाएँगा।

वैसे ही हाथकी क्रियासे आत्मा नहीं मिलेगा, पुण्य-पापकी क्रियासे भी नहीं मिलेगा, परन्तु आत्मा तो ज्ञानस्वभाव द्वारा प्राप्त हो ऐसा है। अज्ञानी कहता है कि मुझे समझमें नहीं आता; परन्तु जहाँ समझमें नहीं आता वहीं आत्मा ज्ञान द्वारा पकड़में आएँ ऐसा है।

यहाँ कहते हैं कि ज्योतिस्वरूप प्रकाश अन्तरमें प्रकाशित हो रहा है; वह देखता है, छुपा हुआ नहीं है, ज्ञान स्वभावसे प्रगट है, उसे छुपा हुआ क्यों मानते हो ? ''मुझे आत्माकी खबर नहीं पड़ती''—ऐसा कहता है, परन्तु खबर नहीं पड़ती—इतनी खबर जिसे पड़ी वही आत्मा है। यहाँ जो प्रगट वस्तु है उसे अप्रगट क्यों करते हो ? तू नहीं माने तथापि प्रगट वस्तु अप्रगट नहीं होती। प्रगट वस्तुको नहीं माने तो भ्रममें पड़कर परिभ्रमण करे, परन्तु वह अप्रगट नहीं होती।

अज्ञानीको विश्वास नहीं आता; अपनी विपरीत कल्पना से दुर्लभ मानता है। प्रगटको अप्रगट माना इसलिए अनादि दुःखरूप फल प्राप्त किया। शरीर पुद्‌गलकी अवस्था है उसे आत्मा कैसे मानें ? शरीर तो

रक्त, वीर्य आदि सप्त धातुओंसे बना है। आत्मा चेतन है, शरीर अचेतन है। आत्मा सजातीय है और शरीर विजातीय है। आत्मा अविनाशी है, और शरीर नाशवान है। आत्मा स्व है और शरीर पर है।

प्रश्न :—शरीरकी क्रिया धर्मके लिए करें या नहीं ?

समाधान :—शरीरकी क्रिया किस दिन की जा सकती है कि करो, ऐसा कहा जा सके ? उसे आत्मा नहीं कर सकता इसलिए करना या नहीं वह प्रश्न ही नहीं रहता। शरीरकी क्रियासे लाभ माननेवाला शरीरको अपना माने बिना रहेगा ही नहीं, देखादेखी कहे कि आत्मा और शरीर भिन्न हैं, परन्तु जो शरीर को धर्मका साधन मानता हो वह उसे अपना माने बिना रहेगा ही नहीं।

प्रश्न :—व्यवहारसे तो लाभ होगा न ?

समाधान :—शरीरकी क्रिया तो व्यवहारसे भी नहीं कर सकता, परन्तु जिसे अपने स्वभावकी प्रतीति है उसके शुभरागको व्यवहार कहा जाता है। चिदानंद स्वभावमें संसार नहीं है तथा मुक्ति भी नहीं है। ऐसी दृष्टि नहीं है वह शरीरसे लाभ माननेवाला स्थूल मिथ्यादृष्टि है।

अब कर्मकी बात करते हैं। ज्ञानावरणीय कर्मवर्गणा मेरी वस्तु नहीं है; उसे मन्द करूँ तो लाभ होगा ऐसा मानता है वह भूल है। कर्म मुझे आनन्द देंगे—ऐसा नहीं हो सकता। कर्ममें अनुभागबंध हुआ वह मुझे रस देनेमें समर्थ नहीं है। अज्ञानीने माना है कि ज्ञानावरणीय कर्म मुझे फल देगा वह भूल है। आत्माको फल दे सके ऐसी शक्ति ज्ञानावरणीयमें नहीं है। कर्म मेरा रस दे नहीं सकते और उसका रस मुझमें आ नहीं सकता। उस कर्मसे मेरी ज्ञानपर्याय हीन नहीं हो सकती। ज्ञानकी हीन दशा हो तब ज्ञानावरणीय कर्मको निमित्त कहा जाता है। वहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझाया है। आनन्दरसके पाकमें कर्म निमित्त हो ऐसा नहीं है; इसलिए वे समस्त कर्म मेरे नहीं हैं।

अब दया, दान, जप, तपादिके विभावकी बात करते हैं। विभाव स्वभावको मलिन करता है। रागकी मन्दता होने पर जो ज्ञानका विकास

हो और अकेले परको पकड़े वह वास्तवमें चैतन्यकी पर्याय नहीं है।

(१) शरीरकी क्रिया तो अचेतन है।

(२) रागादि परिणाम विभाव होनेसे आत्माका त्रैकालिक स्वरूप नहीं हैं, इसलिए उन्हें अचेतन कहा है।

(३) मिथ्यादृष्टिको रागकी मन्दता द्वारा हुआ ज्ञानका विकास अथवा क्षयोपशमभाव वास्तवमें चैतन्यकी पर्याय ही नहीं है, इसलिए उसे अचेतन कहा है। ज्ञानीको जो ज्ञानका विकास है वह स्व-पर पदार्थोंको यथार्थ जानता है। वस्तु त्रिकाल है, ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसकी पर्याय स्व-परप्रकाशक है। परन्तु ज्ञानस्वभावको मात्र परप्रकाशक मानना वह अज्ञान है, वह चैतन्यकी जाति नहीं है। एकान्तसे परप्रकाशक ज्ञान पर्याय से अपनेको लाभ होगा। ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है विभाव है, वह स्वभावको मलिन करता है। विभावादि परिणाम स्वभावके साथ तन्मय नहीं है, इसलिए वे भी मेरे नहीं हैं। अन्तर्मुख परिणामसे लाभ है और परोन्मुखतासे हानि है। बाह्यमें लाभ मानता है उसे अन्तर्मुख होनेका अवकाश नहीं रहता।

अपना चेतनापद मैंने प्राप्त किया। शरीर वह मैं नहीं हूँ, कर्म मुझे पाक नहीं देता; विभावादि परिणाम अपनी पर्यायका अपराध है, तथापि वह त्रैकालिक स्वभाव नहीं है, मेरा यह पद ज्ञाता-द्रष्टापना है। राग पद या शरीर पद मेरा नहीं है। ऐसा श्रवण करे, ग्रहण करे, धारण करे तथा रुचिगत करे उसे सुख प्रगट होगा।

चेतनपद कैसे प्राप्त हो ? आत्माका लक्षण ज्ञान है, वह आत्मामें व्यापक है; उस ज्ञानके लक्षण द्वारा लक्ष्य अर्थात् चेतनको जानना वह उपाय है—ऐसा प्रथम ख्यालमें आना चाहिए। प्रथम उसका स्वीकार करना चाहिए। तेरी वस्तु पूर्ण है उसको स्वीकार तो कर, इस रीतिसे अंतरमें प्रवेश हो सकेगा प्रथम स्वलक्षण द्वारा आत्माको पहिचान कर उसी स्वरूपकी श्रद्धासे आनन्दकन्दकी केलि कर। जो ज्ञातृत्वके परिणाम व्यक्त दिखाई देते हैं उतनेमें ही सम्पूर्ण वस्तु नहीं आ जाती। स्वरूप

अखण्ड है; जिसे स्वरूपकी महिमा वर्तती है उसे सुदेवादि निमित्तोंकी महिमा आए बिना नहीं रहती। अज्ञानीको विभाव और विभावकी पुष्टि करनेवालोंकी महिमा आती है। कुदेव, कुगुरु आदिको स्वरूपका साक्षात् घातक माने बिना धर्मका मार्ग नहीं मिल सकता। यहाँ कहते हैं कि आत्मा असंख्यप्रदेशी, आनन्दकंद है, उसमें रमणता करके सुखी हो।

आनन्दकन्दमें रमणता कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, अथवा मोक्षमार्ग कहो–सब एक ही है। उसमें रमणता से मैं सुखी होऊँ। वह आनन्दकेलि निजस्वरूप श्रद्धासे होती है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–११

पौष शुक्ला १, बुधवार दि. १७-१२-५२

आत्माका स्वभाव आनन्दकन्द है; उसकी आनन्ददशा स्वरूपश्रद्धासे होती है; वह स्वरूपश्रद्धा कैसे हो ? सो कहते हैं। राग या पुण्य से अनुभवदशा होती है ऐसा नहीं कहा; स्वरूपश्रद्धासे आनन्दका अनुभव होता है। ज्ञान वह आत्माका लक्षण है। राग, पुण्य, व्यवहार या निमित्त आत्माका चिह्न नहीं है। कैसा है स्वरूप ? अखण्डित गुणका पुंज है तथा पर्यायका धारक है। इसप्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय तीनोंको लिया। अपनी पर्याय उसने धारण कर रखी है। तथा ज्ञानादि गुणकी परिणतिरूप अर्थात् उसकी पर्यायरूप ऐसी निजवस्तुका निश्चय हुआ वह श्रद्धा है।

अब भेद करके कहते हैं। श्रद्धामें निर्णय किया है कि ज्ञानका स्वभाव ज्ञाता मात्र है; राग करे या निमित्त लाए अथवा दूर करे—ऐसा ज्ञानका स्वभाव नहीं है, परन्तु राग तथा निमित्तादिका ज्ञाता है। निश्चयसे अपनेको जाननेवाला स्व-पर प्रतिभासरूप ज्ञान है। दर्शन देखने मात्र है; विकार को उत्पन्न करे, टाले अथवा संयोगोंको लाए या छोड़ें—ऐसा स्वरूप नहीं है। सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त है। निरन्तर नवीन पर्यायकी उत्पत्ति, पूर्व पर्यायका विनाश और स्वयं नित्य स्थाई—ऐसी सत्ता है। दूसरेका करे ऐसा आत्माका स्वरूप नहीं है। तथा वीर्यगुणसे परको चलाए या परको समझाए ऐसा बल भी आत्मामें नहीं है। वस्तुमें अनन्तगुणोंके सामर्थ्य की प्राप्ति मात्र कार्य वीर्यका है —ऐसी श्रद्धा करना चाहिए। आत्मा मात्र ऐसे गुणोंका पिण्ड है। ऐसी प्रतीति–भाव करना उसे श्रद्धा कहते हैं। आत्मा ऐसे गुणोंवाला है–ऐसा जो देव-गुरु-शास्त्र कहते हैं और उनके प्रति रागसहित श्रद्धाको व्यवहारश्रद्धा कहते हैं और निजस्वरूपकी श्रद्धाको निश्चयश्रद्धा कहते हैं।—ऐसी श्रद्धा करनेसे तथा आनन्दकन्दमें केलि करने से सुखी होते हैं; अन्य कोई रीति नहीं है।

अब, उनके प्रकार बतलाते हैं :—''ज्ञानका आनन्द जाना वह ज्ञान-आनन्द'', ''चिदानन्दका देखना वह दर्शन-आनन्द'', और ''आनन्दकी परिणति विशेष हुई वह चारित्र आनन्द है''। इसप्रकार अनन्तगुणोंके आनन्दका मूलकारण अभेदस्वभाव है। पहले गुणभेदसे बात समझाई थी; दर्शनानन्द एवं ज्ञानानन्द ऐसे भेद किए थे; अब अभेद स्वभावमें परिणतिको केलि कराना ऐसा कहते हैं।

प्रथम रागसहित ज्ञानद्वारा ऐसा निर्णय करके भेदज्ञान द्वारा मात्र निजस्वरूपकी श्रद्धा करे तो उस रागको व्यवहार–निमित्त कहा जाए।

अनन्तगुणोंके धारक, आनन्दकन्द ऐसे निजात्माके आश्रय से अपनेमें परिणतिको केलि कराना सो सुख है; वह सुख समूह हुआ। इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है।

परम कृपालु भगवानने स्वभाव समझनेकी योग्यतावान जीवोंको यह रीति बतलाई है। सर्वज्ञकी वाणीमें ऐसा पंथ आया है। व्यवहार आए उसका तथा निमित्तका ज्ञान होता है, परन्तु अनन्तगुणोंके पिण्ड स्वरूपकी श्रद्धा एवं रमणता करना–यह एक ही सुखका पंथ है—ऐसा भगवानकी वाणीमें आया है।

स्वयं भगवान है, अनन्त शक्तिका पिण्ड है उसकी भावनासे संत–महंत हुए हैं। मैंने भी ऐसी भावनाके अवगाढ स्तम्भकी स्थापना की है, चिदानन्द हूँ ऐसी प्रतीति की है, माणिकस्तंभका आरोपण किया है। सम्यग्दृष्टिको ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है।

प्रश्न :—भेदज्ञान होनेसे पूर्व क्या करना ?

समाधान :—भेदज्ञान कैसे हो उसका अभ्यास करना। सम्यग्दृष्टिको निरन्तर ऐसा अभ्यास रहता है; उसके अभ्याससे कर्मका अभाव होता है; अन्य कोई रीति नहीं है। कर्मका अभाव होकर, ज्ञान अपने आनन्दरससे मण्डित होकर शोभित हो और सुखका पुंज प्रगटे अर्थात् अरिहंतदशा प्राप्त हो तब कृतकृत्य होता है।

यह आत्माका स्वरूप अनादिसे गुप्त हो रहा है, वह किसप्रकार प्रगट हो ? परमात्मदशा प्रगट नहीं है परन्तु वर्तमानमें अल्पदशा है, उसमें निर्णय करता है कि अन्तरके अवलम्बनसे पूर्णदशा होगी इसप्रकार परोक्षज्ञान करके भावना बढ़ाते हैं। उसकी सिद्धि कैसे हो, अर्थात् केवलज्ञान कैसे हो ? केवलज्ञान वर्तमानमें नहीं है, परन्तु स्वभावमें से प्रगट होगा। पूर्ण प्रगटता नहीं हुई है, परन्तु श्रद्धाने शक्ति स्वीकार की है। उसकी सिद्धि कैसे हो यह कहते हैं।

जैसे दीपकको पाँच पट (आवरण) हैं। एक पट दूर होनेसे अल्प प्रकाश हुआ, दूसरा पट दूर होने से प्रकाशमें कुछ वृद्धि हुई, तीसरा पट हटनेसे और अधिक हुआ चौथा पट उठनेसे उससे भी अधिक हुआ तथा पाँचवाँ आवरण हटा तब तो निरावरण प्रकाश हो गया।

आत्मा चैतन्यरूप दीपक है, उसका ज्ञानप्रकाश है। ज्ञानावरणरूप पाँच आवरण हैं। मतिज्ञानावरणीय हटने पर स्वरूपका मनन किया, अर्थात् मतिज्ञानावरणीय कम हुआ। चिदानंद हूँ ऐसा मनन करने पर मतिज्ञानावरणीयका क्षयोपशम हुआ। निमित्त आए तो कार्य हो, राग हो तो धर्म हो—इसप्रकार अनादिकालसे परका मनन था। बिजलीका बटन दबाओ तो प्रकाश होगा ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु प्रकाशकी योग्यता से प्रकाश होता है तब बटनको निमित्त कहा जाता है।

यहाँ आत्माने मनन किया वह अपनी दशा है, और मतिज्ञानावरणीय कर्म उसके अपने कारणसे हट जाता है, क्षयोपशमरूप होता है। आत्मा कर्मका कुछ भी नहीं करता।

अनादिसे परसे कार्य होना मानता था; ऐसा जो परका मनन था वह स्वरूपका मनन करनेसे मिट गया; फिर ऐसी प्रतीति हुई कि जैसे कोई पुरुष निर्धन है और ऋणी है; परन्तु उसके पास चिन्तामणि है। तब किसीने कहा कि तू मणिके निमित्तसे चिन्तवन करेगा तो धनका ढेर हो जाएँगा। अमुक व्यक्तिको चिन्तामणिके निमित्तसे धनकी प्राप्ति हुई थी, इसलिए तू भी चिंतवन द्वारा निधि प्राप्त कर ले। उसके चिंतवन द्वारा

अवश्य फल प्राप्त होगा। प्रतीतिमें तो चिन्तामणि प्राप्त करने जैसा हर्ष हुआ है।

इसप्रकार आत्मा चिन्तामणि समान है; उसकी प्रतीति करनेमें भी आत्मप्राप्ति जैसा हर्ष होता है और एकाग्र हो तो पूर्णानन्द प्रगट हो सकता है। चिदानन्द आत्माके मननसे प्रतीति हुई वहाँ सम्यग्ज्ञान एकदेश विकसित हुआ तब केवलज्ञानका शुद्धत्व प्रतीति द्वारा आया। सम्यग्दृष्टि-मतिज्ञानी जीव अशुद्ध अंशको अपना नहीं मानता। अशुद्धता वह उपाधिभाव है, वह स्वभावमें नहीं है, इसलिए त्रैकालिक स्वभावमें उसकी कल्पना नहीं करता। पर्यायमें अशुद्धता है उसे ज्ञान जानता है, परन्तु श्रद्धामें शुद्धस्वरूप लिया है। स्वसंवेदन मतिज्ञान द्वारा हुआ है, राग या निमित्त द्वारा नहीं हुआ है। ज्ञातास्वभाव मेरा है, अन्य कोई स्वभाव मेरा नहीं है—इसप्रकार सिद्धि होती है।—ऐसे मतिज्ञानमें विचारकी बात कही।

इसप्रकार श्रुतमें विचारता है कि मैंने मनन किया है कि मेरा स्वरूप ज्ञान है, मैं आनन्द हूँ। इसप्रकार चारों ज्ञान स्वसंवेदन परिणति द्वारा तो प्रत्यक्ष हैं। अवधि और मनःपर्यय ज्ञानरूपी पदार्थको जानते हैं तथापि वह ज्ञान अपना है, अंशतः प्रत्यक्ष है। अवधि–मनःपर्ययज्ञानका वेदन अपना है, जड़का नहीं है।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय—यह चारों ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हैं। अवधि–मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं, सर्व अवधि द्वारा सर्व वर्गणा परमाणुमात्र दिखती है इसलिए एकदेश प्रत्यक्ष कहा गया है। मनःपर्यय ज्ञान भी परके मनको जानता है इसलिए एकदेश प्रत्यक्ष कहा है। जिसे अवधि–मनःपर्यय ज्ञान हो उसकी बात ली है। 'किसीको मति-श्रुतसे सीधा केवलज्ञान होता है, अवधि और मनःपर्ययज्ञान नहीं भी हों। अवधिज्ञान चौथे, पाँचवें या छठवें गुणस्थानमें किसी धर्मात्माको प्रगट होता है। मनःपर्ययज्ञान छठवें गुणस्थानमें किसी मुनिको प्रगट होता है।

केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है।

अपने ज्ञानानन्द स्वरूपका जानना हुआ कि यह ज्ञानमात्र है। उसकी प्रतीति हुई इसलिए सम्यक् नाम प्राप्त किया। यह सम्यक्ज्ञान है। शास्त्रज्ञानको सम्यक् नहीं कहते। स्वयं ज्ञानमात्र है। आत्मा वही ज्ञान है और ज्ञान वही आत्मा है—ऐसी प्रतीति सहित ज्ञानको सम्यक्ज्ञान कहते हैं। शुभाशुभभाव वे आस्रव हैं, अजीव हैं; उनका ज्ञानस्वभाव द्वारा भेदज्ञान नहीं हो तो दया-दानादिके शुभभाव द्वारा संसार परित कैसे होगा? नहीं हो सकता। मिथ्यादृष्टि जीव रागादिको आदरणीय मानता है वह भूल है। आत्मा चैतन्यमूर्ति है—ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञान सम्यक् हुआ, परन्तु उसे पूर्ण शुद्ध नहीं कहा जाता। ज्ञानमात्र वस्तु केवलज्ञान होने पर पूर्ण शुद्ध होती है। जबतक केवलज्ञान न हो तबतक गुप्त ऐसी केवलज्ञानरूपी निजवस्तुको प्रतीतिरूपसे प्रगट करने पर स्वसंवेदन ज्ञान बढ़ता है। यह मार्ग सुलभ है। उलटे मार्गसे सीधे मार्ग पर पहुँचा जाए ऐसा हो ही नहीं सकता।

निम्न दशावान-कि जिसे अल्पज्ञान है वह—किसप्रकार विश्वास लाता है वह बतलाते हैं।

मेरे दर्शन-ज्ञानका प्रकाश अपने ही असंख्यप्रदेशोंसे उठता है। शास्त्रसे या निमित्तसे ज्ञान नहीं होता। अज्ञानी जीव भिन्न-भिन्न निमित्तों को देखता है, परन्तु समय-समयकी परिणति अपने से होती है उसे नहीं देखता। मेरा ज्ञातृत्व मुझसे है, परसे नहीं है; परवस्तुको जानना वह उपचार है। ज्ञानप्रकाशके बिना कौन जानेगा कि यह पर है? मैं अपनेको जानता हूँ, मेरा ज्ञान मुझे जाननेवाला है—ऐसी प्रतीति करनेसे आनन्द होता है। परके कारण ज्ञातृत्व मानता है वह दुःख है। पूर्णप्रकाशक शक्तिरूपसे गुप्त है, परन्तु जितनी जाननेकी पर्याय विकसित हुई उसे आवरण नहीं है। जितने अंशमें आवरणका अभाव किया उतना ज्ञान प्रकाश विकसित हुआ है। चिदानन्द स्वभावमें जितनी एकता हुई उतना आवरण दूर हुआ, इसलिए आत्मा कर्मके आवरण से भिन्न है। विकसित हुई पर्याय मति-

શ્રી દિગંબર જૈન સ્વાધ્યાયમંદિર ટ્રસ્ટ, સોનગઢ - ૩૬૪૨૫૦

श्रुत ज्ञानकी है, वह अपना अंश है, रागादि परिणाम स्वभावका अंश नहीं है, अर्थात् आत्मा नहीं है; परन्तु जो सम्यक्ज्ञान प्रगट हुआ वह आत्मा है।

यहाँ इतना विशेष है कि आवरण दूर होने पर भी ज्ञान जितना परका लक्ष करे उतना अशुद्ध है, क्योंकि वह परमें अटकता है। ज्ञान विकल्प करे उतना अशुद्ध है और अपना कार्य करे उतना शुद्ध है। ज्ञानका विकास स्वज्ञेयको पकड़कर उसमें लीन रहे उतना शुद्ध है। स्वको जानते हुए परको जाने वह रागका कारण नहीं है परन्तु स्वको चूककर परमें रुके वह अशुद्ध है।

केवलज्ञान छद्मस्थ और गुप्त है, व्यक्तरूप नहीं है; परन्तु परोक्षज्ञानमें धर्मी जीव निर्णय करता है कि त्रैकालिक शक्तिरूपसे निरावरण है उसकी प्रतीति करके आनन्दमें वृद्धि करता है। एकके बाद एक निर्मलताके अंशोंको भेदसे देखना वह व्यवहार है, आत्मामें अभेदता हो वह निश्चय है। जघन्य ज्ञानी सम्यक्त्वी अपनी शुद्ध भावनासे शुद्ध होता है—यह निश्चय है। रागकी भावनासे शुद्ध होता है—ऐसा नहीं कहा।

''जैसी मति वैसी गति''—ऐसा वचन है। नित्य ज्ञायकमूर्ति हूँ ऐसी मति करे तो केवलज्ञानका परिणमन होता है; रागको मुख्य करके मति करे तो संसारका परिणमन होता है।

अज्ञानी जीव शरीरको अपना मानता है, इसलिए दुःखी होता है। उसे आत्माकी प्रतीति नहीं है इसलिए मृत्युका भय लगता है। शरीरकी स्थिति पूर्ण होना वह दुःखका कारण नहीं है; एकत्वबुद्धि वह दुःखका कारण है। जिसे आत्माकी प्रतीति है उसे शरीरके वियोगके समय आनन्द होता है दुःख नहीं होता।—इसप्रकार अपनी सम्यक्मति से केवलज्ञानका परिणमन होता है।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

प्रवचन–१२

पौष शुक्ला २, गुरुवार दि. १८-१२-५२

अपना स्वरूप कैसे साक्षात् हो वह कहते हैं—जैसा निर्णय किया हो वैसा परिणमन होता है। मैं राग हूँ, मैं पुण्य हूँ, मैं शरीर हूँ, और शरीर से लाभ होता है—ऐसी मति हो तो संसारकी गति होती है। मैं ज्ञानानंदस्वरूप हूँ, शरीरसे भिन्न हूँ—ऐसी मति हो तो आत्माका साक्षात्कार होता है।

प्रथम निर्मलभावसे संसारभावको गौण करे, हलका बनाए। दया-दानादिके भाव होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है; संसारका संपूर्ण भाव अधः (गौण) करे। चैतन्यस्वभाव आनन्दकंद है, वह ऊर्ध्वस्वभावी है, उसकी अपेक्षा शुभाशुभभाव अधः (हलके) हैं, इसलिए उन्हें अधः (गौण) करे। कैसे करे सो कहते हैं।

आत्मामें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र कैसे हों वह बतलाते हैं। शरीरादि सर्व रूपी जड़ पदार्थ हैं उनमें ममत्व नहीं करना; शरीरकी क्रिया मुझसे नहीं होती। काजलमें कालिमा तन्मय है, वैसे ही जड़की क्रिया जड़से तन्मय है, मुझसे तन्मय नहीं है। शरीरमें स्वपना (अपनत्व) माननेसे सुख नहीं होगा परन्तु दुःख ही होगा।

तथा राग-द्वेष-मोह भाव सब विकार हैं, वे मेरा स्वभाव नहीं हैं। अशाताका भाव, तृष्णाभाव अथवा इच्छाका होना वह सब हेय है। चिदानन्दको छोड़कर पुण्य-पापका भाव वह अविश्रामभाव-खेद है। पुण्य-पापभाव अस्थिरभाव हैं, दुःखभाव हैं, आकुलताभाव हैं, खेदभाव हैं। आस्रवभाव अज्ञानभाव है, क्योंकि विकार अपनेको तथा आत्माको नहीं जानता, इसलिए अज्ञानभाव है, हेय है। आत्मामें आनन्द कब होगा ?—कि यह समस्तभाव हेय हैं ऐसा जानेगा तब।

अब उपादेयभावकी बात करते हैं। मैं शुद्ध चैतन्यभाव हूँ, ज्ञानमात्रभाव हूँ। पुण्य-पापकी आकुलतासे रहित शांतभाव उपादेय है। चिदानन्दमूर्ति ज्ञाताद्रष्टा है, उसमें स्थिरता करे उसे विश्राम–उपादेय कहते हैं; वह अंगीकार करने योग्य है। स्वभावमें स्थिरता उपादेय है। आकुलता रहित अनाकुलभाव उपादेय है। जैसे पृथ्वीमें जहाँ भी खोदें वहाँ सर्वत्र पानी ही निकलता है, वैसे ही आत्मा कहीं भी हो तथापि आत्मसन्मुख देखे तो आनन्दरूपी जल निकलता है। आत्मामें दृष्टि करे तो तृप्ति होती है; पुण्य-पाप विकल्पमें तृप्ति नहीं है। निजभाव—अपना ज्ञानानन्दस्वभाव आत्माके साथ तन्मय है, वह उपादेय है।

अब, विशेष कहते हैं। आत्माकी परिणतिमें स्वयं आत्मा है; हिंसादि तथा दया-दानादि विकारभाव होते हैं वह वास्तवमें आत्माकी परिणति नहीं है, वह अनात्मा है। निर्दोष ज्ञानस्वभावमें तन्मय हूँ—ऐसी आस्था करने से आत्मा प्रगट होता है। शरीरकी क्रियासे या पुण्य-पापकी क्रियासे आत्मा प्रगट नहीं होता। शिष्य सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको मानता है और वाणी सुनता है, उस समय शुभराग है, परन्तु उससे आत्मा प्रगट नहीं होता। आत्माकी परिणतिमें गुण-गुणी एक हुए। गुणकी परिणति जो कि राग-द्वेषमें एक होती थी उसमें गुण-गुणीका भेद था, वह अब आत्मामें एक हुई—उसमें स्वत्व (अपनत्व) माना, वह स्वपदका साधन है। साधकको राग-द्वेष हो जाता है परन्तु वह साधन नहीं है।

इन ज्ञानानंद परिणामोंको मैंने जाना है, जड़ शरीर इन्द्रियोंने नहीं जाना। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है; ज्ञान ही मैं हूँ—ऐसे परिणामोंसे स्वपदकी आस्था होती है, व्यवहारके परिणामोंसे स्वपदकी आस्था नहीं होती। व्यवहार रत्नत्रयके विकल्प द्वारा स्वपदकी आस्था नहीं होती। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसे परिणामके बिना स्वपदमें स्थिरता नहीं हो सकती।

मेरा निजपद अनाकुल आनन्दमय है, उसमें परिणाम बिना स्थिरता योग्य स्थान प्राप्त नहीं हो सकता।

जो जीव सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको नहीं मानता उसकी तो बात ही नहीं है, परन्तु सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग भी स्वपदका साधन नहीं है। पुण्य-पापके साधनसे स्थिरता नहीं होती, आत्माके अनुभवमें कायचेष्टा साधन नहीं है, वचन-उच्चारण स्वरूपमें साधन नहीं है, मन-चिन्तवन भी साधन नहीं है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ऐसा कहते हैं। वैसा चिन्तवन करते समय राग होता है, परन्तु वह रागयुक्त चिन्तवन स्वरूपका साधन नहीं है। जो चैतन्यस्वभावसे पृथक् हो जाए वह आत्माकी वस्तु नहीं है, जो नित्य रहे वह आत्माका है। मन चिन्तवन विकार है वह आत्माकी शुद्ध परिणतिमें साधन नहीं है।

आत्माके ज्ञाता-द्रष्टा पदमें अपनी लीनता, अपना विश्राम-स्थिरता करे उसे ज्ञान और आनन्द प्रगट होते हैं अर्थात् आत्माका अनुभव होता है। ज्ञानकी वर्तमान दशाका विवेक करना; परके ओर का विचार करने से आकुलता होती है; परन्तु चित्परिणति अन्तरमें एकाग्र हो स्वमें रमण करे उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं और आत्मानंद उपजता है।

तथा मन द्वारा विवेक हो जाने पर मन भी एक ओर रह जाता है। द्वारपाल द्वारा राजा महलमें जाता है, परन्तु द्वारपाल कहीं राजा नहीं है। वैसे ही मन द्वारा विवेक होता है, परन्तु मन कहीं आत्मा नहीं है तथा आत्मा मन नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र कहते हैं कि-स्वभावमें रागका अभाव है और रागमें स्वभावका अभाव है। वैसे ही मन द्वारा विचार करता है परन्तु अंतर स्थिरतामें मन साथ नहीं आता। द्रव्यमनके निमित्तसे विकल्प आते हैं वह पर है और ज्ञान ही आत्मा है।

किसी जीवने व्यवहार पकड़कर उससे निश्चय माना और किसी जीवने माना कि व्यवहार चाहे जैसा हो परन्तु अपने को तो निश्चय ग्रहण करना है;—ऐसी मान्यतावाले दोनों मिथ्या हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका राग आता है, परन्तु उससे धर्म नहीं होता। द्वार चाहे जितना अच्छा हो फिर भी द्वार मकानमें नहीं आता, वैसे ही राग जितना चाहे शुभ हो तब

भी वह अन्तरमें प्रविष्ट नहीं हो सकता। मन तथा उस ओरके रागका अन्तरमें प्रवेश नहीं है।

मनके संकल्प-विकल्पसे आत्मपद प्राप्त नहीं होता; परमानन्दपद गुप्त है, ध्रुवपद रागसे पर है। परमात्मपद गुप्त है उसकी मन (ज्ञानपर्याय) व्यक्त भावना कर सकता है, मन–रागरहित ज्ञानपरिणाम उसे व्यक्त कर सकता है। मैं ज्ञानानन्द हूँ ऐसा विचार करना। पुण्य-पापकी भावना, निमित्त प्राप्त करनेकी भावना, रागकी भावना करना ऐसा नहीं कहा है, परन्तु परमात्माकी भावना से जो शक्ति-स्वभाव है वह व्यक्त होता है और ज्ञानपर्याय स्वभावके साथ अभेद होती है; तब परमात्माके तेजसे मनकी ओरका विकल्प नहीं रहता।

शौर्यवानके तेजसे कायर पुरुष बिना संग्रामके ही मर जाता है। पद्मोत्तर राजा श्रीकृष्णसे युद्ध करने आया। ज्यों ही श्रीकृष्णने शंख फूंका और धनुषकी टंकार की त्यों ही पद्मोत्तर की सेना बिना युद्ध किए भाग गई। सूर्यके तेज से अंधकार पहले ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चिदानंद स्वरूप है—ऐसा अनुभव होने पर मनके संकल्प-विकल्प पहले ही मर जाते हैं। इसप्रकार धर्म होता है, अन्य रीतिसे नहीं होता।

ऐसे निश्चयधर्मको समझे उसके शुभरागको व्यवहार कहा जाता है नहीं तो व्यवहार नहीं कहा जाता। आत्माको जाने बिना शुभरागसे स्वर्ग मिले तो वह किस कामका ? जैसे किसीका प्रिय पुत्र खो गया हो उसके बदले उसे पैसा दे तो किस कामका ? उसे तो पुत्र चाहिए। उसी प्रकार आत्माकी प्रतीति बिना रागादि परिणाम किस कामके ? एक लड़की रास्ता भूल गई और अपनी माँ से बिछुड़ गई। लोग उसे मिठाई दें या कोई खिलौना बतलाएँ तो वह कुछ नहीं ले और कहे कि 'मेरी माँ, मेरी–माँ'–मुझे तो अपनी माँके पास जाना है। दूसरा कुछ नहीं चाहिए।

वैसे ही ज्ञानानन्द स्वभावके ज्ञानको छोड़कर कोई पुण्यका फल दे, स्वर्ग दे, तो धर्मी जीव उसकी इच्छा नहीं करता, मात्र अभेद स्वभावकी श्रद्धा रखता है। जैसे लड़की अपनी माताकी श्रद्धा रखती है,

वैसे ही धर्मी जीव मात्र अभेदस्वभावकी श्रद्धा रखता है। कितनी ही पुण्यकी सामग्री मिले तो धर्मी जीवको उसका लालच नहीं होता।

जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अंधकार मिट जाता है उसी प्रकार चैतन्यसूर्यका प्रकाश होने पर विकार मर जाता है और शुद्ध वीतरागी दशा होनेसे आत्मा भी पर्यायमें शुद्ध होता है। पुण्य-पापके परिणाम अनात्मा हैं। अनात्मभाव—परिणाम मिटाकर आत्मपरिणाम करनेमें कृतकृत्यता है। शुद्ध परिणाम ही करने योग्य हैं, शेष सब अकृत्य है। निमित्त और व्यवहार होते अवश्य हैं, परन्तु वह संसार भाव है। योगी–भावलिंगी मुनि जानते हैं कि शरीरकी नग्नदशा जड़की अवस्था है, अट्ठाईस मूलगुण पालनका विकल्प राग है, वह मुनिपना नहीं है। आत्मामें लीन होना वह योगीपना है। कुन्दकुन्दाचार्य, नेमिचन्द्र आचार्य, पूज्यपादस्वामी आदि आचार्य महान योगीश्वर थे। आत्मामें युक्त हो जाना–जुड़ जाना वह योग है, उसमें प्रधान वह योगीश्वर है, मुनिको नग्नदशा अवश्य होती है , कोई वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना माने वह मिथ्यादृष्टि है और नग्नदशा हुई, इसलिए मुनिपना है—ऐसा भी नहीं है। चिदानंद भगवानकी श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके आत्मामें युक्त हो जाय वह योगी अथवा मुनि है। मुनि शरीरकी नग्नदशाके अट्ठाईस मूलगुण पालनकी क्रियाके कर्ता अथवा प्रेरक नहीं हैं।

कोई मुनि छह आवश्यक पाले, ध्यान एवं धारणा करे और बाह्य समाधि लगाए, वे सब निमित्त हैं। इसप्रकारके विकल्प आते हैं परन्तु आनन्दकंद स्वभावका अनुभव करे तो उन सबको निमित्त कहा जाता है, निश्चय प्रगट हुए बिना व्यवहार कैसा ? अज्ञानी जीव व्यवहारसे निश्चय मानता है वह भूल है। अपना स्वरूप चिदानन्द ध्रुव है; उसके परिणामसे अनन्तसुख हुआ, अपने पदकी अस्तिक्यता हुई। मेरे पदमें आनन्द है; अमृतका अनुभव है, पुण्य-पाप मेरा पद नहीं है। तथा चिदानन्दके अनुभवको किसकी उपमा दी जाए ? पुण्यको और संयोगोंको उपमा दी जा सकती है परन्तु स्वाभाविक पदको उपमा नहीं दी जा सकती।

तथा शुभाशुभ विकारी परिणाम थे तब तक भेद पड़ता था, परन्तु आनन्दका अनुभव होने पर स्वभावके साथ एकरस हुआ, शुद्ध उपयोग हुआ। व्यवहाररत्नत्रय अशुद्धोपयोग है, शुद्ध उपयोग नवीन हुआ। नित्यानंदमें लीनता होने पर सहज पदका अनुभव हुआ उसका नाम मुनिपना है। उसे मोक्षमार्ग कहते हैं।

अपूर्णदशामें दया, दान, तीर्थयात्रा, पूजादिके विकल्प आते हैं, परन्तु वह मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं है। आत्माकी प्रतीति द्वारा निर्मलता प्रगट हो वह धर्म है; इसका नाम अनुभव है। शुद्ध आत्मपरिणाम की महिमा अपार है, व्यवहाररत्नत्रयकी महिमा नहीं है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–१३

पौष शुक्ला ३, शुक्रवार दि. १९-१२-५२

यह अनुभवप्रकाश ग्रन्थ है। आत्माके वीतरागी आनन्दरूप परिणामको अनुभव कहते हैं। पुण्य-पाप रहित स्वभावोन्मुख आनन्दरूप परिणामकी महिमा अपार है। पुण्य-पाप अपनी पर्यायमें होते हैं, परन्तु वह पराश्रित भाव-बंधभाव है इसलिए उन्हें अपना नहीं कहा।

स्वयं अनन्त शक्तिका स्वामी होने पर भी आत्मा पुण्य-पापसे चारगतिमें भटक रहा है। शुभाशुभभाव परपरिणाम है। ''प्रभु सर्वगुण-संपन्न कहलाता है, परन्तु उसमें दुर्गुण भी कम नहीं है।''—ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजीने एक पत्रमें कहा है। आत्मा (प्रभु) शक्तिरूपसे परिपूर्ण है, परन्तु उसकी पर्यायमें विकार है, वह उसका दुर्गुण है। यहाँ (कहा है कि) भटक रहा है ऐसा कहा है। अर्थको समझते नहीं और दूसरोंका दोष निकालें ऐसे जीवोंको कोई समझा नहीं सकता। चिदानन्द प्रभु पुण्य-पाप परिणामोंसे चौरासीमें भटक रहा है। कर्मसे भटक रहा है ऐसा नहीं कहा। कर्म तो जड़ है, वह आत्माको परिभ्रमण नहीं करवाता।

स्वयं शक्तिरूपसे परमेश्वर है। मैं ज्ञान–आनन्दमय हूँ ऐसी प्रतीति होनेके पश्चात् पूर्ण आनन्द प्रगट हो तब पर्यायसे भी परमेश्वर होता है। परको अथवा राग-द्वेषको प्रसिद्ध करनेवाला ज्ञान है, वह ज्ञान स्वोन्मुख होकर पूर्ण प्रगट हो तब स्वयं परमेश्वर होता है। वह आत्माके परिणामका प्रभाव है, शरीर, राग-द्वेष या व्यवहारका प्रभाव नहीं है; अच्छे स्वस्थ शरीरका प्रभाव नहीं है। अपने निर्मल परिणमनसे अविनाशी पदका अनुभव होता है। द्रव्य-गुण तो त्रैकालिक हैं पर्यायमें विकारका अनुभव करना वह अपूर्व नहीं है, परन्तु अन्तरमें एकाग्रता करना वह अपूर्व है। अपने आत्माकी पर्याय अपनेमें कैसे संलग्न हो वह कहते हैं।

शरीर, मन, वाणी आदि पदार्थोंसे पराङ्मुख होकर मैं चिदानन्द हूँ, मैं शुद्ध हूँ—ऐसा बारम्बार अवलोकन करना। जो परको जानता है वह स्वयं कौन है—इसप्रकार बारम्बार अवलोकनके भाव करे वह अनुभवप्रकाश है।

प्रश्न :—परन्तु अन्तरमें तो कुछ दिखाई नहीं देता ?

समाधान :—क्यों दिखाई नहीं देता ? स्वयं द्रष्टा है, वह देखनेका प्रयत्न नहीं करता इसलिए दिखाई नहीं देता। शरीर-रागादि, ज्ञानकी अस्तिमें ज्ञात होते हैं, परन्तु अज्ञानीको अपने ज्ञानका माहात्म्य नहीं आता। नदी पार करके एक किनारे से दूसरे किनारे पर दस आदमी गए। वहाँ पहुंचकर एक आदमी गिनती करने लगा तो उसे नौ आदमी लगे, क्योंकि स्वयंको नहीं गिनता था; इसलिए एक आदमी नदीमें बह गया है ऐसा मानकर रोने लगे; उसी प्रकार यह शरीर, दुकान, पैसा, कोयला आदि हैं ऐसा ज्ञानमें ज्ञात होता है, परन्तु तु स्वयं कौन है ? दृष्टान्तमें जैसे गिननेवाला स्वयंको भूल गया, वैसे ही यहाँ स्वयं अपनेको जाननेवाला अर्थात् ज्ञाता भूल गया। अनेक प्रकारके राग होते हैं, उनमें यह सत्य बोलनेका भाव, यह पुण्यका भाव, यह गुरुके प्रति बहुमानका भाव, यह दयाका भाव इसप्रकार ज्ञान भिन्न-भिन्न जानता है। वास्तवमें तो वह ज्ञानका (स्वभावका) ज्ञान है, परन्तु अज्ञानी जीव उसे परका तथा रागका ज्ञान मानता है। भिन्न-भिन्न राग हुए उनकी रागको खबर नहीं है, उनको जाननेवाला तो ज्ञान है, स्वयं ज्ञानस्वभावी है—ऐसा न जानकर मात्र परको ही जानना वह मिथ्याज्ञान है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मवस्तु ज्ञानवान है कि जिसकी प्रशंसा बहुत होती है। शास्त्र जिसका गुणगान करते हैं और सर्वज्ञ जिसे कहते हैं। लोग कहते हैं कि—''चलो व्याख्यान सुनने,'' परन्तु वह किसका व्याख्यान ? वह आत्माका व्याख्यान है। सबने आत्माके नगाड़े बजाए हैं। उस आत्मपद अथवा स्वपदके अवलोकनके भाव कर। तथा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र चेतनाका प्रकाश स्थिर करके स्वरूप परिणति करे, अपने आत्माका विश्वास करे वह दर्शन, अपना ज्ञान वह ज्ञान और अपनेमें स्थिरता सो

चारित्र–इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मामें है। चेतनाका प्रकाश स्थिर करके, स्वरूप-परिणति करे तो विकार का नाश हो; परमें (स्वपनेकी) श्रद्धा–ज्ञान और स्थिरता करता था वह अब अपनेमें करे और स्थिर हो।

तथा भगवान आत्मा ज्ञायक ज्योति है और शरीर–मन-वाणी आदि अनात्मा हैं। इस आत्माकी अपेक्षासे भगवान भी अनात्मा हैं, ज्ञायकज्योति आत्मासे भिन्न है;—ऐसा जाननेवाला आत्मा स्वयं है। अनात्माको अपनेमें एकमेक करे तो स्वयं ज्ञाता नहीं रहा, इसलिए अनात्मासे आत्मा पृथक् है। तथा अखण्ड प्रकाश है, चैतन्यका एकरूप प्रकाश है। आत्मामें अन्तर्मुख हो वह चिद्विलासका अनुभव करेगा। ज्ञान अन्तर परिणमन द्वारा प्रकाशित होता है परन्तु बाह्य द्वारा प्रकाशित हो ऐसा नहीं है।

जहाँ से पर्याय उठती है अर्थात् प्रवाहित होती है उसमें परिणाम (रुचि) लगाना अर्थात् पर्यायवानमें (रुचि) लगाना, परन्तु बाह्यमें परिणाम नहीं लगाना। प्रथम ऐसी समझ करना कि यह मार्ग है, आत्मा चिदानन्द प्रकाश है, उसके परिणाम (रुचि) ज्ञानमें लगाए किन्तु बाहर न जाने दे।

जिस प्रकार नई–नई लहरें उठती हैं, वैसे ही चिदानन्द प्रभु आत्मामें ज्ञानके नये-नये परिणाम होते हैं। नित्यानंद आत्मा ज्ञानसे भरपूर समुद्र है, उसमें नये-नये परिणाम हो वे अंग है और अन्तरमें लीन होकर अभंगरूपसे परिणाम उठाए वह धर्म है।

अज्ञानी कहते हैं कि पहले व्रत–तप करोगे तो धर्म होगा; वह बात मिथ्या है। प्रथम सम्यग्दर्शनके बिना व्रत ही नहीं होते। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी पहिचानका शुभराग होता है, परन्तु उसके आलम्बनरूप रागको लाँघने पर धर्म होता है। जो जीव शुभरागको उपादेय मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ कहते हैं कि राग हेय है उसे नहीं होने देना। अन्तर्ज्ञानके परिणाम असंख्यप्रदेशी अभंगमें लीन होते रहें वह धर्म है।

आत्माका सिद्धपद वह अमरपुरी है। आत्माके निजबोधके विकाससे अमरपुरीमें निवास होता है। तथा आत्मा अखण्ड है, अचल है, जिसकी कोई उपमा नहीं ऐसा अनुपम है, जिसमें खण्ड या भेद नहीं है

ऐसा अभेद है, अमल है, जिसका तेज अमाप है।—ऐसा आत्मा स्वयं अनन्तगुणमण्डित है, उसे जानना। कैसा है वह पद? पूर्णानन्दरूप है, ज्ञातास्वभावरूप है, अरूप है, अनुपम है। स्वयं नित्यानन्दस्वरूप तीन लोकका ज्ञाता है अथवा स्वयं अपने लिए शोभायमान है। अपने परमपदको परिणाम द्वारा प्राप्त करके पवित्र होकर रहता है यह सब अनुपमकी महिमा है। पंचपरमेष्ठीको पाँचों पद अनुभवसे प्राप्त होते हैं। शुभरागके जो-जो प्रकार आते हैं उनका ज्ञाता आत्मा है। अन्य कोई स्वरूप नहीं है।

किस प्रकार आराधना करते हैं वह बतलाते हैं :—

आत्मा शक्तिरूपसे पूर्ण ज्ञानवान है। आत्मा परमार्थनिधान है। परका परमार्थ कोई नहीं करता। परमार्थ स्वयं से प्रगट होता है। किसीका कल्याण कर दूँ यह मान्यता अज्ञान है। स्वयं कल्याणस्वरूप है उसका आराधन करना। दया–दानादिके परिणाम राग हैं कल्याण नहीं हैं। तथा स्वयं सुख स्वरूप है, वह सुख कभी कुम्हलाता नहीं है; तथा स्वयं मुक्तिकी खान है, उसके स्वरूप की आराधना करना। तथा आत्मामें शरीर, मन, वाणी नहीं है; शरीर तो हाड़–मांस से बना है; पुण्य–पाप भी मैल है। चिदानंद वस्तु निरुपाधिक है; ऐसे आत्माकी समाधिको साधें और आराधना करें।

आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो ऐसा नहीं है, इसलिए अलख है, राग या व्यवहार से भी ज्ञात हो ऐसा नहीं है। जैसे सूर्य कभी जन्मता नहीं है और न मरता है, वैसै ही आत्मा कभी जन्म नहीं लेता और न कभी मरता है, इसलिए अज है। चैतन्यसूर्य तो सदा प्रकाशमय है। जो है उसे आवरण नहीं होता और जो न हो उसे भी आवरण नहीं होता। पर्यायमें आवरण है, उसकी बात गौण है। यहाँ स्वभावकी बात है। तथा आत्माका रूप आनन्द है, वह अमृतसे निर्मित मूर्ति है, अतीन्द्रिय प्रभु आत्मा है, दर्शन, ज्ञान, चारित्रका समूह है। आत्माके स्वरूपमें विकार नहीं है, इसलिए अविकारी है। उसमें अंधकार नहीं है, वह ज्ञानप्रकाशका पुंज है; सर्व

दुःखोंसे रहित है। स्वरूपमें दुःख नहीं है। त्रैकालिक स्वभावने संसार अथवा दुःखको कभी ग्रहण नहीं किया है तो फिर उसे छोड़ेगा कब? अर्थात् छोड़ना रहता नहीं है। तथा बाधा रहित है। कर्म उसे बाधा उत्पन्न नहीं करता। पर्यायमें स्वयं बाधा उत्पन्न करे तो कर्म निमित्त कहा जाता है। वस्तुमें बाधा नहीं है। स्वयं महित अर्थात् पूज्य है। अपना पूज्यपद न जाने और परको ही पूजनीय माने तो उसका व्यवहार भी सच्चा नहीं है। आत्मामें मिष्टरस भरा है। विकारको गौण करके बात कही है। आनन्दरस सहित तथा अनन्त स्वभावकी शक्ति सहित है तथा निरंशी है, अखण्ड अभेद है, तथा कर्मका नाश करनेवाला है, तथा वह चिदानन्द आत्मा योग्य जीवको आधाररूप है; अयोग्य जीवको आत्माकी बात जमती नहीं है; इसलिए कहा है कि भव्यजीवका आधार आत्मा है। व्यवहाररत्नत्रय आधार नहीं है। परमाणु को भी अपना आधार है, वह जड़ है, उसे अपने गुणकी खबर नहीं है, तथापि अपने आधार से टिकता है। उसका ज्ञान करनेवाला आत्मा निरालम्बी है, उसे किसीका आधार नहीं है। तथा भवसे पार करनेवाला आत्मा है; व्यवहाररत्नत्रय भवसे पार नहीं करते। तथा आत्मा जगतका सार है; सारे संसारमें एक आत्मा ही सार है। पैसा, प्रतिष्ठा, इन्द्रपद आदि सब असार हैं। तथा आत्मा दुर्निवार दुःखका नाश करनेवाला है। ऐसे आत्माकी दृष्टि एवं अनुभव करना वह भवके नाशका उपाय है। गृहस्थ अथवा मुनि सबके लिए एक ही मार्ग है।

तथा अपनी अपूर्णता दूर करके पूर्णपद प्राप्त करे और पुण्य–पापके भवतापका नाश करके स्वपदको पूरे।

अज्ञानी जीव अपनी प्रिय स्त्री आदिकी प्रशंसा बड़ी रुचिपूर्वक करता है। यहाँ कहते हैं कि तेरे आत्माके गीत गाये जा रहे हैं, उन्हें उत्साहपूर्वक रुचि लाकर श्रवण कर।

अपने आत्मपदको जानने पर तथा अंतरकी प्रतीति करने पर स्वयं चिदानन्द दृष्टिगोचर होता है।

कैसा है भगवान आत्मा? सदा सुखका कन्द है। जैसे सूरणकी

गाँठ होती है वैसे ही चिदानंद सुखकी बड़ी गांठ है; परन्तु राग-द्वेष कर-करके अपने आत्माको भूल गया है, इसलिए वह दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि अंतरमें चिदानन्द स्वभावका बोधिबीज बोए तो पूर्णनन्दको प्राप्त करे। मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति और अनुभव करने पर पूर्णदशा प्राप्त करे।

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति और अनुभव करने पर पूर्णदशा प्राप्त हो। तथा आत्मामें सांसारिक दंदफँद नहीं हैं। एक समयके संसारको भूल जा और स्वभावको देख।

यह तेरे आत्म भगवानके गीत गाए जा रहे हैं, तेरे पदका गुणगान हो रहा है। आत्मा अपने स्वभावको जानने पर विकल्पका वंश उत्पन्न नहीं होता। आत्मा पुण्य-पापके वंशरहित अर्थात् निर्वंशी है। ऐसा निरफन्द जाने तो परमात्मपद–अविनाशीपद प्राप्त करे। पहले भूल थी, उस भूलको पलटकर आनन्ददशा प्राप्त करता है और वस्तु नित्य रहती है। इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवकी बात आ जाती है। तथा ज्ञानानन्दकी प्रतीति एवं लीनता होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है और लोकालोकको जानता है। ऐसा निर्णय करे उसके भवका नाश होकर अविनाशी पदको प्राप्त करता है। तथा चारों अनुयोग (वेद) और वीतरागदेवकी दिव्यध्वनि आत्माके गीत गाती है—उन्हें कहाँ तक कहें?

आत्मा ऐसी वस्तु है। राग द्वारा महिमा नहीं गाई जाती। तथा भगवान आत्मा वचनमें नहीं आ सकता। पूर्णानन्द प्रभु परमब्रह्म आत्मा स्वयं वाणीगोचर नहीं है परन्तु ज्ञानगम्य है। उसका नाम परमपद है। ऐसे स्वभावकी प्रतीति, ज्ञान और अनुभव करना वह अनुभवप्रकाश है।

प्रवचन–१४

पौष शुक्ला-४, शनिवार दि. २०-१२-५२

यह अनुभवप्रकाश ग्रंथ है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है उसकी स्वोन्मुख दशा होने पर निर्मलता प्रगट हो उसका नाम धर्म है। चैतन्य आत्मा परमतत्त्व है, स्वाभाविक वस्तु है; उसकी ज्ञानपर्याय, दर्शनपर्याय अथवा वीर्यपर्याय परोन्मुख हो वह अतत्त्व है। आत्मा ज्ञायकमूर्ति है ऐसा मानकर स्वभावमें अभेदता हो वह परमतत्त्व है। भगवान आत्मा शक्तिरूप से आनन्दकन्द है। दया–दान–व्रतादि राग हैं वह अतत्त्व है, चैतन्यतत्त्व नहीं है। जो ज्ञानपर्याय मात्र राग तथा पर्यायको जाने वह अतत्त्व है। चिदानन्द भगवान शरीर, मन, कर्म एवं वाणीसे भिन्न है। परकी ओरका विकल्प तथा जो ज्ञान परको ही जाने और उसीमें रुके–ऐसी विपरीत करनी स्वरूपमें नहीं है। स्वभावमें एकाग्रता होना वह धर्म है। पुण्य–पापके भाव अन्तरस्वभावमें नहीं हैं; इसलिए स्वभावके अवलम्बनसे जो निर्मलदशा प्रगट हो वह अनुभवप्रकाश है। विपरीत करनी अर्थात् व्रत, दया, दानादिके भाव वे सब रागमय हैं, शान्तिके कारण नहीं हैं; वह विपरीत करनी परमतत्त्वमें नहीं है।

चिदानन्द भगवानका अनुभव वह मुक्तिकी करनी है; उससे विरुद्धभाव भवदुःखकी भरनी और चौरासीके अवतारोंकी जननी हैं। मैं ज्ञायकमूर्ति हूँ, शरीरादिका कर्ता नहीं हूँ; किसी भी रजकणसे मुझे लाभ नहीं है। दया, दान, व्रतादि विकल्प हैं; उनका पक्ष भवदुःखोंको पुष्ट करनेवाला है। चिदानन्दकी प्रतीति करके अन्तरमें स्थिरता करना वह सुखका कारण है।

आत्माके ज्ञायक स्वरूपसे च्युत होकर पर्यायमें जो वृत्ति उठे वह अहितकारी है, हानिकारक है। पुण्य–पापमें धर्म है–ऐसी मान्यता अज्ञानीने मोहके कारण की है, इसलिए वह हितनाशकी अनुसरणी हुई है, परन्तु

स्वभावकी अनुसरणी नहीं हुई। कर्मने भूल नहीं कराई है फिर भी अज्ञानी कर्मको दोष देता है। पुण्य-पापके हितको हरनेवाले हैं, उनका अनुसरण मिथ्याभावने किया है, ज्ञानभाव उसको नहीं अनुसरता। जगतके अज्ञानी जीवोंको वह मीठी लगती है। अज्ञानीको विपरीत मान्यताके कारण चौरासीके अवतार अच्छे लगते हैं, उसे पुण्य–पापकी करनी रुची है। जिसप्रकार विष्टाके कीड़ेको विष्टा अच्छी लगती है वैसे ही अज्ञानीको पुण्य-पाप रुचते हैं। पुण्य-पापके भाव दुःखदायक हैं तथापि सुखदायक लगते हैं।

यह बात सत्य है। पहिचानकर, स्वभावसन्मुख होकर उपाय कर—यह एक ही धर्मका मार्ग है। प्रथम सत्यकी श्रद्धा करवाते हैं।

अज्ञानीको पुण्य-पाप सुखकर लगते हैं, वह पुण्य–पापमें लगा है। त्यागी हो, मुनि हो तथापि व्रत, तपमें परमार्थ–धर्म मान बैठा है, इसलिए उसे बहुत अच्छा लगा है।

अब सीधी बात करते हैं। चिदानन्द जागृतज्योति है; उसमें जितना विकार हो वह दोष है, स्वभावमें दोष नहीं है, इसलिए ज्ञानको आत्मसात् कर। ज्ञानस्वभावका निर्णय करनेवालेको देव-गुरु-शास्त्रकी यथार्थ प्रतीति होती ही है।

मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, मैं शरीरादिको चलाऊँ या पर पदार्थोंको लूँ या छोड़ूँ वह मेरे स्वभावमें नहीं है; —ऐसा भेदज्ञान करना। पुण्य-पापकी क्रिया वह विपरीत करनी है, उसे भेदकर अन्तरमें लीनता करके साधकताको साधकर महान होते हैं इसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

जो राग और पुण्य आदिमें एकत्वबुद्धिपूर्वक मिथ्याध्यान था वह हटाकर स्वभावमें रागरहित होकर एकाग्र हुआ। स्वभावमें एकाग्रता करने पर सिद्ध जैसा अंशतः आनन्द प्रगट करके सुधापान करे वह अनुभव है।

यह गृहस्थाश्रममें रहनेवाले सम्यक्त्वी की बात है। ज्ञानानन्द स्वभावकी रुचि करके स्वरूपमें एकाग्रतापूर्वक अन्तर आनन्दका पान करता है। पूर्णानन्द पदका कारण अपना अनुभव है। इस कालमें अनुभव

हो सकता है। आत्माके अन्तर आनन्दका रसास्वादन हुआ उसे अनुभव कहते हैं।

हे आत्मा ! शुभरागसे पार पा सके ऐसा नहीं है। अन्तर्मुख होकर विश्राम करे तो थकान उतरेगी। अपने स्वकालमें अनाकुल स्वभाव विद्यमान है। जड़ इन्द्रियाँ आत्माका कुछ लेती नहीं है। उनके उत्पाद-व्यय-ध्रुव उनके कारण हैं, वे मूर्त जड़ हैं और आत्मा अमूर्त चैतन्य है; दोनोंके कार्य भिन्न हैं; परन्तु जो ज्ञानपर्याय परको अपना माने वह भावेन्द्रिय चोर है। उस ज्ञानपर्यायको अन्तरोन्मुख करना और शरीरकी मायाको भूलना अर्थात् शरीर मुझसे भिन्न है ऐसा मानना। स्वयं परमेश्वर स्वरूप है, मेरा भगवान दूसरा कोई नहीं है। परमाणुकी पर्याय ईश्वर या जीव नहीं कर सकता। ज्ञानीको शुभराग आता है परन्तु उसको परमाणुकी अवस्था नहीं होती। धर्मी शुभरागको भी अधर्म मानता है। अज्ञानी जीव चिदानन्दकी पुष्टि चूककर बाह्य क्रियाकाण्डका पोषण करता है।

ज्ञानीने कायाकी माया भूलकर अपना स्वरूप पद अपनेमें देखा है। भगवान घटमें नहीं हैं परन्तु अघटघटमें अर्थात् शरीर रहित अपने स्वरूपमें है। ज्ञानानन्द जल शरीरके परमाणुरूपी कंकरोंसे पृथक् है। ऐसे पृथक् तत्त्वका अवलोकन करना वह अनुभव है। मेरा ज्ञान अनुपमेय है, वह मुझमें व्याप्त होकर रहा है, रागके साथ व्याप्त नहीं है।—इसप्रकार अनुपम चिद्रूपको जानना वह धर्म है।

दया-दानादि से धर्म होता है, राग मेरी वस्तु है, ऐसे भ्रमभाव को मिटाने पर अंतरमें दिव्य शक्तिरूप भगवान दृष्टिगोचर हुआ। ध्रुवस्वरूप अचल वस्तु विद्यमान है; ऐसी प्रतीति होना उसे सम्यग्दर्शनरूप धर्म कहते हैं।

प्रथम श्रवण करके अपना स्वरूप लक्षमें लेना चाहिए। स्वभावमें अभेद होनेकी आदत है, परन्तु रागके साथ अभेद होनेकी आदत नहीं है। पर्यायको अंतरमें एकाग्र करनेका अभ्यास हो गया है;—ऐसी अभेद बुद्धिवाला देव दृष्टिगोचर हुआ है।

कैसा है भगवान आत्मा ? परसे भिन्न नित्य ज्ञानमय है, रागमय नहीं है। पुण्य-पापके विकल्प अशाश्वत हैं; जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बँधे वह अशाश्वत है। भगवान आत्मा शाश्वत है। नवतत्त्वोंमें आत्मतत्त्व ऐसा होता है उसकी बात चल रही है। उसकी प्रतीति करके, जो पर्याय द्रव्यके साथ अभेद हो वह संवर–निर्जरा है। अनादि मिथ्यादृष्टिके ज्ञान और वीर्यकी क्षयोपशमभावरूपी पर्याय जोकि राग तथा अपूर्णताको स्वीकारती (अेकत्व करती) है वह अचेतन तत्त्वमें जाती है, अजीवमें जाती है।

हे आत्मा ! अपना गुणगान देख—''अपने नयनोंके आलससे देख न पाया हरिको''—ऐसा कहते हैं। स्वयं नारायण है, अपने ज्ञाननेत्रोंको अन्तर्मुख करना चाहिए, परन्तु ऐसा किया नहीं। उसके आलस्यसे अर्थात् पुण्य-पापकी ओर दृष्टि लगानेसे हरिको अर्थात् अपने भगवान आत्माको नहीं देख पाया।

जो पुण्य-पापभाव होते हैं वह अपना अपराध है। अज्ञानी लोग कर्मके कारण अपराध मानते हैं वह भ्रान्ति है।

यहाँ कहते हैं कि जो भव और भवके कारण हैं वह मेरी वस्तु नहीं है। जिस भावसे देवका भव मिले वह विकार है। भवके कारणोंसे तथा पुण्य-पापसे उदासीन होकर, मेरा आत्मा ही मुझे सुखका कारण है—ऐसा निर्णय करे तो सुख हो। फिर परिणति बाहर नहीं जाती।—इसप्रकार शाश्वतपदके निवासीने सुखराशि प्राप्त की है।

ज्ञाता–द्रष्टा त्रैकालिक स्वभावको प्रगट करे तथा अंतरमें एकाग्र रहे। स्वपदका निवास अपनेमें है, पुण्य-पापके परिणाम परपद हैं जैसे हिरनकी नाभिमें कस्तूरी होने पर भी वह मानता है कि सुगंध बाहरसे आती होगी ऐसा मानकर इधर-उधर ढूँढ़ता है; वैसे ही अज्ञानी अनादिसे ज्ञानपर्याय को बाहर ढूँढ़ रहा है, परन्तु अंतरके ज्ञानसामर्थ्यको नहीं मानता। पैसा आए या जाए वह तो जड़ है, शरीर जड़ है, राग कृत्रिम है, स्वयं ज्ञानस्वभावी नित्य है उसका विश्वास नहीं करता वह अपनी भूल है। स्वयं विपरीतता करता है तो दोष होता है। स्वयं अज्ञान करता है

वह जड़ नहीं है; अज्ञान या विकार अपनी भूल है, कर्म भूल नहीं कराता।

जैसे मृग बाहर सुगन्ध ढूँढ़ता है, परन्तु सुगन्ध बाहर नहीं मिल सकती; वैसे ही चिदानन्दस्वरूप आत्मा अपने स्वरूपको न पहिचान कर परमें ढूँढ़े तो नहीं मिलेगा; सुख बाहर से नहीं आता। आत्मा ज्ञायकज्योति है उसकी प्रतीति नहीं करता और पुण्य-पापमें रुक जाता है उसे अपना पद नहीं मिलता।

स्वयं मोहमें रुका है इसलिए अपनेको नहीं देखता। धर्मदशा स्वभावके आश्रयसे हुई निर्विकारी दशा है, संसार आत्माकी विकारीदशा है, दोनों आत्मामें होती हैं, जड़के कारण नहीं हैं और जड़में नहीं हैं।

सत्पुरुषके प्रतापसे अनन्तगुणमय चिदानन्द परमात्माकी तुरन्त प्राप्ति होती है।

''तनसे मनसे धनसे सबसे, गुरुदेवकी आन स्व आत्म वसे।
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेम घनो।''

आत्मामें गुरुका कथन बैठना चाहिए, धर्मदशा प्राप्त करनेमें ज्ञानी निमित्त होते हैं। पुण्यसे धर्म मनायें वे कुगुरु हैं। चिदानन्द आत्मामें अस्तित्व, विभुत्व, स्वच्छत्व, ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं; वैसे आत्माको ज्ञानीके सत्संगसे स्वयं अपनी पवित्रतासे प्राप्त करता है। शिष्यको श्रवण करनेका विकल्प उठता है परन्तु गुरु कहते हैं ''स्वभावमें जा'', पर्यायमें विकार होता है वह निजपद नहीं है। जब तक रागमें अपना पद मानेगा तब तक दुःखी होगा। परपदको अपनेरूप माने तब तक अर्थात् स्वयं मिथ्याभाव करेगा तब तक आकुलता रहती है। अन्तर्दृष्टि खोजे, अन्तर स्वभावोन्मुख होने की पर्याय प्रगट करे तो मिथ्याभ्रान्ति और अज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होगी। ''अपने को आप भूलकर हैरान हो गया ''—स्वयं अपनेको भूलकर हैरान होता है।

पुण्य-पापकी रुचि मिटते ही सच्ची श्रद्धा एवं स्थिरता होने पर

वीतरागता प्राप्त करता है, अनाकुल होकर अनन्त सुखका रसास्वादन करता है तब आत्मा अमर हो जाता है उसे जन्म-मरण नहीं रहता और केवलज्ञान प्रगट करके सिद्ध होता है। स्वभाव तो अमर था, परन्तु पर्यायमें अमरता नहीं थी; भिन्न-भिन्न भव करके भवभ्रमण कर रहा था। अब यथार्थ प्रतीति करके अनाकुल होकर पर्यायमें अमर हो गया।

जिस प्रकार कोई राजा मदिरा पीकर निंद्यस्थानमें पड़ा-पड़ा आनन्द मान रहा हो, वैसे ही निजानन्द आत्मा शरीर से पृथक् होने पर भी शरीर, कर्म और पुण्य-पापरूपी शरीरमें आनन्द मान रहा है। विकार आत्माका यथार्थ स्वरूप नहीं है, इसलिए उसे विकारी शरीर कहते हैं। सुन्दर शरीर ठीक है—ऐसा माननेवालेको चिदानन्द ठीक है ऐसा नहीं लगता।

अब, जैसे राजाको नशा उतरने पर राजपदका ज्ञान होता है और तब जाकर राजसिंहासन पर बैठता है, वैसे ही अज्ञानी ने मोहकी मदिरा पी रखी थी, उसका मद उतरने पर अर्थात् मोहका नाश होकर अपने पदकी प्रतीति होने पर स्वयं सच्चिदानंदस्वरूप है ऐसा भासित हो तब अपनी सम्पदा को सँभाले।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–१५

पौष शुक्ला-५, रविवार दि. २१-१२-५२

जिस प्रकार राजा मदिरा-पान करके निंद्यस्थानमें पड़ा-पड़ा आनन्द मानता था, वैसे ही मिथ्यात्वरूपी मदिरापान करके आत्मा शरीरमें और पुण्य-पापमें आनन्द मान रहा है। फिर जैसे राजाको मद उतरने पर राजपदका ध्यान आता है–कि मैं राजा हूँ; उसी प्रकार भगवान आत्माकी ज्योति तो ज्योंकी त्यों है, पुण्य-पापकी वृत्तियाँ उठती हैं वह विकार है, मेरे स्वरूपमें नहीं है—ऐसा भेदज्ञान होने पर आत्माका अनुभव होता है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

प्रश्न :—ज्ञान अपना स्वरूप है, वह अपनेको क्यों नहीं जानेगा ? आत्मा ज्ञानसे व्यापक है तो उसका ज्ञान अपनेको क्यों नहीं जानता ? अपना ज्ञान परको जाने, दया, दान, शरीर, वाणीको जाने, जड़की क्रियाको जाने तो अपने को क्यों नहीं जानता ?—इसप्रकार शिष्यको समझनेकी जिज्ञासा हुई है।

मन, वाणी और कर्म तथा जो शुभाशुभभाव होते हैं वे परसे तन्मय हैं, वे मूलस्वरूपमें नहीं हैं। ऐसा मेरा ज्ञानस्वभाव आप कहते हैं तो मेरा ज्ञान मुझे क्यों नहीं जानेगा ? ऐसी जिज्ञासा शिष्यको हुई है। इस प्रश्नमें समझनेंकी इच्छा तथा निर्मानता है। शिष्य आत्माको समझनेका तीव्र आकांक्षी है ऐसा लगता है। अन्य कोई मनरोग उसे नहीं है। मेरा ज्ञान स्वयं मुझे ही जाननेमें काम नहीं आए,—यह मुझे क्या हुआ ?—ऐसा प्रश्न पूछता है।

समाधान :—ज्ञान अनादिसे परमें रुक गया है। राग और परपदार्थोंमें फैलकर ज्ञान रुक गया है। भगवान आत्मा सम्यग्ज्ञानका सूर्य है। शरीर, मन, वाणीसे पार तथा कर्मसे पार अन्तरमें गुप्त है। स्वयं तो प्रगट है, परन्तु उसका ज्ञान शरीर, मन, वाणी आदिमें तथा शुभाशुभ

परिणामोंमें रुककर परका हो रहा है; उसका नाम मिथ्याभ्रान्ति–अधर्म है। आत्मा शक्तिरूपसे ज्ञानसमुद्र है, उसमेंसे पर्यायें प्रवाहित होती हैं; वे स्वयंको न जानकर यह दयाका पालन किया, यह अहिंसा हुई, यह वाणी अच्छी है, मैं बोला, —इसप्रकार अपना ज्ञान स्व-परप्रकाशक होने पर भी परमें अटक रहा है, परका ही हो रहा है। यद्यपि परका होता नहीं है, परन्तु परका हुआ ऐसा मानता है। जिस प्रकारका राग आए उसी प्रकारके राग को जानता हुआ ज्ञान प्रगट होता है, इसलिए रागका ज्ञान हुआ मानता है, परन्तु चैतन्यमूर्ति ज्ञानस्वभावका ज्ञान है ऐसा नहीं जानता। अनादिसे ज्ञानस्वभाव से पराङ्मुख होकर विकारकी सन्मुखता करके परमें रुका है।

अब, गुरु कहते हैं कि—मैं कहता हूँ ऐसा विचार कर तो शुद्ध होगा। वस्तु तो शुद्ध है, परन्तु पर्यायमें शुद्धता अथवा आनन्द उत्पन्न हो उस हेतु विचारकी क्रिया कर। विचारकी क्रियासे स्वोन्मुखता होती है, अन्य रीतिसे स्वोन्मुखता नहीं होती। जो अशुद्धता हो रही है वह दूर होकर पर्यायमें शुद्धता होगी। ''सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे वह होय''। ''कर विचार तो प्राप्त''—समझना अथवा विचार करना यह ही एक उपाय है।

क्या विचार करना? यह रोग, यह शरीर, यह मन, वाणी, यह क्रोधादिको जानता है, परका ज्ञातृत्व पर नहीं करता। दयाका भाव हुआ, क्रोध हुआ आदि विकल्प स्वयं अपनेको नहीं जानते। ज्ञानने जाना कि यह दया हुई, यह विकल्प उठा, शरीर अटका, वाणी नहीं निकलती,—यह सब ज्ञानके बिना नहीं जाना जाता और ज्ञान आत्माके बिना नहीं होता। मैं न होऊँ तो कौन जानेगा कि यह शरीर है, यह राग है? पहले गुणकी पर्याय कही, अब ऐसा कहा कि वह गुण आत्माके बिना नहीं होता। पुण्य-पाप, दया-दानादिकी वृत्ति उठती है वह परपद है, उस परपदको जाननेवाला मेरा पद है। राग–विकल्प वह मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञान हूँ।—ऐसे विचारकी क्रिया अथवा ज्ञानकी क्रियाको अन्तर्मुख करना वह धर्म है। जहाँ भूला

है वहाँ भूल सुधारनेका प्रयत्न कर। जड़ भूलता नहीं है , राग वह मैं हूँ, द्वेष मैं हूँ—यह मान्यता पर्यायबुद्धिवालेकी है। वह रागका जानना ज्ञानके बिना नहीं होता। जाननहार मेरा पद है, विकार पर है। मेरी वस्तु ज्ञानशक्ति एवं प्रभुत्वशक्तिसे परिपूर्ण है। विकार कृत्रिम है; उसे छोड़कर ज्ञातृत्वदशाको स्वभावसन्मुख करूँ वह मेरा पद है। शरीर, मन, वाणी त्रिकालमें मेरे नहीं हैं; पुण्य–पाप तथा व्यवहार रत्नत्रयके परिणाम उठते हैं वह मेरे पद नहीं है। देव-गुरु कहते हैं कि हमारी वाणी सुननेका विकल्प उठा वह तेरा पद नहीं है। ज्ञातृत्व ही तेरा पद है।

ज्ञातृत्वका स्वभाव जिस स्थानमें व्याप्त है वहाँ पुण्य-पापरहित सम्यक् दृढ़भाव वह निश्चय सम्यक्त्व है, वही आत्माका अनुभव है, अथवा आत्माके अनुभवका स्वाद है। जहाँ-जहाँ राग है वहाँ-वहाँ मैं नहीं हूँ, रागकी नास्ति करनी नहीं पड़ती। मैं ज्ञानज्योति हूँ—ऐसे भावमें दृढ़ता होना सो सम्यक्त्व है। शुद्ध आनन्दकन्दमें प्रतीति आई और जहाँ-जहाँ ज्ञान एवं आनंद वहाँ-वहाँ मैं—यह मोक्षमार्गकी प्रथम सम्यक्त्व कला है। ''जहाँ-जहाँ ज्ञान हो वहाँ-वहाँ तू और जहाँ-जहाँ राग वहाँ तू नहीं''—ऐसा जो कहें वे देव-गुरु-शास्त्र हैं; उनके प्रति शुभराग प्रथम होता है। उसे छोड़कर स्वभावसन्मुख हो तो उस शुभरागको व्यवहार कहा जाता है। यह सुगम है तथापि विषम मानते हैं। वाणीसे, दया-दानसे तथा शास्त्रसे ज्ञान प्रगट होता है ऐसा मानकर विषम मान बैठा है। भगवान चैतन्यस्वरूप आत्मा रजकणसे पार, मन-वाणीसे दूर है। पर्यायमें परव्यापकपना छूटकर स्वव्यापकपना हो उसका नाम सम्यक्त्व है। यहाँ से धर्मका प्रारम्भ होता है।

ज्ञान (आत्मा) पर सन्मुख हुआ वह असावधानी है उससे विमुख होकर ज्ञानामृतका पान करके ब्रह्मपदमें उतरना। मोहको हटाना यह तो नास्तिसे कथन है। ब्रह्म अर्थात् अपने आनन्दस्वरूपमें उतरनेसे रागकी नास्ति हो जाती है। पहले ज्ञान रागमें उतरता (रुची करता) था वह अब अपनेमें उतरता है वह सम्यग्दर्शन है। अनादि ज्ञान एवं आनन्दसे शोभायमान तत्त्वको स्मरण करके स्वमें उतरे वह अनुभव है; राग और विकारका अनुभव वह संसार है।

ज्ञान और आनन्दका अनुसरण करने से जो अनुभव हो वह धर्म है। यह विधि अन्तरमें नहीं बैठे तब तक अन्तर्मुख होने की योग्यता नहीं होती।

अज्ञानी जीवको परकी महिमा आती है। मैंने शरीरको स्वस्थ रखा, चलाया, परकी सेवा की, —ऐसा विपरीतता से मानता है। एक समयका संसार स्वभावमें नहीं है; आनन्द प्राप्त करके खेदको दूर कर। चिदानन्दस्वरूपमें भव नहीं है और भवके कारणरूप विकार नहीं है, इसलिए चिदानन्दको सँभालकर ज्ञानामृतका पान कर। अपनेको भूलकर परिभ्रमण किया है, कर्मके कारण नहीं। कर्म आत्मामें त्रिकाल नहीं है। अज्ञानीने विपरीत माना था, वह पर्यायका खेद चिदानन्दस्वरूपको सँभालने से दूर हो जाता है।

धर्म कैसे होता है उसकी बात चल रही है। कोई कहे कि इसमें यात्रादि की कोई बात नहीं आती। मिथ्यात्व-रागद्वेषादि शत्रुको जीते ऐसे शत्रुंजय आत्माकी बात चलती है। बाहरी पर्वत पर चढ़े-उतरे उसमें धर्म नहीं है। किसकी यात्रा करता है? यात्राका भाव शुभराग है। यात्रा करनेवाले अज्ञानीको आत्माकी खबर नहीं है। स्वयं ज्ञानपद है, अभेद है। जो ज्ञानपर्याय भेदमें अटकती थी उसे अन्तर्मुख किया तब वह अभेद हुई। विकार पर्यायमें है किन्तु स्वभावमें नहीं है—ऐसी दृष्टि होने पर पर्यायमें जो संसार था वह पर्यायसे पृथक् हो गया। पर ऐसी वाणीको त्यागकर चिदानन्द आत्मा ऐसा है—ऐसे अन्तर्जल्पको भी त्याग दिया। मिस्री की पुतलीमें मिठास और सफेदी भरे हुए हैं, वैसे ही चिदानन्द पुतली सर्वत्र ज्ञान एवं आनन्दसे परिपूर्ण है; उसे पहिचानकर मोहकी भावनाको तोड़ दे। ऐसा राग करेंगे तो यह संयोग प्राप्त होंगे—ऐसा भ्रम छोड़ दे। आत्मा अनन्त गुणोंका समूह, ज्ञान, दर्शन, आनन्दादिका पिण्ड है। अन्तरमें रमणता योग्य है, वह मेरा स्वरूप है; —इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अनुभव है।

प्रश्न :—ऐसा अनुभव तो योगी को सुलभ है?

समाधान :—योगी अर्थात् युक्त होनेवाला। जो पर्यायको रागमें

युक्त करता है वह अयोगी है और आत्मा जो आत्मामें युक्त करे (जोड़े) वह योगी है। इसके सिवा अन्य कोई योगी नहीं है। वेशधारी या जटाधारी वे योगी नहीं हैं। आत्माको साधे वह योगी है। भरत चक्रवर्तीके छयानवे हजार रानियाँ थी, तथापि आत्माकी प्रतीति थी इसलिए योगी थे। वैसे तो मुनि हो और आत्मप्रतीति न हो वह योगी नहीं है। जो आत्मप्रतीतिपूर्वक तीन कषायोंको जीतकर मुनि हुए वे महायोगी हैं और उसका फल सर्वज्ञपद है।

ज्ञान मेरा स्वरूप है। रूप अर्थात् वर्ण–गंध नहीं; अरूपीपना मेरा स्वरूप है। चिदानन्द मेरा सुखधाम है; वह मेरा स्वरूप है।–ऐसा अंतर्गतभाव ही मोक्षका उपाय है। ''मोक्ष कहा निज शुद्धता।'' चिदानन्दकी वृत्तिपूर्वक अपूर्ण शुद्धता प्रगट हो वह उपाय है। उस उपाय द्वारा उपेय अर्थात् मोक्षफल प्राप्त होता है। ''एक होय त्रिकालमें परमारथका पंथ।''—यह एक ही रीति है।

इन्द्रपद या चक्रवर्तीपद तो आकुलतामें निमित्त हैं। जो भवसे थक गया हो उसके लिए यह बात है; परतु सेठ होंगे, धनवान होंगे,–ऐसा भाव वह तो संसारमें परिभ्रमणका भाव है। वर्तमान पर्यायको स्वभावोन्मुख करने से शुद्ध पदकी आराधना हो सकती है, वही कल्याणकी रीति है। निजपद ज्ञानानन्द है, रागादि वह निजपद नहीं है। मुनिवर स्वपंथकी साधना से समाधिको प्राप्त हुए। आधि–संकल्प–विकल्प, व्याधि–शरीरके रोग, उपाधि–परमें एकत्वबुद्धि;—उनसे रहित अन्तर्मुख होना वह समाधि है। कुम्भक और रेचककी क्रिया वह समाधि नहीं है , सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाधि हैं। जैसे सूर्य और अंधकारमें एकत्व नहीं है वैसै ही पुण्य-पाप अंधे हैं उनका मेरे चैतन्यके साथ एकत्व नहीं है। ऐसे आत्माकी साधना करके निर्ग्रंथ पुरुष सिद्धपद प्राप्त करके अशरीरी हुए हैं। यह सिद्धदशा प्राप्त करने की रीति है।

आत्मा अपनेको भूलकर मलिन हुआ है। एक रजकण दूसरे रजकणका स्पर्श नहीं करता, तो फिर आत्मा रजकणका स्पर्श करे ऐसा

नहीं हो सकता। जीवने पर्यायमें मोहका स्पर्श किया है। असावधानीरूप विकार पर्यायमें हुआ है, परन्तु त्रैकालिक स्वभाव मैला नहीं हुआ है। पर्यायमें मलिन दशा न हो तो दुःख नहीं होता, और त्रैकालिक स्वभाव मैला हो तो राग कभी दूर नहीं हो सकता। विकार स्वयं पर्यायमें उत्पन्न किया है, परन्तु विकार अनित्य एवं दुःखदायक है और स्वभाव नित्य और सुखदायक है।

ऐसा भेदज्ञान करे तो सुख प्राप्त हो। यह सब अंतरकी बात है। स्वयं अन्तरमें भूला है इसलिए अन्तरमें देखनेकी बात है। जहाँ भूल हो वहाँ भूल दूर करनेका उपाय करे और बाह्य उपाय करे तो भूल दूर नहीं हो सकती। शरीरकी क्रिया करके भूल सुधारना चाहता है; शरीर तो जड़ है उसकी भूल नहीं होती, वहाँ भूल मिटानेकी बात नहीं है, इसलिए जहाँ भूल है वहाँ दूर करना चाहिए। राग और अविकारी स्वभावके बीच भेदज्ञानरूपी छैनी मारकर निजज्ञानका अभ्यास करना। आत्मा अविकारी स्वरूप है, अखण्ड चैतन्यज्योति है, उसमें आनन्दका अनुभव लाकर महामोहको भेदना चाहिए। आनन्द अपनेमें है, शरीर एवं स्त्री आदिमें आनन्द नहीं है, बाह्य व्रत–तपमें आनन्द नहीं है, दुःखरस है। संसारके हिसाब–किताबमें व्यापारी सावधानी रखता है; यहाँ तेरे आत्माका वहीखाता रखा है। तेरी शान्ति तेरे आनन्दकी पर्यायके अनुभवमें है। शान्ति कहो, अनुभव कहो अथवा मोक्षमार्ग कहो, वे सब आत्मधर्मके पर्यायवाचक नाम हैं।

अपना स्वरूप है वह अपना स्वभाव है। उसे निज उपयोगमें स्थिर करना। भगवान आत्मा आदि–अन्त रहित तत्त्व है; कर्मके रजकणोंमें ज्योंका त्यों विद्यमान है, कर्ममें गुप्त है; कर्मके आवरणकी बात नहीं है, परन्तु जैसे डिब्बीमें हीरा रखा है वैसे ही कर्मके भीतर चैतन्य हीरा है। तो क्या उसमें शक्तिका अभाव मानें? जैसे किसीका पुत्र घरमें हैं और बाजारमें किसीने उससे पूछा कि आपका पुत्र है? तब वह कहता है मेरा पुत्र है, अभाव नहीं कहता। बाजारमें साथ न हो उससे पुत्र नहीं है—

ऐसा नहीं कहा जाता, परन्तु पुत्र है। ऐसा कहा जाता है। व्यवहारमें भी यह रीति है कि ''है को नहीं है'' नहीं कहते; उसी प्रकार शरीर स्थूल धूल है, कर्म सूक्ष्म धूल है। उसमें आत्मा नहीं है, परन्तु अंतरमें आत्मा है—ऐसा कहा जाता है।

वह आत्मा राग और कर्ममें दिखाई नहीं देता, तथा शरीरमें भी नहीं दिखता, इसलिए आत्मा चला गया है ऐसा नहीं कहा जाता। व्यवहारकी रीति है कि विद्यमान पदार्थको अविद्यमान नहीं कहता; परन्तु हे चिदानन्द ! तेरा तो आश्चर्य आता है कि दर्शन–ज्ञान शक्ति विद्यमान होने पर भी तुझे दृष्टिगोचर नहीं है, तुझे दिखाई नहीं देती, ज्ञात नहीं होती, मैं आत्मा होऊँगा या नहीं ?—ऐसा कहता है वह आश्चर्य लगता है।

विवाहित मनुष्य विदेशमें रहता हो तो उसे अविवाहित नहीं कहा जाता; वैसे ही यहाँ कहते हैं कि तू अपनी विद्यमान वस्तुको भूल गया है। विकारादि अविद्यमान वस्तुको तूने विद्यमान माना है। ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव सत् है, वह विद्यमान शक्ति है। लोकमें भी कहते हैं कि सत्को नहीं छोड़ना। चिदानन्द भगवान आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्त है। पुरानी पर्याय मिटकर नई पर्याय उत्पन्न होती है और गुणोंके रूपमें ध्रुव रहता है–ऐसा सत् तेरे द्रव्यका लक्षण है। ऐसे विद्यमान पदार्थको अविद्यमान नहीं माना जाता। ऐसी विद्यमान शक्तिको अविद्यमान मान रखा है उसका कारण कहेंगे।

प्रवचन–१६

पौष शुक्ला–६, सोमवार दि. २२-१२-५२

आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावका अनुसरण करते हुए वीतराग दशा होना उसे अनुभवप्रकाश कहते हैं। आत्मा कर्मावरणमें गुप्त है, परन्तु उसका अभाव नहीं है। किसीका पुत्र घरमें है; उसके पितासे कोई बाजारमें पूछे तो पुत्र साथमें नहीं होने पर भी पुत्रका अभाव नहीं कहेगा, परन्तु कहेगा कि पुत्र है। वैसे ही आत्मा शीतलस्वभावी एवं ज्ञानस्वरूप है, वह प्रगट स्वभाव है; परन्तु कर्ममें गुप्त है इसलिए वह नहीं है ऐसा धर्मी नहीं कहेगा।

जैसे बिल्ली लोटन नामकी वनस्पतिको देखकर उसके चारों ओर घूमती फिरती है—चक्कर मारती है, वैसे ही सत्स्वरूप ऐसे ज्ञानस्वभावको न देखकर स्वरूपकी असावधानीके कारण जीव परिभ्रमण करता रहता है। अपना स्वरूप ज्ञान एवं आनन्दमय है, उसका अवलोकन किए बिना परको अपना मानकर भटकता है, परन्तु स्वको स्वका अवलोकन करने पर अपना राज्य प्राप्त कर लेता है। अज्ञानी शुभाशुभमें पड़कर ज्ञान–आनन्द स्वभावकी सँभाल नहीं करता, परन्तु यदि स्वरूपकी श्रद्धापूर्वक लीनता करे तो तीनों लोकमें पदार्थोंका ज्ञाता–द्रष्टा हो जाए। विकार को हटाना अथवा नवीन विकार ऐसा करना वह भी वस्तुके स्वरूपमें नहीं है। एक क्षण भी स्वरूपसन्मुख दृष्टि करे तो स्वयं ज्ञाता–दृष्टा हो जाए। चिदानन्द स्वरूपोन्मुख हुआ वह क्रिया है। पहले शरीर-मन-वाणीसे लाभ मानता था वह विपरीत पर्याय नष्ट होकर ज्ञानक्रिया हुई वह धार्मिक क्रिया है।

स्वयं ज्ञाता–द्रष्टा होना वह दुर्लभ नहीं है, सुलभ है; क्योंकि वह अपनी वस्तु है। बाह्य संयोगोंको अपने आधीन रखना वह दुर्लभ है। अनन्त शरीर आए और गए, स्वयं वहीका वही है। जो है उसे प्राप्त करना

है अथवा प्राप्त की प्राप्ति है, इसलिए सुलभ है, और जो शरीरादि पर है, आत्माके नहीं हैं, उन्हें प्राप्त करना दुर्लभ है।

जितने आत्मा हैं वे सब ज्ञानस्वरूपी हैं, जाति अपेक्षासे सब एक हैं कोई अंतर नहीं है वह पद प्राप्त करना दुर्लभ नहीं है, परन्तु दुर्लभ माना है। यह व्रत करूँ, शरीरादिकी क्रिया करूँ तो धर्म प्राप्त हो जाएँगा,—ऐसा माननेसे दुर्लभ हो गया है।

कोई पुरुष पशुका स्वांग धारण करे तो उससे वह पशु नहीं हो जाता। कोई नाटकका पात्र स्त्रीका वेश धारण कर ले तो वह स्त्री नहीं हो जाता; तद्नुसार ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा शरीरादिके स्वांग धारण करता है तो अज्ञानी अपनेको तद्रूप मान बैठता है कि—मैं वणिक, मैं स्त्री, मैं पुरुष हूँ। क्रोध होने पर क्रोधी, द्वेष हुआ वहाँ मैं द्वेषी—ऐसा मानता है, परन्तु वे वृत्तियाँ कृत्रिम हैं, वे आत्माका मूल स्वरूप नहीं हैं। ज्ञान-दर्शन अपना स्वभाव है वहा सदा ज्योंका त्यों है।

आत्मा अनादि-अनन्त है और शरीर आदि-अन्तवाला है। अज्ञानी जीव शरीर को अपना मानता है, परन्तु स्वयं तो चिदानन्द आत्मा है, ज्ञान और आनन्दका रस है, आनन्द रसायण-धातु है, उसकी प्रतीति करे तो पुष्टि होकर सिद्ध हो जाए। अपना विद्यमान स्वभाव ज्ञान एवं आनन्दसे परिपूर्ण है। विद्यमान वस्तुके निकट जाना दुर्लभ नहीं है; अविद्यमान वस्तुके पास जाना दुर्लभ है।

जैसे कोई काष्ठकी पुतली बनाकर उसे वास्तविक स्त्री मानकर बुलाए और प्रेम करे, उसकी सेवा करे, परन्तु जब उसे ज्ञात हो कि यह तो काष्ठकी है तब पश्चाताप करता है। वैसे ही आत्मा जड़ शरीरकी सेवा करता है, परन्तु शरीर तो काष्ठके समान है। उसे नहलाना–धुलाना आदि करता रहता है। अनादिकालसे आत्मा अपने शरीरकी तथा स्त्रीके शरीरकी सेवा करता है। इन्द्रियों के विषय धूल हैं, तथापि उनमें अपनत्व मानकर सेवा करता है, जड़में सुखकी कल्पना करता है।

ज्ञानी जानता है कि रजकण तो अनन्तबार आए और गए, स्त्री–

पुरुषके शरीर, धन–सम्पत्ति के ढेर–आनन्दादिके साधन अनेकों बार आए और गए, मैं तो ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाववाला ही हूँ।

दया पालन करेंगे तथा व्रतादि करेंगे तो धर्म होगा—ऐसा अज्ञानी मानता है। पुण्य-पाप से धर्म मानकर उनकी रक्षा करना चाहता है; वह जीव भी जड़की सेवा करता है, चैतन्यको भूल जाता है। परन्तु अपने आत्माकी प्रतीति करे कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ तब झूठ समझकर छोड़ देता है। हिरनोंको सूर्यकी तपनसे खारी जमीनमें चमकके कारण पानीका आभास होता है; वहाँ जल नहीं है फिर भी उसने माना है। वैसे ही शरीर से धर्म होता है, पर की सेवा करेंगे तो धर्म होगा।—ऐसा माननेवाला परको आत्मा मानता है, स्वको आत्मा नहीं मानता।

चिदानन्द आत्माके भिन्न–भिन्न वेश दिखाई देते हैं; वे आत्माके साथ एकमेक नहीं हुए हैं। पुण्य–पापसे लाभ या धर्म माने वह मृगमरीचिकामें पानी मानने जैसा है; इसलिए यथार्थ वस्तुको ज्ञानसे जानना। आत्मा ज्ञान एवं आनन्दसे भरपूर है। अज्ञान से हुई भूल ज्ञानसे दूर होती है।

श्री गुरु बारम्बार यह सार बात कहते हैं कि—तू ज्ञाता–द्रष्टा है; राग या शरीरके साथ मेल करना—एकाकार होना–छोड़ दे, परन्तु ज्ञानके साथ एकाकार हो। कोई वणिक-पुत्र मछली मारनेवाले का संग करे तो शोभा नहीं देता। उसी प्रकार ज्ञानानन्दस्वभावका विकारके साथ एकत्वबुद्धि करना और मानना कि उससे कल्याण होगा–चैतन्यको शोभा नहीं देता।

श्रीगुरु ऐसा सच्चा उपदेश देते हैं और शिष्यको समझमें भी आता है, तथापि अविद्याका आवरण है। कर्मका आवरण नहीं कहा। पुण्य-पापसे कल्याण होना माने वह अविद्या है, उसका आवरण है इसलिए असत्यको सत्य मानता है। रस्सीमें सर्प तीनकालमें नहीं है, वैसे ही आत्माका स्वरूपमें परको अपना माननेरूप विपरीत मान्यता नहीं है। यह शरीर मैं हूँ और इससे मुझे लाभ होगा—ऐसी कल्पना पर्यायमें उत्पन्न

करता है, परन्तु वह कल्पना त्रैकालिक स्वरूपमें नहीं है।

सम्पूर्ण समुद्रके जलसे धोने पर भी शरीर तो अपवित्र ही है, तथापि उसे पवित्र मान रहा है। शरीरको पवित्र रखूँ तो अच्छे विचार आते हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है। यदि ऐसा हो तो सदैव पानीमें रहनेवाली मछलियोंके विचार अच्छे होने चाहिए। अज्ञानी जीव मानता है कि स्नान करने से शरीर का तो कल्याण होता है, परन्तु सारे समुद्रके पानी से धोने पर भी शरीर तो मलिन ही रहता है। स्नानके पश्चात् तुरन्त आँखसे पानी निकलता है, पसीना आता है आदि। इसलिए उसमें पवित्रता तो नहीं है। अज्ञानी शरीर को सँभालनेमें लगा है; भगवान आत्माकी ज्ञानपर्यायको यथार्थरूपमें सुरक्षित करना है, उसका प्रयत्न नहीं करता, किन्तु राग-द्वेषमें दौड़ादौडी कर रहा है। शरीर तो अस्थि-चर्म-मांस आदि से भरा है और चिदानंद आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसका विचार नहीं करता। भाई, शरीर शक्तिहीन हो जाएगा, अनेक प्रकारके रोग होंगे, इसलिए शरीर पवित्र नहीं है। अनुकूल परपदार्थोंका सद्भाव तथा प्रतिकूल पदार्थोंका अभाव करनेका प्रयत्न करके अज्ञानी जो राग-द्वेष करता है वह सब निरर्थक हैं। ज्ञानीको अशक्तिके कारण राग-द्वेष होते हैं वे परसे नहीं है किन्तु अपना चारित्रदोष है। अज्ञानी परको रखना चाहता है इसलिए मिथ्यादर्शन सहित दोष है। इसप्रकार शरीरादि सुन्दर हों तो अच्छा–ऐसा मानकर अज्ञानी धृष्टता करता है। देखो, भगवानकी वाणीने आत्माके गीत गाए हैं। तथा कोई बलजबरीसे ठीकरीका रुपिया बनाकर चलाना चाहे तो उससे कोई वस्तु खरीद नहीं सकेगा; वैसे ही तू पुण्य-पापको भला मानकर धर्ममें चलाना चाहे तब भी उसे धर्म नहीं होगा।

जड़ और पुण्य-पापकी क्रियासे आत्मा प्राप्त नहीं होगा। ज्ञानानन्द से च्युत होकर पुण्य-पापको लाभदायक मानता है वह भूल है। वह भूल यदि नहीं सुधारेगा तो सारी दुनियामें अपनी हँसी स्वयं ही कराऐगा। देखो, यह आत्मा अनन्तज्ञानका स्वामी है, स्वयं अपनेको भूलकर दुःख प्राप्त करता है। जगतमें हँसी होनेसे जीव शर्मिंन्दा होता है। अरेरे ! मैंने यह क्या किया–ऐसा विचारकर पुनः वह कार्य नहीं करेगा। वैसे ही चौरासीके

अवतार धारण करनेसे इस जीवकी हँसी हो रही है। आत्माको सेठ कहना वह गाली देनेके समान है; राजा साहब, श्रीमान् आदि शब्दों द्वारा आत्माको पहिचानना वह उसका मजाक उड़ाने जैसा है। ''दुनियामें ऐसा दान कोई नहीं दे सकता ! आपने तो एक बारमें पच्चीस लाख देकर रिकार्ड तोड़ दिया।''—ऐसा कहकर जड़का स्वामी बनाकर हँसी उड़ाते हैं। जगतमें द्रव्योंका परिणमन अपने-अपने कारण होता है, तथापि अज्ञानी कहता है कि—मुझसे यह कार्य हुए हैं। ऐसा मानने और कहनेसे हँसी होती है। अनादिसे हँसी हो रही है। मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर भी अपने आत्माको नहीं सँभाला। कहावत है कि—''घरके बच्चे भूखे फिरें और पड़ौसी को आटा'' की भाँति आत्माका कल्याण तो करता नहीं है और जगतके कल्याणकी बात करता है, उसके लिए राग करता है। स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप होने पर भी रागको अच्छा मानना वह हँसी करवानेके समान है, फिर भी लज्जित नहीं होता। पुनः पुनः उसी मिथ्यारीतिको ग्रहण करता है। जो-जो शरीर धारण किए हैं उनमें रुचि करके जिस-जिस प्रकारका राग किया उससे हँसीका पात्र बना है, तथापि लज्जित नहीं होता। पुनः पुनः उसी मिथ्या बातको पकड़ा है।

तेरे ज्ञानमें कोई त्रुटि नहीं है ऐसा तेरा पद है। जैसे—'इमलीका नाम लेनेसे मुँहमें पानी आ जाता है,' 'लड्डू बनानेकी विधि बतलाए तो वहाँ भी मुँहमें पानी आता है', वैसे ही यहाँ कहते हैं कि तेरी प्रशंसा करनेसे तुझे आनन्द आए ऐसी तू वस्तु है। कथा-कहानीमें ऐसा आये कि—लक्ष्मणने रावणको मारा, वहाँ लक्ष्मणका नाम सुनते ही उल्लास आता है; तदनुसार यहाँ तेरे आत्माकी बात सुनते और कहते हुये आत्मबल एवं आनन्द उल्लसित हो ऐसा है। उसकी बात करते हुए अनुपम आनन्द आये ऐसा पद है :—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं सभवेद्भव्यो भावि निर्वाण-भाजनम्॥

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका)

जिस जीवने प्रसन्न चित्तसे इस चैतन्यस्वरूप आत्माकी बात भी सुनी है वह भव्य पुरुष भविष्यमें होनेवाली मुक्तिका अवश्य भाजन होता है। शरीर, मन, वाणी एवं पुण्य-पाप रहित आत्मा ज्ञायक है;—ऐसी बात स्वलक्षसे सुने तो आनन्द आए ऐसा है।

तू चिदानन्द भगवान है, यह शरीर तू नहीं है। अपने पदको तू ग्रहण नहीं करता और परवस्तुओंकी रुचि करता है। चौरासीके बन्दीगृहका सेवन अत्यन्त रुचिपूर्वक करता हैं। ''अधिक व्यवहार करें तो कल्याण हो जाए''—ऐसी विकारकी बातें रुचिपूर्वक सुनता है परन्तु आत्माकी बातमें रस नहीं आता।

आत्माका साधन द्रव्य स्वयं है; उस साधनको ग्रहण करे तो शुभरागको व्यवहार कहा जाता है। प्रथम शुभरागकी भूमिकामें ऐसा ही जाना था कि ज्ञानस्वभावको ग्रहण करनेसे धर्म होगा। भगवानने आनन्दस्वरूपमें लीनता की थी वह तपश्चर्या है, और लीनता होने पर इच्छा नहीं हुई और उतने काल तक आहारका योग नहीं था। आत्मप्रतीतिके बिना उपवास करके लोग धर्म मानें तो उसमें धर्म है ही नहीं।

लोग परकी रुचि करते हैं। परकी प्रीति करना वह चौरासीका बन्दीगृह है। पाँच लाख कैसे कमाए जा सकते हैं उसकी बात कोई सोते समय करे तो नींद नहीं आती। इसप्रकार संसारमें भटकनेकी बात रुचिपूर्वक सुनता है, परन्तु आत्माकी बात प्रेमपूर्वक नहीं सुनता। ऐसे हठाग्रहको पकड़कर चिदानन्दसे विपरीत प्रकारको अनुपम मान रहा है और पुण्य परिणामोंको इष्ट–हितकर मानता है वह धर्मका विरोधी है। वह विपरीत मानता है। व्यवहार रत्नत्रय और दया-दानादिके परिणाम को अनुपम मानता है, व्यवहार कर-करके हर्षित होता है, परन्तु स्वभाव रागरहित है उसे नहीं मानता। जैसे सर्पको हार जानकर उसमें हाथ डाले तो दुःखी ही होगा; वैसे ही परकी रुचि तथा विकारकी रुचि करने से दुःखी होगा। विकारभाव विष है; उसका रुचिपूर्वक सेवन करनेसे संसार

होगा; उसमें सुख नहीं दुःख ही होगा।

जैसे एक नजरबन्दीवाला मनुष्य एक नगरमें राजाके पास आकर रहने लगा। कुछ दिनोंके बाद राजाकी मृत्यु हो गई। उस मनुष्यने राजाको मृत नहीं बतलाकर गहराईमें गाड़ दिया; ऊपरसे खूब मिट्टी डलवाकर दूसरोंको पता नहीं चले ऐसी जगह बनवा दी। फिर नजरबन्दी द्वारा काष्ठके राजाको दरबारमें बिठा दिया। नजरबन्दीकी विशेषतासे वह सबको सच्चा लगने लगा। जब कोई राजासे कुछ पूछता, वह नजरबन्दीवाला मनुष्य उत्तर देता और लोग मानते थे कि राजा बोल रहा है।—ऐसा चरित्र नजरबन्दीसे किया। इतनेमें एक मनुष्य जंगलकी एक जडीबूटी सिर पर लेकर आया, उस बूटीके बलसे उसकी दृष्टि नहीं बँधी। तब वह कहने लगा कि—अरे कुबुद्धिजनो ! यह काष्ठका पुतला प्रत्यक्ष दिखाई देता है, फिर भी तुम प्रत्यक्ष राजा समझकर उसकी सेवा कर रहे हो ! धिक्कार है तुम्हारी ऐसी समझको ! उसी प्रकार इन सर्व संसारी जीवोंकी दृष्टि विपरीत मान्यतासे बँध गई है; परमें सावधानी करके उसकी सेवा करते हैं। भगवानकी प्रतिमाकी सेवा करनेसे कल्याण होगा—ऐसा मानते हैं। आत्मा स्वयं भगवान है, उसे छोड़कर परकी सेवा करते हैं और उसमें धर्म मानते हैं। परमें चैतन्यका अंश नहीं है , साक्षात् भगवानमें भी अपना अंश नहीं है। मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ—ऐसा बूटीरूपी ज्ञान जिसने प्रगट किया वह जानता है कि शरीर, विकार, पुण्य-पाप आदि सब अचेतन है; उनमें संसारी कुबुद्धि अपनत्व मानते हैं और दुःखी होते हैं। उस समझको धिक्कार है ! मिथ्या मान्यतासे दुःखदायक हठको सुखदायक जानकर सेवन करते हैं, परन्तु उनको सुख नहीं हो सकता।

प्रवचन–१७

पौष शुक्ला-७, मंगलवार दि. २३-१२-५२

अनादिकालसे आत्माका स्वभाव क्यों अनुभवमें नहीं आता वह बतलाते हैं। आत्मा प्रसिद्ध वस्तु है, उसकी सन्मुखता क्यों नहीं हुई वह कहते हैं—(१) जैसे किसीको जन्मसे ही आँख पर त्वचाका लपेटा आ गया। नीचे आँखका तो प्रकाश ज्योंका त्यों है, परन्तु त्वचाका आवरण होने से उसे दिखाई नहीं देता। जब कोई डॉक्टर मिला और उसने कहा कि तेरी आँखकी रोशनी तो बराबर है उसमें कोई कमी नहीं है; और यत्नपूर्वक त्वचाका आवरण हटा दिया, तब उसने स्वयं को देखा और आसपासका भी दिखने लगा। आँख खुलते ही स्व-परको देखने लगा। स्वयं उपाय करने पर ऐसा हुआ।

(२) उसी प्रकार आत्माका ज्ञानस्वभाव है, परन्तु पर्यायमें आवरणबुद्धि से चैतन्यको ढँका हुआ माना है। दृष्टि संयोगों पर होनेसे चैतन्यको नहीं देख सकता। फिर श्रीगुरु मिले, वे उपाय बतलाते हैं कि—जो ज्ञानपर्याय परोन्मुख है, राग तथा अल्पज्ञताकी ओर झुक रही है उसे स्वभावोन्मुख करके अपनी भूलको सुधार—ऐसा गुरुने बतलाया। तेरा अपनत्व कहाँ है ? रागमें और अल्पज्ञतामें अपनत्व माना वह सच्चा नहीं है। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानको ढँकनेमें निमित्त है उसे मत देख। पर्यायदृष्टिवान संयोगको देखता है और द्रव्यदृष्टिवान स्वभावको देखता है। तेरा स्वभाव तुझसे विकसित होता है, स्वभावकी मुख्यतामें पर ज्ञात होता है; द्रव्यस्वभावकी श्रेष्ठता–मुख्यताको चूककर परको सर्वस्व जाना उसमें ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त है।

(३) इसप्रकार गुरुने जो कहा शिष्यने लक्षमें लिया। मैंने पर्यायबुद्धिसे परको महत्व दिया, इसलिए ज्ञानावरणीयका बंध हुआ है, परन्तु अब दृष्टि बदलकर नित्य निर्मल ज्ञानतेजको देख। चैतन्यसूर्य को आवरण

नहीं है और जो अभाव हो उसको आवरण नहीं होता। इसप्रकार सच्ची दृष्टि करनेसे स्वयं चिद्घनस्वरूप है, उसमें कोई दोष नहीं है,—ऐसा अपना घर देखा इससे दुःखी हुआ। स्वयं श्रद्धा की तब गुरुको निमित्त कहा जाता है। इसप्रकार सच्ची श्रद्धासे सुखी हुआ।

(४) ज्ञानस्वभाव स्व-परप्रकाशक है। उसमें अपनेको जानने पर सच्चे गुरु आदि निमित्तोंको जान लेता है, और राग शेष है इसलिए उस प्रकारका बहुमान आए बिना नहीं रहता। वह ज्ञानस्वभावका सामर्थ्य है कि अपने स्वभावको, शुभरागको और निमित्तको यथार्थ जान लेता है।

जैसे रस्सीमें सर्प नहीं है, वैसे ही विकार या आवरणमें आत्मा नहीं है। सफेद सीपमें चाँदी नहीं है, वैसे ही विकार एवं संयोगमें आत्मा नहीं है। मृगमरीचिकामें जल नहीं है, वैसे ही परपदार्थोंमें आत्मा नहीं है। काँचके मन्दिरमें दूसरा श्वान नहीं है परन्तु काँचमें श्वानका प्रतिबिम्ब दिखने पर दूसरा श्वान दिखता है तो सच्चा श्वान भोंकने लगता है, परन्तु वहाँ दूसरा श्वान है ही नहीं। उसी प्रकार तेरे चैतन्यमें अन्य वस्तुका अभाव है; दूसरेमें तू नहीं है। मृगकी नाभिमें कस्तूरी है परन्तु बाह्यमें नहीं है; उसी प्रकार तेरा ज्ञान और आनन्द तुझमें है, अन्यत्र नहीं है। अन्धकारमें प्रकाश नहीं होता वैसे ही रागरूपी अंधेरेमें ज्ञानप्रकाश नहीं होता। पीतलकी नलीमें तोतेको किसीने पकड़ा नहीं है। डोरीमें नली लगी होती है, उस पर ज्यों ही तोता बैठता है तब पोली नलियाँ घूम जाती है और तोता उलटा हो जाता है, वहाँ मानता है कि मैं पकड़ा गया। उसी प्रकार अज्ञानीने निमित्त, संयोग एवं विकारको महत्त्व दिया है। कर्मोंने मुझे रोका है, ऐसा माना है, इसलिए उसकी दृष्टि बिगड़ गई है। यदि तोता पैर छुड़ाए तो उड़कर जा सकता है; वैसे ही सच्ची दृष्टि करे तो ज्ञान प्रगट होता है। गागरमें बेर रखे थे उन्हें लेनेके लालचमें बन्दरने मुट्ठी भर ली। मुट्ठी बड़ी और गागरका मुँह छोटा होने से वह मानता है कि मुझे भूतने पकड़ लिया है। उसी प्रकार अज्ञानी शरीर-मन-वाणी तथा पुण्य-पापको स्वयं पकड़ता है, फिर भी मानता है उसने मुझे पकड़ लिया है। क्या करें? यह स्त्री-बच्चे मुझे हैरान करते हैं। कर्मोंने

पकड़ रखा है, कर्म छूटें तो सुखी हो सकता हूँ; परन्तु अपनी विपरीत दृष्टिसे भूल हुई है यह बात ध्यानमें नहीं आती। बन्दर अगर मुट्ठी खोलकर बेर छोड़ दे तो छूट सकता है, वैसे ही अज्ञानी विपरीत दृष्टि छोड़ दे तो सुखी हो सकता है।

कुएँमें अपना प्रतिबिंब देखकर सिंह गर्जना करता है, परन्तु वहाँ दूसरा सिंह नहीं है; वैसे ही मुझे इन पदार्थोंने पकड़ रखा है, कर्मोंने मुझे हैरान कर दिया, कर्मोंने मुझे बलजबरी से बांध रखा है; —ऐसे विलाप अज्ञानी करता रहता है, परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी प्रतीति नहीं करता। जहाँ जो वस्तु दृष्टिगोचर होती है वहाँ तू है। कर्म, राग या किसी भी वस्तुको स्मरण करनेवाली तेरी ज्ञानवस्तु है। ज्ञानानन्द चैतन्य वस्तु आत्मा है। भूतकालकी बातों का स्वयं स्मरण करता है। अपनी अस्तिमें वे सब बातें ज्ञात होती हैं। पर्यायवानके अवलम्बनसे ज्ञानपर्याय प्रगट होती है उसका ध्यान अज्ञानीको नहीं आता।

अनादिसे प्रति समय भूल करता आया है, इसलिए दुःख प्राप्त करता है। शरीर अच्छा होता तो मैं त्यागी होता, वनमें रहता, आदि कल्पनाएँ करके मूढ़ जीव शरीरके साथ एकत्वबुद्धि करता है और उससे दुःखी होता है।

अज्ञानी जीव तर्क करता है कि—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय बिना विपरीत श्रद्धा होती है ? ज्ञानावरणीय कर्मके उदय बिना ज्ञान रुकता है ? ऐसे तर्क करके कर्मों पर भार देता है, वे सब निमित्तके कथन हैं। मोहमें दर्शनमोह निमित्त है और ज्ञानकी हीनतामें ज्ञानावरणीय निमित्त है। निमित्तका कथन हो वहाँ भी ऐसा ही बतलाना है कि जहाँ-जहाँ देखूँ वहाँ-वहाँ मेरा ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। परवस्तु मुझमें नहीं है, स्वयं ज्ञान ही है। अन्य वस्तुका अपनेमें प्रवेश नहीं है। कर्मादि अन्य वस्तुएँ भासती हैं वहाँ भी अपना ज्ञान भासित होता है। आत्मा चिदानंद है, उसे यथार्थ जानकर सदा सुखी हो। कोई भी परवस्तु ज्ञात होती है वह सब व्यवहार है। ज्ञानस्वभावको निश्चय से जगतकी खबर नहीं है; निश्चयसे जगत

ज्ञाननमें नहीं है; क्योंकि यदि निश्चय से जगत ज्ञानमें आए तो जगत और ज्ञान एक हो जाए परन्तु ऐसा नहीं है। जगत है ऐसा ज्ञान ज्ञानमें आया। स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है वह अपना है। परको जानना वह व्यवहार है। स्वभाववान और स्व-परप्रकाशक स्वभाव फूल और सुगन्धकी भाँति एकमेक हैं। यदि सत्य समझे तो सदा सुखी होगा।

यह जीव सुखके लिए अनेक उपाय करता है। जैसे—भिखारी रोटीके टुकड़े मांगने के लिए घर-घर फिरता है, वैसे ही व्यापारी देश-परदेश घूमता है। तथा पैसा कमाने पर उसका ब्याज आएगा, तब फिर आरामसे धर्म होगा–ऐसा मानता है; मकान बनवाए, गहने बनवाए आदि कार्य हमने अपनी कमाईसे किए ऐसा मानता है, परन्तु धन–सम्पत्ति पूर्वके पुण्यके कारण मिलती है इसकी उसे खबर नहीं है। अज्ञानी लक्ष्मीमें सुख मानता है। आत्माकी रुचि छोड़कर जगतका भिखारी धनप्राप्तिमें सुख मानता है। पैसा बढ़ जाने पर अभिमान करता है, मानता है कि—''मैं चौड़ा और गली संकरी'' आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति नहीं करता, परन्तु स्त्री-पुत्र, महल-मकानमें सुख मानता है। पैसेके लिए परदेशमें जाता है, समयके अभावमें भोजन भी एकबार लेता है, स्नान–ध्यान–शयनका भी ठिकाना नहीं होता,—इत्यादि अनेक कष्ट सहन करता है, परन्तु अपने आत्माके लिए कुछ नहीं करता। वृद्धावस्था आने पर भी अवकाश नहीं मिलता। भगवान आत्माकी प्रतीति नहीं करता, उसे जाने–समझे तो सुखी हो। जैसे किसी मनुष्यकी गठरीमें उच्च प्रकारके लालमणि–रत्न हैं। यदि गठरी खोलकर देखे तो सुखी हो सकता है। वैसे ही आत्मा ज्ञान, दर्शनादि गुणोंकी गठरी है, परन्तु मिथ्याभ्रान्ति और राग-द्वेष द्वारा आत्माको बाँध रखा है, और उसे खोलता नहीं है। चिदानंदमूर्ति आत्माकी गठरीको श्रद्धा–ज्ञानकी कलासे खोले तो सुखी होगा।

अंधा आदमी यदि कुएँमें गिर जाए तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, परन्तु सूझता(दृष्टिवान) गिरे तो आश्चर्य है। वैसे ही आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है वह संसार-कूपमें गिरे तो महान आश्चर्य है। जानना-देखना उसका

स्वभाव है, तथापि अंधा होकर शरीरादि एवं विकारको अपना मानकर कुएँमें गिरता है–यह महान आश्चर्य है। असावधानीरूप मोह द्वारा ठगे गए हैं, इसलिए परघरको अपना मानकर निजघरको भूल गया है ! वणिक-पुत्र निचली जातिकी कन्यासे विवाह करे तो उसमें प्रेमभाव–मोहभाव है; वैसे ही ज्ञानस्वभावी आत्मा विकार एवं संयोगादि परवस्तुमें रुक गया है वह उसका मोहभाव है। परवस्तुएँ अपने जीवनमें वियोगको प्राप्त होती हैं—ऐसा जानने पर भी उन्हें अपनी मानता है। ज्ञानमंत्र द्वारा मोहका नाश होता है। मैं ज्ञानमूर्ति आनन्दस्वरूप हूँ ऐसी प्रतीति करे तो मोह नष्ट होकर निजघरको प्राप्त करे।

श्रीगुरु बारम्बार निजघरको प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हैं। वे कहते हैं कि तेरा अखण्डित राज्य तुझमें है, जानने-देखनेका व्यापार तुझमें है। विकार और शरीरको भूल जा, रुचिको बदल दे।—ऐसा कहकर यह रीति बतलाते हैं। अपने अखण्डित निधानको लेकर अविनाशी राज्य कर। अपनी उपेक्षासे ही अपने राज्यपदको भूल गया है और संसारमें भटक रहा है। अज्ञानी जीव व्यर्थ ही कर्म पर दोषारोपण करता है।

अपने राज्यपदको भूलकर कौड़ी-कौड़ीका भिखारी बन गया है। अज्ञानी जीव पुत्र प्राप्तिके लिए प्रार्थना करता है कि—''हे भगवान ! इतना धन दिया है, अब इसे सँभालनेके लिए एक पुत्र दो।'' इस प्रकार पुत्रकी भिक्षा मांगता है, कंगाल जैसा हो गया है। अपने निधानको भूल गया है। चिदानन्द स्वभावकी रुचि करे तो वह निधान अपने पास है। जो निकट है–पास है उसे नहीं सँभाला इसलिए दुःखी हुआ है। अज्ञानी मानता है कि पुण्य करें तो पैसा मिलेगा और उससे सुखी होऊँगा; परन्तु स्वभावमें सुख है ऐसा नहीं मानता, इसलिए दुःखी हो रहा है।

जैसे—चाँपा नामके ग्वालेने धतूरा पी लिया और पागल हो गया तब ऐसा मानने लगा कि ''मैं चाँपा नहीं हूँ।'' फिर अपने घर जाकर आवाज देता है कि ''चाँपा घर है ?'' तब उसकी घरवालीने कहा कि तू कौन है ? तब उसे होश आया कि चाँपा तो मैं ही हूँ। उसी प्रकार

अज्ञानी बाह्यमें सुख शोधता है कि कहीं सुख शान्ति है ? गुरुने कहा कि तुझमें ही सुख है, तेरा निधान तेरे ही पास है, बाहर ढूँढने जाना पड़े ऐसा नहीं है। चिदानन्दकी शक्तिका भण्डार तू है, उसके गीत दिव्यध्वनिमें भी पूरे नहीं गाए जा सकते। उसे प्राप्त करेगा वह सुखी होगा। कहाँ तक कहे ? वस्तु तो महिमाका भण्डार है। आत्मा स्वयं कभी कुम्हलाया नहीं है, एक भी शक्ति मर नहीं गई है। वस्तु तो ज्यों की त्यों विद्यमान है। तथा अपना पद तो अनुपम है, ऐसा अपना राज्य है, स्वाभाविक सुखका कन्द है, तथा आत्मा इन्द्रियों एवं रागसे जाननेमें आए ऐसा नहीं है, स्वयं अपने से ज्ञात हो ऐसा है। अपना तेज मर्यादारहित–अमर्यादित है। स्वभावमें मर्यादा नहीं है, वह अनन्त महिमा धारी है। अज्ञानी जीव विषय-वासना, काम, क्रोधादिमें अपनत्व मानता है, परन्तु वहाँ दुःख है।

प्रवचन–१८

पौष शुक्ला ८, बुधवार दि. २४-१२-५२

अनुभवप्रकाशका अर्थ क्या? आत्माका निजानन्द स्वरूप है, उसकी पर्यायमें पुण्य-पाप होते हैं वह वेश-स्वांग है; उसकी रुचि छोड़कर स्वभावका अनुभव करना वह अनुभवप्रकाश है। नटने कोई वेश धारण किया हो तब तक नाचता है, और जब घरका वेश पहिन लेता है तब नहीं नाचता। यह दृष्टान्त है। वैसे ही आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उससे विमुख होकर व्रत, भक्ति आदि विकारके परिणामोंको अपने मानकर भटक रहा है। मैंने व्रत पाले, पूजा की–ऐसा मिथ्याभाव स्वांग है, उसके कारण चौरासीमें परिभ्रमण कर रहा है। वह स्वांग मूलरूप नहीं है। आत्माका ज्ञाता–द्रष्टापना मूलस्वरूप है। उसकी प्रतीति किए बिना विकारसे लाभ मानता है, इसलिए संसारमें परिभ्रमण करता है।

मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ—ऐसी प्रतीति करे और अन्तर्दृष्टिपूर्वक स्थिर रहे तो चौरासीमें अवतार नहीं होगा। बहुत तपस्या करके मिथ्यादृष्टि मुनि नववें ग्रैवेयकमें जाता है, परन्तु वह विकारको अपना स्वरूप मानता है इसलिए संसारमें परिभ्रमण करता है।

पुण्य-पापकी वृत्तियाँ अस्थिर है–चंचल हैं, वह चंचलता मिटने पर आत्माके भवका अभाव होता है और ज्ञानदृष्टि खुलती है। मैं ज्ञाता हूँ, शुभाशुभको जाननेवाला हूँ, परन्तु उसका कर्ता नहीं हूँ।

''तनता, मनता, वचनता, जड़ता जड़सम्मेल।
गुरुता, लघुता, गमनता, यही जीवका खेल॥''

यह सब अजीवका खेल है, वह आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञाता है, उसमें स्थिरता करे तो परिभ्रमणका अन्त हो।

यह सम्यग्दर्शनकी बात चलती है, उसे अनुभव कहते हैं। स्वभावमें परिभ्रमण नहीं है—ऐसी श्रद्धा करे, मुनियोंको आनन्दकन्दमें लीनता होती है वैसे अनुभवमें स्थिर रहे, उसे धन्य है।

स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसको सम्यग्ज्ञानसे अवलोकन करने पर अखण्ड रसधारा बरसे वह अनुभव है। पुण्य-पाप खण्डधारा है; चिदानन्दके आश्रयसे रसधारा बरसती है—ऐसा जानकर मिथ्यात्वभाव मिटाए। विकार मेरा स्वरूप है ऐसी मान्यता मिटाए तो सम्यग्दर्शन हो और परिभ्रमण मिटे।

धर्मात्मा विचारता है कि मैं शक्तिकी खान हूँ, सुखनिधान हूँ, मेरा ज्ञानस्वरूप है, परमप्रकाश है, व्यवहार और शरीरकी क्रियाका ज्ञाता हूँ परन्तु कर्ता नहीं हूँ, तथा जिसे किसीकी उपमा नहीं है ऐसा मेरा पद है।

ऐसा आत्माका स्वरूप है। आकाशवत् अविकारी पद है। कर्मका अवलम्बन लेने से संसार हुआ है—ऐसा विचारता है। कर्म आत्माको विकार नहीं कराता, स्वभावका अवलोकन छोड़कर पुण्य-पापके भाव करे वह विकार और संसार है। जैसे–आकाशको लेप नहीं लगता; बादल आए और जाए तब भी आकाशमें लेप नहीं लगता, वैसा ही मेरा आत्मा है। शरीर, मन, वाणी आदि आए और जाए तथापि लेप नहीं है। कर्मके निमित्तसे लेप लगा है, परन्तु स्वभावमें लेप नहीं है।

प्रश्न :—आनन्दकंद आत्मामें परके निवासका अवकाश नहीं है; कर्म जड़–रूपी हैं और आत्मा चैतन्य–अरूपी है, उसमें कर्मादि परका अवकाश नहीं है, परन्तु संयोगदृष्टि करके संसार उत्पन्न करता है, भूल किसीने करवायी नहीं है, कर्म आत्मा नहीं हैं दोनों भिन्न–भिन्न हैं तो संसार अथवा उदयभाव कहाँ से हुआ ?

समाधान :—सोनेकी खानमें सोना गुप्त है, कर्मरूपी दलदलमें चिदानन्द भगवान ज्योंका त्यों विद्यमान है। धूल वह धूल है और सोना वह सोना है, उसी प्रकार कर्म मिट्टी है और आत्मा चिदानन्द अरूपी सोना गुप्त है। आत्मा अनादिकालसे कर्ममें गुप्त है। अनादिसे ज्ञानानन्द स्वभावसे

च्युत होकर पर्यायमें संसारका वेश धारण किया है वह औदयिकभाव है, वह भाव स्वतत्त्व है। उसे कर्मने नहीं कराया है। आत्मामें भ्रान्ति, विकार, दया–दानादिके भाव होते हैं वह अरूपी स्वतत्त्व है, वह जीवकी पर्यायमें होता है, कर्मके कारण वे नहीं होते। कर्म तो निमित्तमात्र है। स्वके व्यापारसे हटकर परके संगसे अशुद्ध व्यापार खड़ा किया है। अशुद्ध उपयोगमें संसारभाव है, विषैलाभाव है, आत्माके अमृतसे विपरीतभाव है; वह अशुद्धता कैसे लगी है सो कहते हैं।

विकारी पर्याय क्षणिक उपाधि है उसे अपना माना है। जड़ इन्द्रियाँ पाँच हैं वे मेरी हैं और मैं उनका स्वामी हूँ; इन्द्रियोंकी क्रिया मैं कर सकता हूँ—ऐसा मानता है। मन जड़ है उसे अपना मानता है, वाणी जड़ है तथापि मैं वाणी बोल सकता हूँ—ऐसा मानकर वचनको अपना स्वरूप मानता है। मनुष्यादि गतियोंको अपनी मानता है कर्म–नोकर्मको अपना मानता है; धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल एवं जीवादि जितनी परवस्तुएँ हैं उन सबको अपनी जानता है। देव-गुरु अन्य जीव हैं, अपनेसे पृथक् हैं; ''स्त्री तथा कुटुम्बीजनोंके आत्मा अपने को अनुकूल है, देव-गुरु हमें पार कर देंगे और शास्त्र हमको ज्ञान देंगे''—ऐसा अज्ञानी मानता हैं शास्त्र जड़ हैं उनसे ज्ञान होना मानता हैं परन्तु स्वयं ज्ञाता हैं इसलिए अपनेसे ज्ञान होता है ऐसा नहीं मानता। परवस्तु से लाभ होता है–ऐसा माननेवाले परको अपनी वस्तु मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। शरीरको स्वस्थ रखना, वचनका सदुपयोग करना–ऐसा मानते हैं। वचनसे क्रोध या क्षमा नहीं होते, क्योंकि वचन जड़ है, तथापि उन सबको अपनेसे एकमेक मानते हैं।

आत्मा स्वयं जीवित है; उसे जिलाना और मारना क्या? शरीर, वाणी तो अचेतन–मृत हैं, उनको मारना क्या? सामनेवाला जीव अपने प्राणसे जीवित है, फिर भी अज्ञानी मानता है कि मैंने उसे जिलाया। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव चाहे जितने व्रत-तप करे फिर भी व्यर्थ है। कौन किसे मारे और कौन किसे बचाए? तथा कौन किसे समझाए? जीव स्वयं

समझनेवाला है इसलिए उसे समझाना नहीं रहता और जड़में ज्ञान नहीं है इसलिए समझाना नहीं रहता। अज्ञानीको लगता है कि वाणीके कारण मैं समझता हूँ, परन्तु प्रत्एक जीव अपनेसे समझता है—ऐसा वह नहीं समझता।

अज्ञानी मानता है कि परकी व्यवस्था मैं कर सकता हूँ, उसे नवतत्त्वों की खबर नहीं है। अजीव स्वयंसिद्ध तत्त्व है, उसे जीव रख सकता है? नहीं; जो हो उसे रखा नहीं जा सकता और जो न हो उसे नहीं रखा जा सकता। अज्ञानी परवस्तुको अपनी जानता है और अपनेको पर मानता है। पुस्तकसे ज्ञान माने और वाणीसे ज्ञान माने—ऐसा माननेवाला अपनेको पर मानता है।

स्वयं सर्वज्ञशक्तिवाला जीव है, तथापि पर मेरा और मैं उसका ऐसी मान्यतामें रुक गया है। शरीर, मन, वाणी रूपी हैं और मैं ज्ञानस्वरूप अरूपी हूँ—ऐसी प्रतीति नहीं आती। परसे मुझे ध्यान आया और मैं उसे सहायता करूँ—ऐसे भ्रमके कारण रागमें रुक गया है। जो दया-दानादिकी वृत्ति उठती है वह मेरे स्वभावमेंसे आती है—ऐसा मानता है, परवस्तुको अपनेरूप जानता है और अपनेको पर-जानता है—ऐसा मानने से जो ज्ञान सर्व शक्तिवान था उसमें (पर्यायमें) अज्ञानरूप विकार हुआ। परसे अपनेको लाभ-हानि मानी वही अपने ज्ञानमें विकार हुआ।

उसी प्रकार जीवका दर्शनगुण है। परवस्तुको अपनी मानकर देखता है, तथा आँखों से दिखाई देता है ऐसा मानता है, परन्तु अपनेसे दिखता है—ऐसा नहीं मानता। जितने परवस्तुके भेद हैं उन सर्वको अपनेरूप मानकर देखता है। हम ध्यान रखें तो बच्चे बराबर पढ़ते हैं—ऐसा मानता है। उनकी पर्याय उनके कालमें होगी उसमें जीवका राग निमित्त मात्र है, परन्तु अपनेसे परमें कार्य मानता है। व्यापारी मानता है कि मुझसे दुकानका काम चलता है, वह मूर्ख है। उसकी पर्याय जड़से होती है, आत्मासे कदापि हुई नहीं है, होती नहीं है और होगी नहीं। मैं हूँ तो परकी रक्षा होगी, पैसेकी रक्षा होगी—ऐसा मानता है। परकी पर्याय अपनेसे

होना मानता है वह अपनी पर्याय परसे होती है—ऐसा मानेगा। —इसप्रकार यह सब कुछ मैं हूँ; अपनेको परमें और परको अपनेमें देखता है। लोकालोक देखनेकी दर्शनशक्ति है वह शक्ति अदर्शनरूप हो गई है; दर्शनपर्यायमें हीन हुआ है।—इसप्रकार अनादिकालसे विकाररूप हुआ है। कर्मके उदयसे ज्ञान अथवा दर्शन हीन हुआ—ऐसा नहीं कहा, स्वयं परमें ममत्वभाव किया इसलिए हीन हुआ है। एक वस्तु दूसरी वस्तुको लाभ-हानि पहुँचाती है—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है। मेरा ज्ञान मुझसे और परकी क्रिया परसे होती है;—ऐसा नहीं मानकर परकी क्रिया मुझसे और मेरा ज्ञान परसे होता है—ऐसा मानना वह हीन दशाका कारण है।

अब, जीवका सम्यक्त्वगुण था उसे अठीक करके जीवके भेदोंको अजीवमें ठीकरूप करते हैं। जो चेतनवस्तु है उसके ज्ञान, दर्शन और आनन्द उसके कारण होते हैं, तथापि उसकी चेतनता परसे आती है अथवा पुस्तक, वाणीसे आती है—ऐसा माने वह चेतनको अचेतन मानता है। मैं निमित्त होऊँ तो अन्य जीव सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्राप्त करे —ऐसा मानता है वह दूसरे जीवको चैतन्यगुणवाला नहीं मानता। इसप्रकार चेतनको अचेतन मानता है।

तथा मैं जैसी इच्छा करूँगा वैसा वाणीका परिणमन होगा और मुझसे शरीरकी क्रिया होगी,—ऐसा मानता है वह अचेतन को चेतन मानता है। शरीरादिक की क्रिया वह सब अजीवका खेल है। मैं परजीवको जिलाऊँ या सुखी कर दूँ–यह मान्यता चेतनको अचेतन माननेके बराबर है।

पुण्य–पाप विभाव हैं उन्हें स्वभाव मानता है। पुण्य–पाप उदयभाव हैं, उनके द्वारा सम्यग्दर्शन होगा ऐसा मानता है वह विपरीत मान्यता है। दर्शनमोहनीय कर्मका उदय आया इसलिए मिथ्यात्व हुआ—ऐसा नहीं कहा; स्वयं अपने स्वभावसे च्युत होकर विभावको अपना मानता है वह मिथ्यादर्शन है। उसमें कर्म निमित्तमात्र है। स्वभावकी रक्षा नहीं करके

विभावकी रक्षा करना मिथ्याभाव है। पुण्य-पापकी वृत्ति विभाव है, उसे त्रैकालिक स्वभाव मानता है अथवा विभावसे क्रमशः धर्म होगा–ऐसा मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

अपनेमें सम्यक्त्वगुण है। उसकी विपरीत दशा अपनी विपरीत मान्यतासे होती है। द्रव्य क्या है वह प्रतीतिमें नहीं आता, परन्तु विभाव ध्यानमें आता है। द्रव्य शुद्ध चिदानंद त्रैकालिक है और विभाव अनित्य पर्याय है। जो अपनेको विभाव जितना ही मानता है वह स्वभावको विभाव मानता है।

स्वयं त्रिकालिक द्रव्य है, उसकी जिसे खबर नहीं है वह द्रव्यको अद्रव्य मानता है। द्रव्यमेंसे पर्याय प्रवाहित होती है, द्रव्यत्वगुणकी प्रधानतासे आत्माको द्रव्य कहा जाता है। अनन्त गुणोंका पिण्ड जो द्रव्य है उसे न मानकर पर्याय जितना ही मानना वह द्रव्यको अद्रव्य माननेके बराबर है। परकी पर्याय मुझसे होती है ऐसा माननेवालेको द्रव्यकी खबर नहीं है। ऐसी जीवकी दृष्टिमें मूलमें भूल है।

गुण त्रैकालिक स्वभाव है, उसे अवगुण मानता है। ''गुणमें शक्ति हो तो विकार टलना चाहिए ना? हमें आनन्द स्वभावका आभास नहीं होता, परन्तु हमें तो विकार दिखाई देता है''—इसप्रकार गुणको अवगुण मानता है।

प्रतिमासे ज्ञान हुआ, श्रवण करनेसे ज्ञान हुआ—ऐसा माननेवाला ज्ञानको अपना नहीं मानता; वह ज्ञान तथा ज्ञेयको भिन्न नहीं मानता। तथा ज्ञेयको ज्ञान मानता है; शरीर, मन, वाणी ज्ञेय हैं, तथापि उनको अपना मानना वह ज्ञेयको ज्ञान मानने जैसा है।

तथा अपने को पर मानता है। नौकर सेठसे कहता है कि—आपके आधारसे जी रहा हूँ, परन्तु जड़ जड़के आधारसे टिकता है और चैतन्य चैतन्यके आधारसे। जिसकी सत्ता भिन्न है उसके साथ आधार–आधेय सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथा ज्ञेयको अपना आधार मानता है; शरीर आत्माके आधारसे टिका है ऐसा मानता है; परन्तु शरीर शरीरके

कारण रहता है, आत्माके कारण नहीं रहता। जड़की पर्याय जड़के आधार से रहती है, तथापि आत्माके कारण रहती है—ऐसा मानना वह पाखण्ड भाव है।

शरीर उसके अपने कारण रहता है; आयुकर्म निमित्तमात्र है। आयुके स्वचतुष्टय और शरीरके स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न हैं। आयुके कारण जीता है–ऐसा कथन मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलानेके लिए है। चिदानन्द आत्माकी दृष्टि किए बिना शरीरके वियोग से मैं मरा और शरीरके संयोग से मैं जीवित हूँ—ऐसा मानना वह भ्रान्ति है।

इसप्रकार सर्व विपरीतता अज्ञानी अनादिसे करता है, उससे जीवका सम्यक्‌गुण (श्रद्धागुण) मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–१९

पौष शुक्ला ९, गुरुवार दि. २५-१२-५२

स्वभावोन्मुखताका पुरुषार्थ ही अनुभवप्रकाश है। अनन्तगुणोंके पिण्डरूप स्वभावकी प्रतीति करने से जो मोक्षमार्ग प्रगट होता है, वह क्यों अनादिकालसे प्रगट नहीं हुआ? कर्म या क्षेत्र कारण नहीं हैं, परन्तु स्वयं विपरीतरूप परिणमित होता है इसलिए मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। आत्मामें सम्यक्त्व नामका गुण है, उसकी विपरीत दशा हुई इसलिए विपरीतको अविपरीत मानता है, स्व को पर मानता है, विभावको स्वभाव मानता है—इसप्रकार विपरीत मानता है। कर्मोंने परिणमित नहीं किया है। आत्मामें ज्ञान-दर्शन गुण हैं, वे परमें अटककर हीन हुए हैं। आत्मामें सम्यक्त्वगुण अपना है, परन्तु विपरीत बुद्धि करके मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ है। पुण्यको हितकर मानता है, स्वभावको दुःखरूप मानता है, ऐसा मानकर विपरीतता की है। उलटा खेल करे या सीधा वह स्वयं करता है। खिलाड़ी स्वयं खेलता है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं करती।

अब, चारित्रगुण आत्मामें है। जो यथाख्यातचारित्र सिद्धको प्रगट हुआ वह कहाँसे प्रगट हुआ? वह चारित्रगुणसे प्रगट होता है, परन्तु अनादिसे शरीर, मन, वाणी, दया–दानादिमें तथा काम–क्रोधादिमें आचरण करता है और उसे स्व–आचरण मानता है, परन्तु वह सब विभावभाव है।—इसप्रकार चारित्रगुणकी विपरीतता कर रहा है। यहाँ चारित्रमोहनीय कर्मको याद नहीं किया है। आत्मा अपने ज्ञानानन्द स्वरूपको आचरे और केलि करे ऐसा गुण है, उसके बदले जड़की क्रियासे स्वआचरण माने, शरीरके वीर्यसे आत्माके अनन्तवीर्यको सहायता मिलती है—ऐसा माने, शुभभावके आचरणसे चारित्र माने,—इसप्रकार चारित्रगुण विपरीत हो रहा है। पुण्य-पापमें समस्त शक्ति रुक गई है, इसलिए स्वरूपकी ओर नहीं देखता; स्वभावका अनुभव करनेके बदले पर-आचरण कर रहा है।

अपना दोष जाने तो दूर कर सकता है, परन्तु परके कारण दोष टालनेका अवसर नहीं रहता। इसप्रकार जीवका स्वचारित्रगुण विकाररूप परिणमता है। आत्मामें केवलज्ञान-दर्शन–आनन्दरूप होनेकी शक्ति है,—ऐसा वीर्य नामका गुण है। जीवका सर्वस्वरूप परिणमित करानेके बलरूप वीर्यगुण विद्यमान है, परन्तु शरीरकी क्रियामें रुकनेसे वह निर्बल हुआ है। शरीरमें वीर्य अधिक हो तो आत्मामें वीर्य बढ़ता है और वीर्य कम हो तो आत्मामें वीर्य कम होता है—ऐसा है ही नहीं। अपने ज्ञानानन्द स्वभावमें वीर्य को रोकना चाहिए, उसके बदले परपदार्थोंमें तथा रागादिमें रोकनेसे वह निर्बल हुआ है। वह अपना दोष है।—इसप्रकार जीवका वीर्यगुण विकाररूप परिणमित हुआ है।

अब, आत्मामें आनन्दगुण उलटा क्यों हुआ ? आत्मामें परमानन्द भोगनेका गुण अनादिका है। जो हो वह जाता नहीं है और न हो वह बाहरसे आता नहीं है। स्वको चूककर बाहर लक्ष करता है और हर्ष, शोक, रति, अरतिके भाव करता है , इसलिए उन आनन्दका उपभोग नहीं है; पर परिणामोंका रस लेता रहता है। स्वयं ज्ञानानन्द है, आनन्दका भोक्ता है, उसे भूलकर हर्ष-शोकादि विकारको भोग करता है। लड्डू, दाल-भात, शरीर आदिको कोई जीव नहीं भोगता; परन्तु जड़में एकाग्रता करके हर्ष–शोक किए, इसलिए आनन्दगुण विपरीत परिणमित हुआ है। आनन्दमूर्ति आत्माके श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करके उसका रसास्वादन नहीं करता, किन्तु कर्मके निमित्तसे साता-असाता, पुण्य-पापरूप पर परिणामके अनेक प्रकारके विकारका रसास्वादन करती है।। अनाकुल स्वभावकी सर्वशक्ति परपरिणामोंका ही आस्वादन करता है, वह पर स्वाद परम दुःखरूप है। लड्डू खाते समय रागका दुःख है लड्डू आदि परका रस जीव नहीं लेता, परन्तु उसके प्रति जो राग है उसका रस लेता है और अच्छा नहीं लगे तब द्वेषका रस लेता है। अपने आनन्द से हटकर शोकका अनुभव करता है, शरीरकी पीड़ाको नहीं भोगता है, परन्तु अरति परिणामको भोगता है। इसप्रकार परमानन्द शक्तिरूप गुण दुःख–विकाररूप परिणमित हुआ। कर्मकी बात नहीं ली है। अन्तर्मुखदृष्टि कर–

ऐसा कहते हैं। जगतमें जिसे आनन्द माना जाता है वह सब दुःख है। इसप्रकार जीवका परमानन्दगुण दुःख विकाररूप परिणमित हुआ।

इसप्रकार इस जीवके अन्य गुण जो-जो विकारी होते हैं वे दूसरे ग्रन्थोंसे जानना। कर्ता नामका गुण है वह राग-द्वेष करके विकाररूप परिणमित होता हैं। निर्मलता व्यक्त करनेकी शक्तिरूप कर्मगुण है, वह दुःखरूप परिणमता है। करण-साधन नामका गुण विकारका साधन कर रहा है और विपरीत परिणमता है। सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, वैभाविक आदि गुण विपरीत परिणमते हैं। जितने गुण उलटे परिणमे हैं उन गुणोंके विकारको चिद्विकार नाम कहना। गुण-गुणीकी अनन्त शक्ति कही है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, स्वच्छत्व, विभुत्व आदि प्रतएक गुणकी अनन्त शक्ति है। एक सत्ता नामका गुण है, वह अनन्त गुणोंमें प्रसरित है, इसलिए गुणकी अनन्त शक्ति कही गई। एक आत्मामें अनन्त गुण हैं। दर्शन अस्तिरूप, ज्ञान अस्तिरूप—ऐसी अस्तिपनेकी अनन्त शक्ति है। सर्व गुणोंकी आस्तिक्यता सत्ता से हुई है। ऐसे गुणसे अनन्तगुणोंकी अस्ति हुई। यदि सत्ता न हो तो उसका अस्तित्व किस प्रकार होगा? उन गुणोंका उपादान कारण वे-वे गुण हैं, परन्तु सत्तागुण निमित्त है। सत्तागुण अनन्त गुणोंकी घोषणा करता है।'है' ऐसे गुणने सर्व गुणोंको शाश्वत रखा। द्रव्यका लक्षण सत् है। ज्ञानगुण 'है' ऐसा कैसे कहा जाए? सत्ताके कारण सब ये 'है'-पना व्याप्त है। प्रत्येक गुण असहाय हैं, परन्तु वे गुण 'हैं' यह कैसे लागू किया?

सत्ता गुणके कारण अस्तित्व है, इसलिए द्रव्यका लक्षण सत् कहा है। सत्ताने सबको शाश्वत रखा।

यदि चेतनाके अनन्त गुणोंका स्वरूप असत्ता होता तो ज्ञानस्वरूप चेतनाकी महिमा अविनाशी, नित्यानंद ध्रुवरूप नहीं रहती। जो वस्तु सत् है वह सत् न हो तो उसका ज्ञानानन्द नहीं रहता। आत्मा सच्चिदानन्दरूप है। सत् + चित् + आनन्द = स्वयं ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है।

'सत् द्रव्य लक्षणम्' द्रव्य लक्ष्य है और सत्ता लक्षण है। इस

बातसे प्रारम्भ किया। जड़में सत्पना है, परन्तु ज्ञानानन्दपना नहीं है। भगवान आत्माका सत् लक्षण है और ज्ञानानन्द उसका रूप है, इसलिए सच्चिदानन्दरूप द्वारा आत्मा प्रधान है। वह पाँच अजीव द्रव्योंमें नहीं है।

आत्मा अरूपी है, उसमें स्पर्श, रसादि नहीं हैं। उसमें तीन लोकको जानने-देखने की शक्ति है। दर्पणकी भाँति लोकालोक भासित होनेरूप स्वच्छत्वशक्ति आदि अनंत शक्तियाँ उसमें विद्यमान हैं, तथापि कर्मोंकी संगतिसे आवृत्त हो गया है और शरीर प्रमाण संकोच-विस्तार होता है।

कोई प्रश्न करता है कि—आकाशकी भांति कैसे संकोच-विस्तारको प्राप्त होता है?

समाधान :—संकोच-विस्तार अनित्य पर्यायका धर्म है, परन्तु स्वभावका धर्म नहीं है। संकोच-विस्तार परके संयोग से होते हैं। एक सांकल छोटे बच्चेको गलेमें पहिनाने पर गलेमें बहुत लडियाँ लेना पड़ती हैं और बड़े लडकेको पहिनानेसे थोड़ी लडियाँ लेना पड़ती हैं, परन्तु साँकल में सोना और कड़ियाँ तो उतनी की उतनी हैं। वैसे ही आत्मा जिन-जिन शरीरोंमें गया उन-उन शरीरके आकारसे पर्यायमें संकोच-विस्तारको प्राप्त हुआ; वह कर्म और शरीरके निमित्तसे हुआ है—ऐसा बतलाया।

वृक्ष बढ़ता है, इल्ली बड़ी होती है, मनुष्य बढ़ता है—उसमें यदि जीव है तो वह बढ़ता है। अकेली लकड़ियाँ बढ़ती–घटती नहीं हैं। यदि पुद्गलका संकोच–विस्तार हो तो काष्ठ–पत्थर भी बढ़ते–घटते हैं, इसलिए कहते हैं कि जीवके बिना बढ़-घट नहीं होती। पत्थरमें एकेन्द्रिय जीव होता है तो वह बढ़ता–घटता है। तथा अकेले जीवमें संकोच–विस्तार हो तो सिद्धमें होना चाहिये, परन्तु वहाँ संकोच–विस्तार नहीं है। इसलिए जड़–चेतन दोनों मिलने पर संकोच–विस्तार होता है—ऐसा संसारदशामें पर्यायधर्म है। ऐसा कहकर संकोच–विस्तार पर्यायका धर्म बतलाया है; वह मूल स्वभाव नहीं है।

प्रत्येक जीवमें सिद्ध जितने गुण विद्यमान हैं। अज्ञानी जीव बाहर ढूँढ़ता है, परन्तु अपने भगवानको माने बिना कुछ भी नहीं हो सकता। प्रत्येक गुण अपने प्रदेशमें है। असंख्य प्रदेशोंमें गुण भरे पड़े हैं, किन्तु गुणदृष्टिके बिना सीधा परिणमन नहीं हुआ। संसारदशाकी दृष्टिसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता। अनन्तकाल बीत गया परन्तु चेतन कभी जड़ नहीं होता। चेतन तो ज्योंका त्यों विद्यमान है; परंतु असंख्य प्रदेशोंमें विद्यमान गुण और उन गुणोंके समूहरूप द्रव्य–उसकी दृष्टि किये बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। तेरे असंख्य प्रदेशोंमें गुण ज्योंके त्यों सदा ताजे पड़े हैं, बासी अथवा दुर्गंधित नहीं हुए हैं। हीन पर्यायके आश्रयसे मोक्षमार्ग नहीं होता, परन्तु गुणोंकी दृष्टिसे अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, रमणतासे जितनी-जितनी शुद्धता होती गई उतना–उतना मोक्षमार्ग हुआ।

निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकारका है—सविकल्प तथा निर्विकल्प। सविकल्प–भेदवाला–दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसे तीन गुण भेदरूप है। इस प्रकार तीन भेदका विचार करते हैं कि—''अहम् ब्रह्म अस्मि।'' पश्चात् मैं आत्मा ही हूँ—ऐसी स्वभावोन्मुख लीनता हुई वह निश्चय मोक्षमार्ग है। मैं ब्रह्मानन्द हूँ–ऐसा रागभाव आता है वह मोक्षमार्ग नहीं है परन्तु स्वभावोन्मुख होकर स्वयं स्थिर हो जाए, रागका अवलम्बन छोड़कर अभेद स्वभावमें लीन होता है वह निश्चय मोक्षमार्ग है।

निर्विकल्प कहो या आत्मानुभव कहो–दोनों एक ही हैं। जीवकी शक्ति तो तीनकाल–तीनलोकको जानने की है। उसमें ज्ञान जितना ज्ञानका वेदन करे उतना ज्ञानका विकास हुआ; वह अंश सर्वज्ञशक्ति प्रगट करेगा। सर्वज्ञशक्ति त्रिकाल है उसका वेदन हुआ है। सर्वज्ञ शक्तिके आधारसे स्वसंवेदन हुआ है। पुण्य-पापके आधारसे ज्ञान नहीं होता। यह तो आत्माकी कथा है, जिसे रुचि होगी उसे समझमें आए ऐसी है। आत्मा ज्ञाता स्वभावी है, उसका स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट होकर अनुभव हुआ। जितना स्वसंवेदन हुआ उसमें स्वज्ञान विशुद्धताका अंश होने पर हुआ। सर्वज्ञता आत्मामेंसे प्रगट होगी–ऐसा श्रद्धाने स्वीकार किया। तथा सर्व

ज्ञानके प्रतीति भावमेंसे आनन्दकी वृद्धि हुई। प्रतीत थी और आनन्द बढ़ा, ज्ञानकी स्वको ग्रहण करनेकी शक्ति बढ़ने लगी। चिदानन्द आत्माके गुणोंकी प्रतीति होने से मोक्ष होता है। प्रथम सर्वज्ञगुणसे प्रारम्भ किया है। आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, उसकी प्रतीतिमें दृढ़ता होने से ज्ञान निर्मल हुआ।

प्रवचन–२०

पौष शुक्ला १०, शुक्रवार दि. २६-१२-५२

अनुभवप्रकाश कहो अथवा धर्म कहो, यहाँ उसकी विधि बतलाते हैं। आत्मामें सर्वज्ञस्वभाव शक्तिरूपसे है, उसमें से पर्यायें प्रगट होती हैं। जिसे पूर्णपदकी प्राप्ति करना हो उसे सर्वज्ञशक्तिकी प्रतीति करके पुरुषार्थका बल अन्तरोन्मुख करना चाहिए। पर्यायमें से आवरण दूर होने पर पूर्ण ज्ञान प्रगट न हो ऐसा नहीं हो सकता और यह भी नहीं हो सकता कि उसका साधन अपनेमें न हो।

सर्व ज्ञानके प्रतीतिभावमें आनन्द बढ़ा, ज्ञान विशेष निर्मल होता गया। जो ज्ञान पर्याय प्रगट होती है उसमें ज्ञानबलकी प्रतीति कारण है, राग या निमित्त ज्ञानका कारण नहीं है। अन्य उपचार कारण तो जाननेके लिए है। आत्मा ज्ञाता स्वभावी है इसलिए उसमें अनभिज्ञता रहे ऐसा नहीं हो सकता और पुद्गल अचेतन है, इसलिए वह किंचित्मात्र भी जाने ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभावकी प्रतीति करना वह एक ही धर्मका प्राथमिक मार्ग है।

केवलज्ञान प्रगट नहीं है तब तक ज्ञान परोक्ष है। साधकका ज्ञान रागमें अटकता है, तथापि ज्ञान द्वारा ज्ञानका ही वेदन करके स्वजातिका आनन्द प्राप्त हो उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। वह ज्ञान स्वरूपका हुआ। स्वसंवेदन होने पर स्वरूपका ज्ञान हुआ। जो ज्ञान मात्र राग और निमित्तमें अटकता था वह स्वसंवेदन नहीं था। अपनी प्रतीतिके बलसे जो स्वसंवेदनज्ञान प्रगट होता है वह मोक्षका कारण है। यह साधककी बात चल रही है।

आत्मा चिदानंदमूर्ति है, उसके एक अंशमें वेदन होना वह सर्व संवेदनका अंग है। ज्ञान ज्ञानकी जातिका वेदन करे (पुण्य-पापका वेदन नहीं करे) वह केवलज्ञानका अंग है। व्यवहारसे या शरीर की क्रियासे

केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। भीतर जो ज्ञान–दर्शन शक्ति है उसके सन्मुख होकर ज्ञानका ज्ञानरूपसे जानना वह स्वसंवेदनज्ञान है और उसके कारण केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्माका ज्ञानस्वभाव है उसका वेदन किया जाए वह मोक्षमार्ग है, रागका वेदन किया जाए वह संसार है। ज्ञानका वेदन ज्ञानी जानता है परन्तु अज्ञानी नहीं जानता, वह तो राग–व्रतादिमें धर्म मानकर संसारका वेदन करता है। स्वयं अपनेको जानने पर स्वानुभव हुआ वह स्वयं जानता है, दूसरे नहीं जानते। अज्ञानीको विश्वास नहीं आता। सर्वज्ञ हुए वे मेरी जातिके हैं। जो स्वयं अपना पुरुषार्थ करके पूर्ण हुए वे सर्वज्ञ हैं, और सर्वज्ञशक्तिकी प्रतीति करके ज्ञानका वेदन किया वह मोक्षमार्ग है। प्रमत्त–अप्रमत्तभाव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अकेला ज्ञायकभाव हूँ; उसका वेदन ज्ञानी जानते हैं।

ज्ञान स्वरूपसे बाहर जितने विकल्प उठें वह संसार है। व्यवहाररत्नत्रयादिका विकल्प संसार है। आत्मा शरीर, मन और वाणीसे भिन्न है, पुण्य–पाप संसार है, उससे रहित शुद्ध आत्माकी प्रतीति, ज्ञान एवं रमणता वह मोक्षमार्ग है; शेष रागादि परिणाम संसारमार्ग है।

जो ज्ञानानन्द स्वभाव है उससे विपरीत भाव संसार है। ज्ञानस्वभावी आत्मामें एकाग्र होनेसे अथवा गुण–गुणीकी अभेदतासे मोक्षमार्ग प्रगट होता है। देव–गुरु–शास्त्रकी भक्ति आदिके परिणाम आए तथा व्रत, तप, जप, दया, दानादि शुभभाव आयें वे सब संसार है और आत्माका अनुभव करना वह मोक्षमार्ग है।

यह विधि स्वीकार करनेका वीर्य न हो, वह जीव अंतर–परिणाम कहाँ से लाएँगा ?

ज्ञानानन्दका स्वरूप–आचरण करे अथवा अंशतः स्थिर हो वह साधक है। साधकदशामें मोक्षमार्ग है। ज्ञानानन्दज्योतिके अवलम्बनसे जो दशा प्रगट हो वह मोक्षमार्ग है और पूर्णदशा हो वह मोक्ष है। शेष रागादि परिणाम कुजाति हैं—संसार है। अज्ञानी जीव कुजातिको माहात्म्य देकर संसारमें भटकता है।

राजासे मिलने राजदरबारमें जाना हो तो उसके पद–प्रतिष्ठाके अनुरूप सम्बोधन करते हैं—श्रीमान्! महामहिम !......आदि। तब महलमें प्रवेश मिलता है और मुलाकात होती है। यदि कोई राजाको अपशब्द कहे तो उसे बाहर निकाल दिया जाएगा। उसी प्रकार चिदानन्द चैतन्यराजाके विरुद्ध पुण्य–पापकी प्रशंसा करने लगे तो उसे आत्मामें प्रवेश नहीं मिल सकता; किन्तु जैसी प्रतिष्ठा है, स्वभाव है तदनुसार गुणगान करे, प्रतीति करे तो आत्मामें प्रविष्ट हो सकता है। अपूर्णदशामें शुभराग आता है, परन्तु वह बंधन है; स्वभावके आश्रयसे जो दशा प्रगट हो वह मोक्षमार्ग है और पूर्णदशा प्रगट हो वह मोक्ष है। पुण्यसे पवित्रता प्रगट नहीं होती। अपने चिदानन्दके अवलोकन बिना बाह्य अवलोकनसे जीवने परिभ्रमण किया है।

मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी प्रतीति करके जितनी स्थिरता की उतना ही आवरणका अभाव हुआ और उतना-उतना शुद्ध हुआ।

स्वरूपकी कथा प्रीतिपूर्वक सुनेगा वह भावी निर्वाणका भाजन होगा अर्थात् उसे भविष्यमें मुक्ति प्राप्त होगी :—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भावि निर्वाण–भाजनम्॥

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका)

जिसने विकाररहित आत्माकी प्रतीति की और पुण्य–पापकी प्रीति छोड़ दी है उसने शास्त्रश्रवण किया है। स्वरूपकी प्रीति करके उसकी कथा सुनता है वह जीव अल्पकालमें मोक्ष प्राप्त करता है। अज्ञानी कहता है कि—क्या मुक्तिके लिए बाह्यसाधन कोई नहीं होते? तो कहते हैं—नहीं। जो शुभराग आते हैं वे सब विकल्प हैं, वे साधन नहीं हैं। अनन्त सिद्ध स्वरूपकी साधना करके ही सिद्ध हुए हैं। आत्मामें चिदानन्दके सिवा विकारादि कुछ भी नहीं हैं। ज्ञायक अनाकुल आत्माकी कथा प्रीतिपूर्वक स्वसन्मुख होकर सुनी है वह जीव अवश्य ही मुक्तिका भाजन होता है।

अहा ! आत्मा परिपूर्ण ज्ञातास्वभावी है, राग और शरीरादिको भिन्नरूपसे जानता है। पूर्ण ज्ञानप्रकाशसे भरपूर चैतन्य स्वयं है, ऐसी प्रीति अथवा रुचि करके उसकी लीनता करे वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करेगा। मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तबार नववीं ग्रैवेयकमें गया, परन्तु स्वरूपकी रुचि नहीं की। अज्ञानीको व्यवहारमें आनन्द आता है; परन्तु वस्तु तो ज्ञानपिण्ड है, उसके स्वरूपकी महिमा उसे नहीं आती। एक समयके संसारकी प्रीति छोड़कर स्वभावकी प्रीति करे तो संसारका अभाव होता है। उपलेको चिन्गारी लगने पर राख हो जाता है, वैसे ही अंतर शान्तिका कारण आत्मा है, ऐसी प्रतीति करके लीनता करे तो संसार भस्म हो जाता है।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा।
एयत्तस्सुवलम्भोणवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

(समयसार गाथा-४)

जीवोंने बंधकथा सुनी है। इच्छा करूँ, दया करूँ तो धर्म हो—इत्यादि बातें अनेक बार सुनी है, परन्तु रागसे भिन्न और ज्ञायकसे एकरूप ऐसे आत्माकी बात सुलभ नहीं है और यदि आत्माकी बात प्रीतिपूर्वक सुने तो मुक्ति हो। यह समयसारमेंसे ली है; समयसारमें सर्व शास्त्रोंके बीज हैं, परन्तु अज्ञानी लोग व्यवहारकी पकड़ रखते हैं। अंतरमें शक्ति नहीं हो तो परमात्मदशा प्रगट कहाँसे होगी? शरीर–मन–वाणी और विकल्पमें से प्रगट होगी? नहीं। परसे भिन्न और स्वसे एकत्व ऐसी निजशक्तिमेंसे ज्ञान प्रगट होता है। देव–गुरु–शास्त्रकी तथा व्यवहारकी प्रीति अनन्तबार की, परन्तु स्वरूपकी रुचि नहीं की। यदि स्वरूपकी रुचि करे तो देव–गुरु–शास्त्रकी प्रीतिको व्यवहार कहा जाता है।

शुद्धस्वभाव निश्चयनयका विषय है। स्वाश्रय से प्रगट होनेवाला वीतरागभाव जो कि स्वसे अभेद है वह निश्चयनयका विषय है और व्यवहाररत्नत्रयादि पराश्रयरूप रागपरिणाम व्यवहारनयका विषय है। दोनों नयोंके विषयमें विरोध है। व्यवहारसे संसार है और निश्चयसे मोक्ष है। निश्चयसे मुक्ति हो और रागसे भी मुक्ति हो—ऐसी दो बातें नहीं हो

सकतीं। व्यवहार है अवश्य, उसका ज्ञान करने जैसा है,—ऐसा कहकर स्याद्वाद विरोधको मिटाता है। अपूर्ण दशामें श्रवणादिका शुभराग होता है, परन्तु जिस भावसे मुक्ति हो उससे शुभ भाव विरोध भाव है, तथापि उसे साधन मानना वह संसार है।

यह मार्ग सरल है परन्तु अज्ञानीने महँगा कर दिया है। तथा प्रीति करके बारम्बार सुनता है—ऐसा कहा है। उसका अर्थ ऐसा है कि उसे स्वभाव रुचता है; ज्ञायककी बात सुनता है, राग बंधका कारण है ऐसा बारम्बार सुनता है, पुण्य-पाप और व्यवहार पर निषेधके चाहे जितने चाबुक पड़ें तब भी सुने और आत्मस्वभावकी बात सुने, उसे आत्माकी रुचि है।

अपूर्णदशामें शुभराग आता है। इन्द्र भी भगवानके सामने भक्तिके समय नाचते हैं, परन्तु वह शुभराग परलक्षी वस्तु है, अंतरकी वस्तु नहीं है। ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनोंको रागके कालमें राग होता है, परन्तु उसका लक्ष किस ओर है उस पर आधार है।

ज्ञान एवं आनन्द मेरा स्वरूप है—ऐसी चर्चा करे तो अनुपम सुख होता है, और अनुभव करे तो उसकी महिमाको कौन कह सकेगा? भगवानकी वाणीमें तो वाणी आती है, वाणीमें परमात्माका अनुभव नहीं आता। वाणीको वाणीकी खबर नहीं है, तथा परमात्माकी खबर नहीं है। वाणी वाणीकी चर्चा करती है और परमात्माकी चर्चा करती है। वाणीमें परमात्माके कथनका गुण है, परन्तु परमात्माको जाननेका गुण नहीं है। परमात्माकी कथा कहनेका गुण आत्मामें नहीं है। आत्मामें जाननेकी शक्ति है, वह अपनेको जानता है और वाणीको जानता है, परन्तु आत्माकी कथा कहनेका गुण अर्थात् वाणीका गुण आत्मामें नहीं है—ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए।

मेरी जाति चैतन्यकी है—ऐसा भाव जो वाणी सुनकर निकालता है वह जीव आत्मानुभव करके परमात्मा होता है। वाणी जड़ है, उसे तो खबर भी नहीं है कि आत्मा अबंध है, परन्तु आत्माको सब खबर होती

है। जो विकार होता है वह मेरी जाति नहीं है, मैं चैतन्यस्वरूपी हूँ— इसप्रकार अपनी प्रतीति करके, अनुभव करके परमानन्द दशा प्राप्त की। जैसा द्रव्य शक्तिरूपसे पूर्ण था वैसी ही पर्याय पूर्ण हो गई, उसकी तो क्या बात करें? उसकी महिमा कौन कर सकता है?

मैं ज्ञानानन्द हूँ ऐसा निश्चय करके यथार्थ भावना करे तो स्वसंवेदन हो। निश्चय अर्थात् श्रद्धा, भावना अर्थात् स्थिरता, स्व–संवेदन ज्ञान वह ज्ञान। इसप्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र—तीनोंकी सिद्धि होती है। तीनोंकी एकता होने पर आत्माकी मुक्ति होती है। प्रथम विधि जानना चाहिए। बारोट बापदादाकी बातें करे और उनका गुणगान करे तो जीव आनन्दित होता है। यहाँ सर्वज्ञ भगवान तीनकालकी बात करते हैं और तेरे आत्माका गुणगान करते हैं, परन्तु अज्ञानीको वह बात समझमें नहीं आती।

भगवान आत्मा गुप्त शुद्ध शक्तिवान है। वर्तमान अवस्था प्रगट है उसमें सम्पूर्णतत्त्व नहीं आ जाता। एकरूप सदृश स्वभावमें ज्ञानपर्याय एकाग्र हो वह मोक्षमार्ग है। ''सिद्ध समान सदा पद मेरो'' वह शक्तिकी बात है। अव्यक्त द्रव्यमें परिणति एकाग्र हो, ज्यों–ज्यों शुद्धताकी प्रतीतिमें परिणति स्थिर हो त्यों–त्यों मोक्षमार्गकी शुद्धि होती है। ध्रुवस्वभावमें एकाग्र हो तो मोक्षमार्ग होता है। जिसप्रकार ध्रुवतारे के समक्ष दृष्टि रखकर कुतुबनुमा यंत्र रखे तो दिशाका ज्ञान होनेसे जहाज सुरक्षित पहुँचता है; उसी प्रकार आत्मा ईश्वर है, उसका ध्रुवकाँटा अंतरमें है, उसके श्रद्धा–ज्ञान करके रमणता करे तो मुक्ति हो।

प्रथम यह बात सुन तो सही, रुचि तो कर! यह तो चिदानन्द भगवानकी टकसाल है।

जैसे कोई पुरुष मार्गके कई कोस चले तब नगर पास आता है, वैसे ही अंतरशक्तिकी प्रतीति में जोर करे—द्रव्यकी प्रतीतिमें अवगाढ–गाढ–दृढ हो, अंतर एकाग्रता करे तो मुक्ति है। अवगाढ = निश्चय प्रतीति। अन्तर्मुख शक्तिको अवलोकनेसे मोक्षनगर निकट आता है अर्थात् अपनी

पूर्ण शुद्धता निकट आती है।

स्वयं ज्ञायक चिदानन्दमूर्ति है—ऐसी श्रद्धा एवं रमणतारूपी परिणतिके खेल करके स्वयं संसारसे पार होता है, उसमें खेद नहीं है। ज्ञायक मेरा स्वरूप है, उसमें एकाग्र होने पर संसाररूपी समुद्र पार करके आनन्द प्राप्त करे। आत्माका खिलाड़ी स्वका खेल करके मुक्ति प्राप्त करता है।

संसार–समुद्रमें पुण्य–पापकी लहरें उठती हैं; भ्रान्ति, अज्ञान और राग–द्वेषकी लहरें उठती हैं,—ऐसे भवसमुद्रका पार चिदानन्दके खेलसे प्राप्त होता है।

पुण्य–पापादि विकारको अपना मानकर विषम संसारका आदर किया है। भेदज्ञान द्वारा गुप्तशक्तिकी प्रतीति एवं रमणता करके खेल–खेलमें संसारका पार प्राप्त होता है, परन्तु अज्ञानीने शुभाशुभमें लीनता करनेसे संसारको विषम बनाया है। पुण्य–पाप मेरे वह संसार है और स्वभावकी प्रतीति एवं रमणता करके पूर्ण दशा प्रगट हो वह मोक्ष है। दोनों अवस्थाएँ हैं। पर्यायमें संसार है और उसका अभाव करके मोक्ष प्राप्त करे वह भी पर्याय है। निजपरिणतिमें मोक्ष है और परपरिणतिमें संसार है। निज आत्माके श्रद्धा–ज्ञान–रमणता ऐसी निजपरिणतिसे मोक्ष है, और विकारादि परपरिणतिसे संसार है।

सत्संगसे और अनुभवी जीवके निमित्तसे स्वरूपकी निजपरिणति होती है। यहाँ ज्ञानीका निमित्तपना बतलाते हैं। अपने ज्ञानानन्द स्वभावकी परिणति ज्ञानीके निमित्तसे होती है, अज्ञानीके निमित्तसे नहीं होती, तथा मात्र शास्त्रके निमित्तकी भी बात नहीं है। इसप्रकार विषम मोह नष्ट होता है और परमानन्दकी भेंट होती है।

निर्ग्रन्थ संतोंने स्वरूप–प्राप्तिका मार्ग सरल किया है।

❀ ❀ ❀

प्रवचन–२१

पौष शुक्ला–११, शनिवार दि. २७-१२-५२

ज्ञान और आनन्द आत्माका स्वरूप है; उसकी अंतर्दृष्टि और स्थिरता करना वह अनुभव प्रकाश है। आत्माकी राग–द्वेष पर्याय वह संसार है और वीतरागी आनन्द दशा वह मोक्ष करनेवाली है; शरीरादिकी क्रिया संसार या मोक्षकर्ता नहीं है। निजपरिणति वह मोक्ष है। ज्ञानीको शुभरागमें व्रत–तपादि होते हैं वह भी बंधनभाव है; चैतन्यके अवलम्बन द्वारा अबंध अंश प्रगट हो वह मोक्षमार्ग है।

अब, निमित्त बतलाते हैं। कोई निमित्त इष्ट या अनिष्ट है ही नहीं, परन्तु अंतर्स्वभावकी प्रतीतिमें गुरु निमित्त हैं। पुण्य–पाप तो बाह्य सामग्री देनेवाले हैं, अंतर्दृष्टि मुक्तिका कारण है, उसमें सत्संग निमित्त है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है—ऐसी प्रतीति होनेसे पूर्व अनुभवी जीवका निमित्त होता है। कोई कहे कि ऐसा माननेसे निमित्त इष्ट हो जाता है और उससे मिथ्यादृष्टि हो जाता है, तो वह बात मिथ्या है। तथा कोई कहे कि चाहे जैसा निमित्त हो तब भी कोई आपत्ति नहीं तो वह भी झूठा है; अपने स्वभावकी प्रतीति करे तब सत् निमित्त होता है। जैसे–जब गतिरूप जीवपुद्गल स्वयं परिणमित होते हैं तब वहाँ धर्मास्तिकायको निमित्त माना जाता है, वैसे ही स्वयं श्रद्धा–ज्ञान प्रगट करे उस समय ज्ञानीका निमित्त होता है; कुदेव, कुगुरु निमित्तरूप नहीं होते और मात्र शास्त्र भी निमित्त नहीं होते। कोई कहे कि—धर्मात्माको निमित्त कहोगे तो वह इष्ट हो जाएगा। तो कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है। स्व–पर प्रकाशक ज्ञान प्रगट होने पर सच्चे गुरु निमित्तरूप होते हैं ऐसा जान लेता है। परमार्थतः तो अपना आत्मा ही अपने लिए इष्ट है, उत्तम, मंगल एवं शरणरूप है। तो शुभरागमें व्यवहारसे सच्चे देव–शास्त्र–गुरु आदिको निमित्त कहा जाता है।

अपनी पात्रतासे मोहका क्षय हो और परमानन्ददशाका साक्षात्कार हो उसका नाम धर्म है, वह मोक्षमार्ग है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पर्याय है। ग्रन्थकर्ता श्री दीपचन्दजी साधर्मी गृहस्थ थे। वे कहते हैं कि ज्ञानका मार्ग स्वरूपमें दृष्टि लगानेसे मिलता है। ऐसा मार्ग श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि मुनियोंने सरल किया है। रागकी रुचि रखकर अनन्तबार नववें ग्रैवेयक तक गया, दया-दानादि किए परन्तु वह पराश्रय है, पुण्यपरिणाम है, इसलिए उसके द्वारा आत्माको ग्रहण करना कठिन है, परन्तु स्वाश्रयदृष्टिसे-अंतरसे पकड़ना वह सरल है। सन्तोंने सरलमार्ग बतलाया है। अज्ञानी बाह्यसे धर्म मानकर दुर्लभ मानता है, परन्तु वास्तवमें वह दुर्लभ नहीं है।

भगवान आत्मा शक्तिरूपसे परिपूर्ण है। शरीर, मन, वाणीमें गुप्त है। अनादि कालसे अनन्तभव किए, परन्तु मैं चैतन्य कौन हूँ उसकी प्रतीति नहीं की। अनेक शरीर धारण करने पर भी जीव ज्योंका त्यों है। चौरासी लाख योनियोंमें अवतरित हुआ, परन्तु कहीं स्थिर नहीं हुआ। आत्मा ज्ञानसूर्य है, चैतन्यज्योति है, शरीर एवं पुण्यपापसे रहित है, उसे प्राप्त नहीं करेगा तब तक आत्माका कार्य पूर्ण नहीं होगा।

पैसेसे धर्म नहीं होता। राग मन्द करे तो पुण्य होता है। अनेक उपवास किए, सूर्यके तापमें तपा, परन्तु जिसने ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्माकी सन्मुखता नहीं की उसके जप, तपादि संसारभ्रमणके लिए हैं। जीवनपर्यंत नव-नव कोटि ब्रह्मचर्यका पालन करे, परन्तु ज्ञानके वेदन बिना ब्रह्मचर्य पालनसे क्या हुआ? जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही यह आत्मा स्वभावसे पूर्ण है;—ऐसा भाव अपूर्वरूपसे भासित हुए बिना यतिका वेश धारण करे तब भी क्या होगा? ऐसा वेश धारण करनेसे भी कुछ नहीं हो सकता। अत्यन्त सादा जीवन जिए, मात्र दो रोटियाँ और पावभर दूध ले तब भी कुछ हो सके ऐसा नहीं है; तो भ्रम-खेद कैसे दूर होगा?

आत्मा अमृतमूर्ति है, उसका पान करनेसे मिथ्यात्व दूर होता है,

अन्य किसी प्रकार मिथ्यात्व नहीं मिटता। पुण्य–पाप रहित स्वभावमें से आनन्दका स्रोत प्रवाहित होनेसे मिथ्यात्वका भ्रम मिटता है और संसार टलता है। जिसमें वृद्धावस्था या मृत्यु नहीं है—ऐसे आत्मामृतके सेवनका मार्ग क्या है? वह यहाँ कहते हैं।

नव तत्त्वोंमें आत्मा एक तत्त्व है, वह ज्ञानानन्दसे भरपूर है; उसका अवलोकन करके अनुभव करो। विकारके अनुभवमें अनन्तकाल गया, अब तो आत्माका अनुभव करो।—किस प्रकार?

परपदार्थोंके लक्षसे होनेवाले राग–द्वेषसे अथवा शुभसे कल्याण होगा ऐसी मान्यता अविद्या है। चैतन्यका कौतूहली होकर विकारसे लाभ माननेकी बुद्धि छोड़ो। आत्मप्रतीतिके बिना सर्व व्रत, तप, जप आदि अरण्यरोदनके समान हैं। ''एकबार तत्त्वका कौतूहली बन''—ऐसा श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं। पर्दे में रही हुई रानीको देखनेका कौतूहल होता है, चक्रवर्तीका चौंसठ लड़ीवाला हार देखनेका कौतूहल होता है, परन्तु उसमें कोई सार नहीं है। एकबार अपने तत्त्वका कौतूहली हो। पुण्य–पापके पटमें रहा हुआ गुप्त तत्त्व है। पुण्य–पापकी रुचिमें आत्माकी सूझ नहीं पड़ती। एकबार ज्ञानज्योतिका कौतूहली बन। आत्मा आनन्दकी खान, अनन्त वीर्यकी मूर्ति, उपशमरसका कन्द है; ध्रुवशक्तिसे सदैव ऐसा ही है, परन्तु वर्तमानदशामें पुण्य–पापकी बुद्धिमें अटकनेसे दृष्टिगोचर नहीं होता। ''एकबार सम्मेदशिखरकी यात्रा कर ले तो नरक मिट जाए''—ऐसी मान्यताके कारण उसका बहुमान आता है; परन्तु अनन्त शुद्ध पर्यायमें प्रवाहित हों ऐसा चिदानन्द आत्मा सम्मेदशिखर है उसका बहुमान—आदर नहीं किया। जीव बाहर पर्यटनके लिए जाता है और आनन्द मानता है। यहाँ कहते हैं कि निजानन्दकी केलिरूपी कला द्वारा स्व–परको देख। शरीर, मन, वाणीके संग तो अनन्तकालसे भटक रहा है, एकबार आत्माका संग करे तो मोहका संग छूट जाए।

मेरा हित तो चिदानन्दके भीतर है और विकारादि परिणाममें अहित है। हित और अहितके बीचके अंतरका भेदज्ञान द्वारा अनुभव कर।

पुण्य–पापके परिणाम कर्मचेतना है और हर्ष–शोकके परिणाम कर्मफलचेतना है, उसे छोड़कर ज्ञानचेतनाका अनुभव कर। अनादि अखण्ड ब्रह्मपदका विलास तेरे ज्ञानकी उग्रतामें है। ज्ञानको पुण्य–पापमें लगाया है, उसके बदले उग्रतापूर्वक अन्तरोन्मुख कर। ऐसी ज्ञानक्रिया करे तो शुभरागको व्यवहार कहा जाता है। तेरे ज्ञानकी उग्रतामें चैतन्य वश हो ऐसा है। पुण्य–पाप तेरा स्वरूप नहीं है, पूर्णपदमें ज्ञानकी कटाक्ष मार तो आनन्दका अनुभव हो सकता है। संयोगदृष्टि द्वारा संयोगी भावकी भावनारूप अज्ञान है, वह पर्दा कब हटेगा? ज्ञानीका वचन है कि अपने चिदानन्दकी ओर देख, हमारी ओर भी मत देख। अंतर्‌गुप्त शक्ति कर्मके पर्देमें पड़ी हुई है उसे देख। ज्ञान नेत्रोंको खोल तो क्रमशः केवलज्ञान प्रगट होगा और लोकालोक दिखाई देगा। फिर सादि अनन्तकाल वैसी दशा रहेगी। ज्ञानस्वरूप शक्तिमें है उसे व्यक्त करनेका प्रयत्न कर, उसकी महिमा अपार है। अनन्त सन्तोंने ऐसी प्रतीतिपूर्वक मुक्ति प्राप्त की है।

स्वयं ज्ञानमूर्ति है। कोई लकड़ीकी या संगमरमरकी मूर्ति है, कोई रत्नकी मूर्ति है—वे सब जड़ हैं। शरीर तेरी वस्तु नहीं है, पुण्य–पाप उपाधि है, तू ज्ञानमय है, उस पर दृष्टि लगा। नमक अर्थात् खारेपनका पिण्ड, वैसे ही आत्मा ज्ञानका पिण्ड है, उसकी शोभा बढ़ा, उसमें सहजपदका ध्यान आता है। उसका सेवन करके अनेक मुनि संसारसे पार हो गए। रागादि परका परिचय करेगा तो स्वभावका अनुभव नहीं होगा। निमित्तका परिचय विषम है। भगवान आत्मा सहज ज्ञानमूर्ति है—सहज बोध स्वरूप है। पूजा करे, दया–दानादि भाव करे—आदिसे आत्मा दूर है और वैसे परिणामसे चौरासीके अवतार निकट हैं। चैतन्यकी दृष्टि करने तथा निमित्त और पुण्य–पापकी रुचि छोड़नेसे स्वभावकी प्राप्ति सहज है।

अफीम खानेसे नशा चढ़ता है, वैसे ही पुण्य–पाप द्वारा धर्म मनानेसे अज्ञान और मिथ्यात्वका नशा चढ़ता है। व्यवहाररत्नत्रयके परिणाम निश्चयसे विष हैं और आत्माका अंतरस्वभाव अमृत है। उसकी रीति तो सीख; उसके सिवा अन्य मार्ग नहीं है।

क्रियाकाण्डके क्लेशमें शान्तपद नहीं है। छह–छह महीनेके उपवास करे और अनुभवके बिना साधु हो जाए, तब भी चिदानन्दपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अंतर सुखनिधान स्वरूपकी रुचि कर। सुखनिधान अपना आत्मा है—ऐसा सर्वज्ञने जाना, वाणीमें गाया और ऐसा ही अपना स्वरूप है। उसकी भावनासे अविनाशी आनन्द प्राप्त होता है। उस रसका सेवन करके मुनिजन आत्मज्ञानी हुए हैं। विकारको जाना है, परन्तु उसका सेवन नहीं किया, इसलिए उस रसका सेवन मत कर। तू ज्ञान–आनन्दस्वरूप है; प्राप्तकी प्राप्ति होती है। अंतरशक्तिमें आनन्द एवं वीतरागता है; उसके सेवनसे वह प्रगट होगी।

पर्यायके राग–द्वेषको गौण कर दें तो आत्मा ज्ञानका सूर्य है। वह अपना पद है; विकार अपना पद नहीं है। परमेश्वर भी अंतरमें है, बाहर मिलें ऐसा नहीं है। साधकको शुभराग आता है और बाह्यमें लक्ष जाता है परन्तु वह श्रेयपद नहीं है। अलौकिक गीत गाये हैं। विवाहके समय स्त्रियाँ गाती हैं कि—थाल भरे हीरा मोतीके, हाथी झूल रहे हैं......परन्तु घरमें हीरा–मोती और हाथी नहीं होने पर भी बड़प्पन दिखानेके लिए प्रशंसा करते हैं। वस्तुस्वरूपके गीत केवली भगवानकी वाणीसे भी सम्पूर्ण नहीं हो सकते। अज्ञानी गुलाँट खा गया है; परके गीत गाता है और उसमें आनन्द मानता है। अपना प्रभु तो स्वयं है, अपना प्रभु बाहर नहीं है। अपनी शक्तिकी महिमा अपार है, वैसा प्रभु स्वयं ही है। स्वयं अपनी स्थापना निश्चय प्रभुके रूपमें करे तो बाह्य भगवानको व्यवहारसे प्रभु कहा जाता है।

पृष्ठ ३२में कहा है कि—''स्वरूपकी प्रतीतिमें परिणति अवगाढ़ गाढ़ दृढ़ हो तो मोक्षनगर निकट आए'' स्वयं चिदानन्द प्रभु है—ऐसा पक्का निर्णय कर, एकबार दृढ़ता कर, पश्चात् रमणता होगी। चिदानन्दस्वभावकी भक्ति कर, अन्य प्रभु तुझे कुछ देंगे ऐसा नहीं है। भगवान कहते हैं कि तेरा पद हमारे पास नहीं है; तू स्वयंको देख !

चिदानन्द प्रभु है, ऐसा स्मरण कर तो ज्ञानज्योतिका उदय हो और

मोहांधकार नष्ट हो जाए। सूर्यके पास अंधकार नहीं आ सकता। चैतन्य ज्ञायकज्योतिकी प्रतीति होने पर मोह-अंधकार नहीं रहेगा। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है; जहाँ देखूँ वहाँ अपने ज्ञानको ही देखता हूँ, परवस्तु मुझमें नहीं आती, स्व-पर ज्ञानको ही देखता हूँ—ऐसी प्रतीति होने पर आनन्द प्रगट होता है और तब अपने चित्तमें कृतकृत्यता अनुभव होता है, उसे शीघ्र देख। घरमें कोई मूल्यवान वस्तु आए तो घरके सब लोग जल्दी उसे देखने लगते हैं, वैसे ही अपने आत्माको शीघ्रतासे देख। परमें एकाग्रताको छोड़कर आत्मामें एकाग्रता कर। तू ज्ञान एवं आनन्दसे भरपूर है; चिदानन्दकी प्रतीति एवं अनुभवके बिना सामायिक और प्रोषध सब मिथ्या हैं। आत्माकी रुचिपूर्वक समताभाव रखना वह सामायिक है। तेरा ब्रह्मविलास तुझमें है अपनी ओर देख। बाह्यपदार्थोंकी अवस्था जो होनी है सो होगी, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। तेरे चिदानन्दसे विशेष कोई वस्तु नहीं है। आनन्द तुझमें है, बाहर नहीं है। दृष्टि कर, विश्वास ला !—इससे और क्या अधिक ?.......

यह मुनिकी बात नहीं है किन्तु धर्मके प्रारम्भकी बात है। शुभाशुभ भाव होने पर भी अपनी दृष्टि चैतन्य पर रख। उस काल उसी प्रकारका राग होगा और उसी प्रकारके निमित्त होंगे। मात्र दृष्टिको बदल। आत्माको छोड़कर परको न ध्या।

चारों अनुयोगका सार यह है कि अपने आत्माका अनुभव कर !

प्रवचन–२२

पौष शुक्ला १२, रविवार दि० २८-१२-५२

चारों वेद—द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और धर्म–कथानुयोगका रहस्य वीतरागता है। पंचास्तिकायमें शास्त्र तात्पर्य एवं सूत्रतात्पर्यकी बात आई है। प्रत्येक गाथाका अर्थ समझना वह सूत्रतात्पर्य है और सम्पूर्ण शास्त्रका सार वीतरागता है। चारों अनुयोगोंने किसी भी प्रकारसे बात की हो, अभेदकी–भेदकी, निश्चयकी–व्यवहारकी, तथापि उसका सार वीतरागता है। चिदानन्द अखण्ड ज्ञायकमूर्ति पुण्य–पापसे पर है। शुभाशुभभाव उनके अपने कालमें होते हैं, परन्तु ज्ञानस्वभावकी रुचि और रमणता ही सर्व शास्त्रोंका सार है। कोई शास्त्र ऐसा नहीं कहता कि रागमें रुकने जैसा है अथवा निमित्तको मिलाने जैसा है। यहाँ सत्संगके निमित्तका ज्ञान कराया, परन्तु परमें अटके वह शुभराग है। निश्चय आत्माका ज्ञान करे तो गुरुके सत्संगको व्यवहार कहा जाता है। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसकी अवस्थामें विकल्प होने पर भी उसकी रुचि छोड़कर स्वभावकी रुचि और एकाग्रता करना वह धर्म है। मन्दिर मन्दिरोंके कालमें बनते हैं और उस समय उस ओरका राग भी होता है, तथापि ज्ञानस्वरूपकी श्रद्धा करना, जानना और उसमें स्थिर होना वह सार है।

अज्ञानीको भी जब समझमें आएगा तब कहेगा कि हम भूले थे। व्यवहारका वर्णन चाहे जितना हो परन्तु चैतन्य द्रव्य अखंड विद्यमान है, उसकी रुचि, ज्ञान एवं एकाग्रता ही मार्ग है। यह वस्तुस्थिति है, यही वस्तुदर्शन है। सच्ची समझके समय देव-गुरु होते हैं, परन्तु देव–गुरु मिले इसलिए समझमें आया ऐसा नहीं है; परन्तु वहाँ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाया है। जीव गति करे तब धर्मद्रव्य निमित्त है, परन्तु उससे जीव पराधीन है—ऐसा नहीं है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञान एवं आनन्दकी स्वर्णमुद्रा है। उसकी रुचि, ज्ञान और रमणताको अनुभव प्रकाश कहते हैं। सर्वज्ञ परमात्माके श्रीमुखसे निकली हुई वाणीमें यह आया था।

तेरी भावनामें अविनाशी रसकी धारा बहती रहती है। गुड़की भेलीमेंसे मीठा रस झरता है, उसी प्रकार ध्रुवस्वभावके श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतामें अविनाशी रस बहता है; वह पर्याय है, परन्तु वह सादि अनन्त काल तक टिकती है, इसलिए अविनाशी है। चिदानन्दकी एकाग्रतासे अविनाशी रसकी धारा बहती है।

अज्ञानी भी स्वभावसे प्रभु है, पर्यायमें भूला है। दूसरोंके समझानेसे वह समझ नहीं सकता और स्वभावकी रुचि करे तो उसे कोई पलट नहीं सकता। प्रथम प्रतीति कर ! अन्तर्दृष्टि और लीनताके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है। मिथ्यात्वको टालनेका यही एक उपाय है। व्यवहारके लेखोंसे अन्त नहीं आ सकता। वस्तुमें कोई वाद-विवाद नहीं है। प्रथम तो वस्तुकी रुचि होना चाहिए। तूने अपनी भावनासे झूठे भव बनाए हैं। पुण्य-पापकी वृत्ति, निमित्तकी रुचि और व्यवहारका आदर—ऐसी भावनासे तू ध्रुवस्वभावको चूक गया है और उसीसे झूठे भव उत्पन्न किए हैं। ऐसा निकृष्ट कार्य अर्थात् भवको उत्पन्न करनेका भाव एक ही स्वभावकी लहर आनेसे मिट सकता है। ज्ञायकस्वभावकी पर्याय प्रगट हुई कि तुरन्त मिथ्याभाव मिट जाता है। वस्तुकी यह मर्यादा है।

देख, तू चेतन है, यह शरीरादि जड़-अचेतन हैं। उनमें तेरा सुख नहीं है तथापि तू मान रहा है। शरीर अनुकूल हो और खूब व्रत किए जाए तो सुख प्राप्त होगा ऐसा तू मानता है।

तू व्यर्थ ही उनसे लिपट रहा है, वे तुझसे नहीं लिपटते। अचेतन वस्तु तेरे पीछे नहीं पड़ी है। "मन बिना धर्म होता है? कानोंके बिना सुना जा सकता है? काल तो अच्छा होना चाहिए?—इसप्रकार अचेतनके ऊपर धर्म और ज्ञानके लिए दृष्टि डालता है, परन्तु वह सब व्यर्थ है।

अपने अस्तित्वको स्वीकार करते हुए परका अभाव अपनेमें स्वीकार करना चाहिए। चिदानन्दका श्रद्धा पूर्वक मंथन किया, फिर मक्खन क्या निकला? इस अनुभव प्रकाशमें मक्खन है, अंतरमें देख। तू ज्ञायक चैतन्य है उसके सन्मुख दृष्टि करेगा तो जड़ तेरे पीछे नहीं आएगा। रागका और निमित्तका प्रेम मत कर। व्यवहार और संयोगकी रुचि छोड़कर स्वभावमें स्थिर हो जा। जड़ने तेरा पल्ला नहीं पकड़ा है, तूने ही अपनी मान्यतामें उसे पकड़ रखा है। व्यर्थ ही दूसरेकी वस्तुको अपनी मान रहा है। विवाहमें किसीका माँगा हुआ गहना पहिनकर अपनी शान समझता है, परन्तु वह तो पराया है। शरीर, मन, वाणी आदि वस्तुओंको अपनी मानकर भवभ्रमण कर रहा है। खीर खाई, लड्डू खाए—ऐसा मानकर सुखी होनेका ढोंग कर रहा है। सुन्दर कोमल शरीर, मखमलके कपड़ोंका स्पर्श करके सुख मान रहा है; अपनेमें सुख है—ऐसा न मानकर परमें सुखकी कल्पना करता है। ज्ञानीको राग आता है परन्तु उसकी मर्यादा है; वह परमें सुख नहीं मानता। स्वकालमें अस्थिरताका राग आता है।

प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने कालमें वर्तती है, इसलिए उसे स्वकालवर्तना कहते हैं। ज्ञानीको स्वकालवर्तनाके समय राग आता है परन्तु उसमें वह सुख नहीं मानता। अज्ञानी झूठी कल्पना करके सुख मानता है। हर्ष सन्निपातवाला रोगी खिलखिलाकर हँसता है, तब उसके निकट सम्बन्धी समझते हैं कि अब इसकी मृत्यु निकट है। जगतके जीव प्रीतिभोजमें आनन्द मानते हैं, झूठी प्रशंसाकी कल्पना करके प्रसन्न होते हैं, उनमें सावधानीका अंश नहीं है, ज्ञानीको सावधानीका अंश है; वह भोगको दुःखरूप मानता है, अज्ञानी भोगमें सुख मानता है।

आत्मा त्रिलोकका ज्ञाता–नाथ है। केवलज्ञानपर्याय प्रगट नहीं है उसे उत्पन्न करे, अपूर्ण ज्ञानको पूर्ण करे और जो पर्याय प्रगट हुई हो उसे सुरक्षित रखे—ऐसा नाथका अर्थ है। योग और क्षेम करनेवालेको नाथ कहते हैं। आत्मा अपनी प्राप्त हुई वस्तुको रखे और अप्राप्त वस्तुको

प्राप्त कराए इसलिए नाथ है। ऐसा तीनलोकका नाथ अपने पूज्यपदको भूल गया है।

ज्ञायक चिदानन्दका भोग वह अनुभव है और उसे भूलकर विकारका भोग वह संसार है।

आत्मा स्वयं निवृत्त तत्त्व है। मनुष्य हो या देव हो, चलता हो या सोता हो, चैतन्यतत्त्व परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे भिन्न है—ऐसे अपने तत्त्वको देख।

तीनलोकका नाथ होकर अपने पूज्यपदको भूलकर नीचपदमें अपनापन मानकर विकल होकर व्याकुल बनकर डोल रहा है। रक्त, मांस और इन्द्रियोंमें सुख मानता है, उसमें आनन्दित होता है; पागल होकर, व्याकुलतासे डोलता है।

जैसे कोई एक इन्द्रजालके नगरमें रहता है। वहाँ वह इन्द्रजालियोंके वश होकर इन्द्रजालके हाथी, घोड़े, सेवक, स्त्री आदि आए वहाँ किसीको वह हुक्म देता है, सेवक आकर प्रणाम करता है, स्त्री नाचती है, स्वयं हाथी पर सवार होता है, घोड़े दौड़ाता है। उस इन्द्रजालमें सच्चे जानकर विकलता धारण करके कभी किसीके वियोगमें रोता है और दुःखी होकर सिर कूटता है, वैसे ही यहाँ भी अज्ञानी जीव छाती कूटते हैं। कोई वस्तु मिलने पर आनन्द मानता है और वियोग होने पर शोक करता है। सिनेमामें अनेक प्रकारके दृश्य आए, नगर दिखाई दें, ताँगे-बग्घी चलते दिखाई दें, ऊँचे मकान दिखाई दें, परन्तु वहाँ वह कोई वस्तु नहीं है, वहाँ तो मात्र परदा है; वैसे ही इस जगतमें जो परवस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनमें सुख मानना वह इन्द्रजालका खेल हैं; उनमें कोई सुख नहीं है।

कभी श्रृंगार बतलाते हैं, कभी सेना दिखाई देती है, परन्तु वहाँ सेना है नहीं, सब इन्द्रजालका झूठा खेल है। सब कहते हैं कि यह इन्द्रजाल झूठा है, इसमें कुछ भी सत्य नहीं है।

उसीप्रकार देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंचके शरीर जड़ हैं; उनमें तेरी सत्ता नहीं है, तेरा अस्तित्व तुझमें है—ऐसी दृष्टि कर। दृष्टिसे दौलत दिखाई देगी। अनन्त शरीर धारण किऐ उनमें आत्मा नहीं है। शरीर पतला हो, मोटा हो, वह सब इन्द्रजालके समान है, इसलिए शरीरकी रुचि छोड़; तेरे चेतनका अंश उसमें नहीं है, वे तुझमें प्रविष्ट नहीं हुए हैं। भ्रमणासे शरीरका श्रृंगार करते हैं; स्वयंने गहने पहने हों तो गाँवके लोगोंको बतलाता है। अपने शांतभावको चूक गया है। खान-पानके पदार्थसे तथा सुगन्धित इत्रादि लगाकर शरीरका अनेक प्रकारसे यत्न करता है वह सब व्यर्थ है। एकबार आत्माकी रुचि तो कर, दृष्टिको सच्चा बना। जो संयोग आना हैं वे आएँगे, उन्हें कोई बदलनेमें समर्थ नहीं है; परन्तु मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी दृष्टि करके उसीमें लीनता करनेसे सुखी होगा।

किसीके हीरे-जवाहिरातसे जीव हर्षित हो वह व्यर्थ है। जड़के श्रृंगारको अपना माने, झूठमें आनन्द मानकर हर्षित हो; शरीर, मन, वाणी तो मुर्दा हैं उनके साथ सगाई की है, उनकी रुचि करता है, उनका सम्बन्ध तोड़ दे, वह तो सब परवस्तु हैं, परन्तु उनके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका विकल्प भी आत्मामें नहीं है। ज्ञानानन्द स्वभावकी रुचि कर। मुर्देके साथ सगाई करनेसे कार्य नहीं सुधरेगा अर्थात् विवाह नहीं होगा; वैसे ही जड़ पदार्थोंके साथ एकत्वबुद्धिसे कुछ नहीं मिलेगा; इसलिए परकी रुचि छोड़ और अपने ज्ञायकस्वभावकी रुचि कर,—ऐसा कहनेका तात्पर्य है।

प्रवचन–२३

पौष शुक्ला १४, सोमवार दि० २९-१२-५२

आत्मा ज्ञान और आनन्दकी मूर्ति है। उसकी प्रतीति एवं लीनता वह आत्माका अनुभव है तथा वह धर्म है। उस अनुभवके स्वाद बिना अज्ञानी क्या करता है वह बात चलती है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। शरीर, कर्म आदि अजीव हैं, पुण्य–पाप विकार है; जड़ और विकारके साथ जो एकत्वबुद्धि करता है उसे आत्माका अनुभव नहीं होता, उसे संसारका अनुभव है। शरीर, मन, वाणी, स्त्री–पुत्रादिका अनुभव जीव नहीं करता। जीव या तो स्वभावका अनुभव करता है अथवा विकारका। अज्ञानी रागका अनुभव करके आनन्द मानता है।

जैसे कुत्ता हड्डियोंको चबाता है उससे जो अपना गाल, गला, मसूड़ोंमेंसे खून निकला उसको अच्छा स्वाद मानता है। वह हड्डियोंका स्वाद नहीं है किन्तु अपने ही खूनका स्वाद है; वैसे मूढ़ जीव चिदानन्द आत्माकी रुचि छोड़कर स्त्री, लक्ष्मी, लड्डू–खीर आदि जो पदार्थ हड्डियोंके समान हैं उनमें सुख मानता है। वहाँ पर वस्तुओंका स्वाद नहीं है, परन्तु अपनी एकाग्रतारूप रागका स्वाद आता है। हर्ष–शोक दुःखमय हैं। चक्रवर्ती तथा इन्द्रादि सम्यग्दृष्टि जीव समझते हैं कि परमें सुख नहीं है। अज्ञानी परमें सुख मानता है। हमारे पास दो–पाँच लाखकी सम्पत्ति है, हमारे बड़े महल हैं—ऐसा मानकर उसमें सुखकी कल्पना करता है।

विकारकी परिणति, हर्ष–शोक सब परफन्द हैं। ज्ञान एवं आनन्दस्वभावमेंसे सुखानुभूति होना चाहिए, उसके बदले परवस्तुओंमें सुख मानता है। स्वयं सिद्धस्वरूपी है उसे भूलकर परफन्दमें सुख मानता है। व्यवहार रत्नत्रयका जो राग है वह भी परफन्द है, उसे सुखकन्द मानता है। व्रत, भक्ति आदिकी वृत्ति उठे वह विकार है, वह

आत्माका स्वरूप नहीं है। अपने शान्तस्वरूपमें एकाग्रता छोड़कर रागमें एकाग्रता करता है वह दुःख है।

शरीरको अग्निकी ज्वाला लगे तब कहती है कि मुझमें ज्योतिका प्रवेश हो रहा है ! यदि कोई उस अग्निको बुझाए तो उससे लड़ती है क्योंकि वह अज्ञानी जीव अग्निको देवी मानता है, इससे बुझानेवालेके प्रति द्वेष करता है। अज्ञानी स्त्री अपने पतिकी मृत्यु पर उसके साथ सती होती है वह अज्ञानभाव है। वह अग्निमें गिरे और कोई बचाए, बुझाए तो द्वेष करती है; वैसे ही लक्ष्मी, कुटुम्ब, मकानादिकी तृष्णा वह अग्नि है; उनमें से कोई वस्तु कोई व्यक्ति ले ले तो उसे शत्रुकी भाँति देखता है और क्रोध करता है जब कि धर्मात्मा ऐसे अवसर पर वैराग्यभावना भाता है:—

''एकाकी विचरता रहूँ स्मशानमें,
कभी पर्वतमें वाघ सिंह संयोग हो;
अडोल आसन अरु मनमें नहि क्षोभ हो,
परम मित्रका मानों पाया योग हो।''

अरे ! यह शरीर मुझे नहीं चाहिए, जिसे इसकी आवश्यकता हो वह ले जाए। दुःखके निमित्त लुटते हों तो लुटें, छिदते हों तो छिदें, जलते हों तो जलें; हम तो आनन्दमूर्ति हैं, उसमेंसे आनन्दके झरने झरते हैं। शरीरादि तो दुःखके निमित्त हैं। सिंह आता है उसे खानेके लिए शरीरकी आवश्यकता हो तो ले जाए, हमें नहीं चाहिए। जैसे किसीको घरमेंसे सर्प निकालना हो और कोई सँपेरा साँप लेनेके लिए आ जाए तो काम बन जाए। वैसे ही धर्मात्मा अन्तर्स्वरूपमें लीन हुआ है। शरीर तो उसका फल आने पर छूटेगा; जिसे शरीरकी आवश्यकता हो वह हमारा मित्र है। धर्मात्माकी मित्रदृष्टि है। हम आत्मा हैं, शरीर किसीके लेनेसे लिया नहीं जाता, परन्तु हम तो ज्ञानस्वभावी हैं, त्रिकाल रहनेवाले हैं। इसप्रकार स्वभावमें स्थिरता होनेका काल, शरीर छूटनेका काल और सिंहके आनेका काल—सब काल एकसाथ हैं। ऐसा मेल हो गया है

समझकर ज्ञानी सिंहको भी मित्र समझता है। अज्ञानी संयोग चुरानेवालेको शत्रु समझता है;—इसप्रकार दृष्टिके फेरसे फेर है। स्त्री, पुत्र, मकान, पैसादि दुःखके निमित्त हैं; परन्तु उन्हें कोई लूँट ले तो अज्ञानी उसे शत्रु मानता है। धर्मात्माको स्वभावकी रुचि है, इसलिए संयोगोंकी रुचि छूट गई है, उसको शत्रु–मित्रके प्रति समभाव है। अज्ञानीको संयोगोंकी रुचि होनेसे स्वभावकी रुचि नहीं है, इसलिए संयोग छूट जानेसे द्वेष करता है।

भगवान ! ज्ञानस्वभावकी रुचि कर, संयोग तो उनके कालमें आएँगे और जाएँगे, इसलिए दृष्टिको बदल दे। पुत्र उड़ाऊ हो तो पिता क्रोध करता है कि हमने पैसा कमानेमें पसीना बहाया है और तू उड़ाता रहता है?—इसप्रकार कुपित होता है। यहाँ दृष्टि बदलनेकी बात करते हैं।

परमें सुख मानकर जीव अपनेको भूल रहा है। भोगके समय स्वभावको याद नहीं करता । चौरासी लाख योनिमें कुत्ता, कौआ, देव, सेठ आदि भवोंमें परवस्तुओंको अपना मानकर दीर्घकालसे चोर हुआ है, अनादिकालसे चिदानन्द निजसम्पदाको चूककर भटक रहा है। मैं तो आनन्दकन्द हूँ उसका स्मरण नहीं करता। जैन साधु हुआ तब भी निजरूपमें धर्म नहीं माना, पंचमहाव्रतादिमें धर्म माना; वह भी संसार परिभ्रमणका मार्ग है।

आत्मस्वभावसे च्युत होकर पुण्य–पापसे लाभ मानकर परमें सुखकी कल्पना कर रहा है। जन्मादि दुःखदण्ड प्राप्त करता है तथापि परकी चोरी नहीं छूटती।

देखो, आत्मा स्व–परका ज्ञाता, तीनलोकका नाथ है, उसे भूलकर कीर्तिमें, जलसोंमें हर्ष मानता है। अपना उच्चपद–ज्ञानपद आदि अन्तरहित है। जो है उसे कोई बनाता नहीं है और जो हो वह नष्ट नहीं होता। अपनी भूलसे अपने ज्ञानपदको पहिचान नहीं की और भिखारी बनकर फिर रहा है। ''हे भगवान ! तुमने पच्चीस लाखकी सम्पत्ति तो दी, परन्तु सवासेर मिट्टीकी कमी रह गई''—ऐसा कहकर भगवानसे पुत्रकी माँग करता है।

स्वयं ज्ञायकमूर्ति है, अपनी उस ज्ञायकनिधिको नहीं देखता और भिखारी बना फिरता है। दुकानदार भी एक पैसेकी बिक्रीके लिए हलके ग्राहकके पास मानो याचना करता है। जिसे चैतन्यकी प्रतीति है उसके रागकी मर्यादा है। राग संयोगसे नहीं है और स्वभावमें नहीं है—ऐसा वह मानता है। अज्ञानी रागमें एकाग्र होता है। स्वयं ज्ञाता सत्ता है वह कहीं दूर नहीं है; ज्ञायकज्योतिको देखना दुर्लभ माना है, परन्तु देखे तो सुलभ है। ज्ञानीको राग आता अवश्य है परन्तु उसमें आनन्द नहीं मानता, चेतनानिधि तो ज्ञाता-द्रष्टा है।

किसीने पूछा कि—''तू कौन है?'' उसने कहा कि ''मैं मरा हुआ मुर्दा हूँ'' अथवा कहे कि ''मैं मनुष्य हूँ।'' तो यह बोल कौन रहा है?'' तब कहता है कि ''मैं नहीं जानता।'' तो यह जो शरीर है, यह मनुष्य है-ऐसा किसने जाना? तब याद आया कि मैं जीवित हूँ। वैसे ही मनुष्य शरीर जड़ है, शरीर राख हो जाएगा। शरीर और आत्मा एक हों तो मोटे शरीरवालेको अधिक ज्ञान होना चाहिए और दुबले शरीरवालेको कम; परन्तु ऐसा तो नहीं है। मोटे शरीरवाले हाथीमें कम बुद्धि है और दुबले-पतले मनुष्यमें अधिक है; इसलिए शरीर और आत्मा भिन्न हैं।

अज्ञानी मानता है कि मैं शरीर हूँ, तो इस शरीरमें जो (स्व) मान्यता की वह कौन है? वह कहे कि ''मैं नहीं जानता'' परन्तु ऐसा प्रलाप किसने किया? ऐसा विचार करे कि मैं शरीरको जानता हूँ परन्तु अपनेको नहीं जानता, तो यह क्या है? मैं द्रष्टा हूँ, ज्ञाता हूँ और परीक्षक हूँ। यह कपड़ा है, यह फिटकरी है—ऐसी परीक्षा करता है। उन वस्तुओंको कुछ खबर नहीं है, जीव परीक्षा करता है। इसप्रकार अपनेको खोजकर, द्रष्टा-ज्ञाताको परखनेमें लग जाए तो स्वरूपका स्मरण करे वहाँ सुखी हो।

एक मनुष्य मदिरा पीकर मदोन्मत्त हो गया और पुरुषके आकाररूप खम्भेको देखकर उसे सच्चा मानकर अँधेरेमें उसके साथ लड़ने लगा।

स्वयं नीचे गिरा और खम्भा ऊपर; वहाँ कहने लगा कि मैं हारा। इसप्रकार परको अपना मानकर दुःखी हुआ। हमने इतने पुण्य किए तो भोग रहे हैं—इसप्रकार परको अपना मानकर दुःखी हुआ। अपने चेतनके सिवा सब अचेतन हैं वे मुझे लाभ–हानि करेंगे ऐसा मानकर दुःखी हुआ। इसप्रकार मिथ्यात्वका नशा चढ़ा है। नौकरके साथ, स्त्री पुत्रके साथ लड़ा, वे सब वस्तुएँ पर हैं, उनको अपनी मानता है। ''इस सुन्दर शरीरमें कीड़े पड़ेंगे ऐसा मैंने जाना नहीं था। यह पुत्र विरोधी हो गया''—आदि प्रकार मानकर अपने भावसे दुःखी होता है। स्वयं राग–द्वेष करके दुःखकी भावना करके भव बनाये हैं; कर्मोंने भव नहीं कराए हैं। संयोगोंका विश्वास करे, रागमें सुख माने, वह मान्यता दुःखदाई है। ''पैसा कमाकर फिर धर्म करूँगा'—यह विपरीत भावना है। अपने स्वभावमें राग नहीं है, तथापि राग उत्पन्न किया है।

वे सब जड़ हैं, पर हैं फिर भी उनमें सुख मानता है। उनमें सुख नहीं है तथापि कल्पना करता है; इसलिए अनुत्पन्नको उत्पन्न किया तथा अचेतनको चलाया—ऐसा कहते हैं। मृतक कलेवरका यत्न अनादिसे करता आ रहा है। मिथ्या मान्यतासे अपना बनाया हुआ जड़ कहीं चेतन नहीं होगा। तू ही ऐसी मिथ्या कल्पनासे दुःख प्राप्त करता है। लक्ष्मी में से सुख आए ऐसा नहीं है, शास्त्रमें से ज्ञान आए ऐसा नहीं है। तू झूठी कल्पनासे दुःखी हो रहा है। मिथ्या कल्पनासे क्या लाभ है? स्वयं ही संसारके फन्देमें फँस गया है। अपने विपरीत भावनाके फन्देमें स्वयं फँसा है। विपरीत दृष्टिसे तथा परके अनुभवसे संसार है और यथार्थ दृष्टिसे तथा स्वानुभवसे मोक्ष है।

त्यागी हो जाए तब भी कहता है कि कर्म संसारमें भटकाते हैं, परन्तु वह भूल है। स्वयं कौन है? उसका विचार किए बिना भूला है। चिदानन्दकी खान भूल गया। आत्मा अनन्तचतुष्टय—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्यकी मूर्ति है, परन्तु उसे भूलकर अनन्तचतुष्टयको मलिन किया है।

अरे चेतन ! विचार कर, मेरा बनाया हुआ फन्दा ऐसा है, मानो आकाशको बाँध लिया, परन्तु अरूपी सर्वव्यापक आकाश बादलोंसे कभी बँधता नहीं है, वैसे ही चैतन्यस्वभाव कभी नहीं बँधता।

अकेले कर्म होते तो तुझे हानि नहीं करते और तू आवरणमें नहीं आता; परन्तु तेरा अज्ञान तुझे भुलाता है।

सहज चिदानंद.

प्रवचन–२४

पौष शुक्ला १४, मंगलवार दि० ३०-१२-५२

कर्म जड़ हैं, आत्मा उनके द्वारा नहीं बँधता। कर्मोंसे बँधा है—ऐसा कहना व्यवहार–कथन है।

जड़की शक्ति अल्प है, तेरी शक्ति अधिक है। तू कर्ममें जुड़कर राग करता है, कर्म अकेले होते और तुझमें भूल नहीं होती तो तेरी शक्तिका घात नहीं होता, क्योंकि तेरी शक्ति अधिक है ।

तेरी शुद्ध शक्ति महान है और शरीर, वाणी, मन, पुण्य–पाप मेरे हैं,—ऐसा मानकर विपरीतता तू करता है। वह विपरीत शक्ति भी महान है। कर्मसे तुझे हानि नहीं है, वह तो जड़ है, उसकी शक्ति कम है तेरा शुद्ध स्वभाव महान है। कर्म किंचित् रोकते नहीं है। जीवकी मूर्खता भी बड़ी है; कर्मकी बलजबरी नहीं है, तेरा चिन्तवन तेरे गले पड़ा है। मैं दया पालनेवाला हूँ, मैं यात्रा करता हूँ—ऐसा विकल्प मेरा स्वरूप है, वही चिन्तवन तेरे गले पड़ा है। जड़ कर्मको खबर नहीं है, चैतन्यशक्ति परमानन्दमय है, उसे चूककर मैं रागी हूँ, मैं भक्ति करता हूँ, मैं विकारी हो गया—ऐसी मान्यता ही चौरासीमें भटकनेका कारण है।

चिदानन्दका चिन्तवन करे कि मेरा ज्ञान और आनन्द मुझमें है तो धर्म और अनुभव हो।

मैं रागी हूँ, मैं परका भला कर सकता हूँ वैसा चिन्तवन वह अशुद्ध अनुभव है, उसीके कारण जीव भटकता है, कर्म नहीं पकड़ता, वह तो तेरे ज्ञानका ज्ञेय है; परन्तु अज्ञानी शरीरसे और व्यवहारसे धर्म मानता है वह मान्यता उसे चौरासीमें परिभ्रमण कराती है।

परको देखकर स्वको भूल गया। मैं चिदानन्द हूँ उसे चूक गया। जड़कर्म, विकार, पुण्य–पापको देखकर अपनी शक्तिको भूल गया। दया,

दान, व्रत, पूजादिसे धर्म है ऐसी मान्यतासे मिथ्यात्व होता है।

जड़कर्ममें तूने अविद्याका निमित्तपना कहा है। अशुद्ध चिन्तवन नहीं करे तो कर्मका जोर नहीं है। ''दर्शनमोहनीयका जोर है उससे मिथ्याभ्रान्ति होती है, चारित्रमोहनीयका जोर है उससे राग–द्वेष होते हैं।''—ऐसा अज्ञानी मानता है। वहाँ कहते हैं कि उनका जोर नहीं है, परन्तु अपने अशुद्ध चिन्तवनसे भूला है। तू ऐसी प्रतीति कर कि ज्ञानानन्दशक्ति तेरी है। पुण्य–पाप, दया–दानादिमें धर्म मानना तथा पैसा, शरीर, स्त्री आदिको प्राप्त कर लूँ तो सुख प्राप्त हो वह सब भ्रान्ति है। निमित्तोंको प्राप्त करनेकी भावना वह परकी भावना है। ऐसी भावना करके अज्ञानी चौरासीके अवतार करता है। रागकी भावना करना वह मिथ्यात्व है। ऐसेका ऐसा राग कल हो—यह तो विकारकी भावना हुई, वह भावना मिथ्यात्व है।

तब कैसी भावना करना? स्वयं ज्ञानानन्द है, अविनाशी है, अनुपमेय है, ऐसा मेरा अचलस्वभाव है; पुण्य–पाप चल हैं, मेरा पद परम है, मेरा आनन्दघन पद निर्दोष है, विकार दुःखमय है, मेरा स्वभाव अविकारी है, मैं साररूप हूँ, त्रैकालिक हूँ, चित् एवं आनन्दरूप हूँ।—ऐसी निजभावनासे परमात्मदशाको प्राप्त होता है, परन्तु क्रियाकाण्डसे मुक्ति प्राप्त कर ले—ऐसा नहीं होता। क्रियाकाण्डसे धर्म नहीं होता, परन्तु मैं नित्यानन्द हूँ ऐसे अमृतके अनुभवसे जन्म–जरा रहित सिद्धदशा प्राप्त होती है। —यह मुक्तिकी क्रिया है।

अपना पद ज्ञानानन्दमय है। समवसरण जड़ है, उसमें तीर्थंकरपना नहीं है। समवसरण पुण्यका फल है। तीर्थंकरपना आत्मामें है इसलिए सबकी अपेक्षा अपना पद उच्च है। इन्द्रों द्वारा सभी जो पूज्य है वह आत्मा है; इसलिए अपना स्वरूप सफल पूज्यपद है। परमधामका स्थान आत्माको प्राप्त होता है। सर्वार्थसिद्धिका देव हो वह पुण्यका फल है, वह परमधाम नहीं है। तथा रमने योग्य अपना पद है; अपने सन्मुख रहना वह सच्चा पद है। विकार और निमित्तकी दृष्टि छोड़ने पर अपनेमें आनन्द

है। अपनेमें अनन्तगुण हैं। ज्ञान ज्ञानका अनुभव करे वह अपनेमें है, रागमें नहीं है। नित्यानन्द हूँ ऐसी प्रतीति करनेसे स्वानुभव होता है। अपना पद परमेश्वर है, उस पदको कोई उपमा नहीं है। देवाधिदेवपना चैतन्यपदमें है। केवलज्ञान प्रगट हो वह आत्मामेंसे प्रगट होता है, इसलिए देवाधिदेवपना आत्मामें है। अपने आत्माके सिवा अन्य कोई उच्च नहीं है, पूज्य नहीं है, परम धाम नहीं है; अभिराम (सुन्दर) नहीं है। अपने अनन्तगुण अन्यमें नहीं है। अपना स्वसंवेदनरस–अपना अनुभव परमें नहीं है। स्वयं परमेश्वर, ज्योतिस्वरूप तथा अनुपम देवाधिदेव है। उसमें सर्वपद हैं इसलिए अपना पद उपादेय है।

शरीर, मन, वाणी जड़ हैं, पुण्य–पाप विकार है इसलिए हेय है। चैतन्यपद उपादेय है ऐसी दृष्टि करना वह सम्यग्दर्शन, ऐसा ज्ञान करना वह सम्यग्ज्ञान और ऐसा आचरण करना सो सम्यक्चारित्र है।

जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है वह भाव छोड़ने योग्य है। सोलहकारण भावना हेय है, अपनेसे पर ऐसे समस्त पद हेय हैं, स्वयं उपादेय है—ऐसी अन्तर्दृष्टि करना वह धर्म है।

अपने निजानन्द स्वभावका सम्यग्दर्शनपूर्वक अवलोकन ऐसा है कि इन्द्रोंकी सम्पदा विपदारूप भासित हो। आत्मा ज्ञानानन्द है, ऐसी सच्ची दृष्टि होने पर इन्द्रपद, राजपद, सेठपद आदि सब विकाररूप भासित हों। तेरा आनन्दकन्द आत्मा तेरे पास विद्यमान है, उसका अवलोकन एवं प्रतीति कर। स्वभावसन्मुख दृष्टिसे धर्म होता है। लाखों यात्राएँ या व्रतादि करे, उनमें कषायकी मन्दता हो तो पुण्य होता है परन्तु धर्म नहीं होता। चिदानन्दस्वरूपकी प्रतीति करके लीनता करे तो धर्म होता है।

शुभभाव पुण्य है, वह बंधका कारण है परन्तु धर्मका कारण नहीं है। रागरहित मेरा स्वभाव आनन्दसम्पदाका स्थान है—ऐसी दृष्टि करना वह धर्म है। जिसकी श्रद्धा–लीनता करके अनन्त मुनि भवसे पार हुए हैं। ज्ञानीको पंचमहाव्रतके विकल्प आते हैं, परन्तु उनको श्रद्धामें हेय मानते हैं। जो मुनि नाम धारण करके पंच महाव्रतोंको निश्चयसे उपादेय

माने वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मभानके बिना नग्न होकर वनमें जाए तब भी कुछ नहीं है। मैं तो अमृतानन्दका कुण्ड हूँ—ऐसा अनुभव करके सन्तोंने भवको पार किया है; किसी क्रियासे या व्रतसे भवको पार नहीं किया जाता। मुनि अट्ठाईस मूलगुणोंका सेवन व्यवहारसे करते हैं, परन्तु वह तो राग है, निश्चयसे उनका सेवन नहीं करते परन्तु स्वरूपका सेवन करते हैं। ऐसी सच्ची दृष्टि नहीं है और अपने लिए बनाया गया आहार लेते हैं तो उनका निश्चय-व्यवहार एक भी सच्चा नहीं है।

मैं आहार ले सकता हूँ या छोड़ सकता हूँ—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। मुनिदशामें शरीर नग्न हो जाता है, २८ मूलगुणोंके विकल्प आते हैं परन्तु उनके स्वामी नहीं हैं। व्यवहार आता है, परन्तु जो उससे वीतरागी धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जिनकी दृष्टि मिथ्या, प्ररूपणा मिथ्या, व्यवहार मिथ्या वे सब मिथ्यादृष्टि हैं।

श्री सर्वज्ञदेवने सर्व उपदेशका मूल यह बतलाया है। चारों अनुयोगका सार यह है कि एक बार ज्ञानानन्द स्वभावके स्वादमें मग्न हो जाए तो विषय कषायादि राग–द्वेषमें कदापि उपादेय दृष्टि न डाले। सर्व शास्त्रोंका सार यह है कि रागरहित आत्माकी दृष्टि और अनुभव करना वह मोक्षमार्ग है। मुनियोंका चिह्न अथवा लक्षण स्वरूपसमाधि है। कितने ही लोग ॐ कहकर समाधि लगाते हैं वह समाधि नहीं है। द्रव्य–गुण–पर्यायकी खबर नहीं है। उनके स्वरूपसमाधि नहीं होती। तथा मुनिका लक्षण नग्न शरीर या मोरपिच्छ नहीं कहा है। ज्ञानानन्दमें लीन होना वह स्वरूपसमाधि है, वह मुनिका चिह्न है। ऐसे चिह्नसे पहिचानना। ऐसे स्वरूपमें एकाग्र होनेसे मुनियोंको राग नहीं होता। आकाशमें फूल नहीं होते वैसे ही सन्तोंको विकार नहीं होता; वे तो आनन्दकन्द आत्माका अनुभव करते हैं।

चैतन्यविलासका ज्ञान करके उसे जाने, इसके सिवा लक्ष्य–लक्षण लिखनेमें (जाननेमें) नहीं आ सकता। आत्मा लक्ष्य है और ज्ञान तथा आनन्द लक्षण है। ज्ञान एवं आनन्दसे आत्मा जाननेमें आए ऐसा है।

आत्मा ज्ञानानन्दरूप है ऐसा जाननेसे सुख होता है। स्वादका अनुभव नाममात्र जाननेसे नहीं होता।

आत्मासहित विश्व अर्थात् छह द्रव्य व्याख्या करने योग्य हैं। व्याख्या वाणीकी रचना है और व्याख्या करनेवाला वह व्याख्याता है। वह सब विकल्प है। आत्मा ऐसा है उसका विकल्प भी राग है। वाणीकी रचनामें आत्मा नहीं है। व्याख्यान करनेवाला हूँ—ऐसी मान्यता भी आत्मामें नहीं है। छह द्रव्योंकी विकल्प सहित व्याख्या करना वह मोहका विकार है, वह सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है; इसलिए अपने चिदानन्द आत्माको देख। पाठ करना या व्याख्यान करना आए उसमें कोई विशेषता नहीं है । इतनी भाषा नहीं आई या पाठ करना नहीं आया वह सब बाहरी महिमा है। कोई जीव हजारों लोगोंमें अच्छा व्याख्यान करता हो उसे सुनकर विचार करे कि मैं भी वैसा व्याख्यान करने लगूँ तो अच्छा—ऐसी भावना अज्ञानी करता है। भाई ! तुझे क्या चाहिए? तेरे पास तो चैतन्यसम्पदा पड़ी है, उसे छोड़कर यह भावना करना व्यर्थ है, वह आत्माके लिए लाभदायक नहीं है। पुस्तकें पढ़ना या उत्तर देना आ जाए, एक घण्टे तक व्याख्यान दे सकूँ तो निहाल हो जाऊँ—ऐसा अज्ञानी मानता है; व्याख्यान देनेके लिए उच्च आसन पर बैठा होऊँ, मधुर भाषा निकलती हो—ऐसी भावना मिथ्यादृष्टि भाता है। भाई ! तेरी सम्पदा तुझमें है। भाषा अच्छी न हो, व्याख्यान देना न आए तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है, उसमें कहीं कल्याण नहीं रुकेगा।

लाखों लोगोंको समझाए; करोड़ों पुस्तकें छपवाए अथवा व्याख्यान देनेवाला बड़ा व्याख्याता हो, परन्तु उससे आकुलता नहीं मिटती। अंतरमें सम्यग्ज्ञान कला है उसे चैतन्यके साथ एकमेक कर। ऐसी वाणी बोलना, ऐसे राग सीखना वह मिथ्याभावना है, वह जड़ है, उसकी भावना करना वह मिथ्यात्वसहित राग है।

द्रव्य–गुण त्रिकाल एकरूप हैं; उनमें एकाग्र रहना वह अनादि संसारके नाशका कारण है। शास्त्रबोधक कलाकी बात नहीं है। चिदानन्द

आत्माका निरन्तर अभ्यास वह सहजबोधकला है। उसका निरन्तर अभ्यास करो और स्वरूपानन्दी होकर भवसागर पार करो।

किसी प्रश्नका उत्तर देना न आता हो, व्याख्यान देना नहीं आता हो, उसकी महत्ता नहीं है। हजारोंको समझाए वह अच्छा—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु वह यथार्थ नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसकी प्रतीति करो।

दुनिया गिनतीमें ले या न ले उसकी महत्ता नहीं है। अपनी गिनती अपनेमें कर।

ऐसा मनुष्यभव सदा नहीं रहेगा। तेरा स्वरूप ज्ञान और आनन्द है वह पद सदैव रहेगा। उसकी प्रतीति, ज्ञान और अनुभव करने योग्य है। दुनियाका होना हो वह हो, तू अपना कार्य कर। साक्षात् मोक्षसाधन अर्थात् अल्पकालमें मोक्ष हो ऐसी सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकतारूप दशा मनुष्यभवमें होती है। नारकी, देव और तिर्यंचमें ऐसी साक्षात् मोक्षरूप दशा नहीं होती; इसलिए बारम्बार कहते हैं कि—पुण्य–पापकी कला छोड़कर चिदानन्दकी कलाका विकास करो !

किसीके आशीर्वादसे आनन्द होगा, बहुत लोग समझें तो कल्याण होगा, यह बात झूठी है। निरन्तर ज्ञानानन्दमें रहनेका यत्न करो। व्यापारी जिस प्रकार व्यापारमें आलस्य–अरुचि नहीं लाता वैसे ही इसमें आलस्य मत करो, अरुचि मत लाओ ! ज्ञानानन्दकी प्रतीति करनेका यत्न करो। ऐसा बारम्बार तो बालक भी नहीं कहलाते। बालकों से भी बारम्बार इतना नहीं कहना पड़ता। तू अनन्त ज्ञानका स्वामी ऐसी भूल करता है इसलिए आश्चर्य होता है।

प्रवचन–२५

पौष शुक्ला १५, बुधवार दि० ३१-१२-५२

अनादिसे अज्ञानी विकारका अनुभव करता है वह संसारका कारण है। चिदानन्द आत्माका अनुभव करना वह मोक्षका कारण है। या तो पुण्य–पापका अनुभव करे, या फिर आनन्दका अनुभव करे। मनुष्य भव सदा नहीं रहता। साक्षात् मोक्षसाधनकी ज्ञानकलामें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों आ जाते हैं। शरीरकी क्रिया, व्रत–तपकी क्रिया वह मोक्षसाधनकी क्रिया नहीं है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकता वह साक्षात् मोक्षसाधन है। यहाँ मनुष्यपनेकी बात लेना है। मनुष्य शरीर जड़ है, संयोगी वस्तु है; भगवान आत्माकी पूर्ण पवित्रदशा वह मोक्ष है। उसका साधन ज्ञानकला है। मैं ज्ञानानन्द हूँ, शरीर, मन, वाणीकी क्रिया नहीं, पुण्य–पापकी क्रिया नहीं, मैं तो ज्ञानानन्द हूँ,—ऐसी श्रद्धा, ज्ञान एवं रमणताको ज्ञानकला कहते हैं; वह मनुष्यभवके सिवा अन्यत्र नहीं होती। पुण्य–पाप या धर्म आत्माके परिणामोंसे होते हैं। सिद्धदशाका साधन ज्ञानकला है। तिर्यंच, नरक और देवमें साक्षात् मोक्षके साधनरूप ज्ञानकला नहीं है। वहाँ सम्यग्दर्शन हो सकता है; परन्तु मनुष्यमें साक्षात् मोक्ष होता है। निजबोधकी कलासे निजस्वरूपमें रहो; पुण्यकी क्रियासे निजस्वरूपमें नहीं रहा जाता। भगवान नित्यानन्द स्वरूपके बोध द्वारा निजस्वरूपमें रहा जाता है।

यहाँ कहते हैं कि बारम्बार निजस्वरूपमें रहना। बालक भी बारम्बार नहीं कहलवाता। तू तो अनन्त ज्ञानका स्वामी है, शरीर, मन, वाणीसे पृथक् है। तू अपने को भूलकर ऐसी भूल करता है, उससे आश्चर्य होता है। तुझे अपनी खबर नहीं पड़ती इससे आश्चर्य होता है। अब किंचित् आत्माकी ओर देख।

यह शरीर जड़ है, उससे लाभ–हानि होनेकी मान्यता महा पाखण्ड है। तूने आत्माको सुना नहीं, जाना नहीं, अनुभव नहीं किया। तेरे चिदानन्दमें कमी है। जड़को अपना मानना छोड़। शरीर भिन्न है, तब शरीरके सगे-सम्बन्धी, स्त्री–पुत्र तो प्रत्यक्ष भिन्न हैं। ''दृष्टिमें दौलत है;'' चिदानन्द आत्माकी श्रद्धा करनेसे अपनी अंतर–निधि प्रगट होती है।

''शरीर मेरा नहीं है'' ऐसा कोई कहनेके लिए कहे, परन्तु मैं आत्मा, मैं आत्मा हूँ तो शरीर चलता है, वाणी निकलती है—ऐसा माननेवाला शरीरको अपना ही मानता है। आत्मा हो तब भी कई बार शरीर चलता दिखाई नहीं देता। संधिवात् आदि रोगोंके समय जीवकी इच्छा होने पर भी शरीरके हलन–चलनकी क्रिया नहीं होती, क्योंकि शरीरकी दशा स्वतंत्र है।

अज्ञानी मानता है कि आत्मा प्रेरक होकर शरीरको चलाता है, वह मूढ़ता है। परमाणु द्रव्य है और द्रव्यका लक्षण सत् है; वह सत् उत्पाद–व्यय–ध्रुवसहित है। नवीन अवस्थारूप उत्पन्न होता है, पूर्व अवस्थारूपसे नष्ट होता है और गुणोंरूपसे ध्रुव रहता है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है ऐसा समझना चाहिए।

तू एकबार सुन ! तू ज्ञानानन्द है, पुरुष, स्त्री, नपुंसक या देव तू नहीं है। पुण्य–पाप पर्यायमें होते हैं, वे मूलवस्तु नहीं है। स्वयं अविनाशी पदरूप है—ऐसा समझे तो अपने पदमें अविनाशी पुरीका राजा बन जाए। अपना ज्ञान होने पर पूर्ण दशा होने पर अविनाशीपदकी प्राप्ति होती है। ज्ञानकी महिमा अपार है; वह शक्ति गुप्त है उसे प्रगट करनेकी प्रतीति कर। परको अपना मानकर दुःखी हो रहा है। कोई मुर्देको वस्त्राभूषण पहिनाए और माने कि मैंने पहिने हैं, वह व्यर्थ ही झूठ मान रहा है। शरीरको स्नानादि कराए और माने कि वह अवस्था मैंने की है; परन्तु भाई ! वह तो शरीरकी अवस्था है। स्त्री, विषय, मिष्टान्न, दाल–भातको भोगकर माने कि मैंने भोगा है। —इसप्रकार जड़की क्रियाको अपनी मानता है वह मूढ़ता है।

जैसे–साँप किसीको काटे और विष किसी ओरको चढे—ऐसा नहीं हो सकता। मिष्टान्न, दाल–भात आदि शरीर खाता है, परन्तु आत्मा नहीं खाता। तुझमें एक परमाणु लेनेकी शक्ति नहीं है। प्रत्येक रजकण उसकी शक्तिसे आता है और जाता है; तथापि मैंने खाया–ऐसा माना, जड़ शरीर कपड़े पहिनता है तथापि मैंने पहिने—ऐसा मानता है वह अज्ञान है।

''जमुहाई आई, धक्का लगा, उलाहना मिला'' ऐसा कहते हैं तो वहाँ क्या मिला? यह सब भाषा है। वे अमुक जड़की क्रिया सूचक वाक्य हैं। यहाँ जड़ने कपड़े पहिने तथा मैंने पहिने—ऐसा मानता है। मैं खाता हूँ—ऐसा माननेवालेने आत्मा नहीं माना। शरीर पर कपड़े और गहने डाले और मानता है कि मैंने पहिने वह भ्रमणा है। जड़की पर्याय स्वयंसिद्ध उसके अपने कारण होती है, तथापि मुझसे होती है—ऐसा मानना वह अज्ञान है। शरीर पर पानी गिरे और माने कि मैंने स्नान किया, मैं जड़का स्पर्श करता हूँ। पुद्गलमें स्पर्शगुण है, आत्मा अस्पर्शी है। शरीरको इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ लगाए और माने कि मैंने वह कार्य किया तो, उसे जीव और अजीवकी भिन्नताकी खबर नहीं है। शुद्ध आहार जड़ है, पर है, उससे अपनी आत्मशुद्धि नहीं होती। जड़के परिणामसे आत्माका परिणाम सुधरें ऐसा मानना वह अज्ञान है। निर्दोष शुद्ध आहार मिले तो आत्माके परिणाम सुधरें—ऐसा मानना वह अज्ञान है। आत्मा जड़ आहारको नहीं ले सकता, तथापि मैंने खाया ऐसा मानता है। यह शरीर जड़ है, आत्मा अरूपी चैतन्य है, उस क्रियाके समय जीवने रागका अनुभव किया है, परन्तु जड़की क्रियाका अनुभव नहीं किया। जिसने जड़ और जीवको भिन्न नहीं जाना उसे धर्म नहीं होता। ज्ञानानन्द स्वभावको चूककर अज्ञानी रागका भोग करता है, परन्तु जड़का भोग तो वह भी नहीं ले सकता।

अज्ञानी जड़ और चैतन्यको एक मनवाता है, पैसे से धर्म मनवाता है; पैसा मैंने दिया वह मान्यता अधर्म है; जड़की क्रिया आत्मासे हुई ऐसा

मानना वह मिथ्यात्व है। लक्ष्मी से पुण्य नहीं है और धर्म भी नहीं है; तृष्णा मन्द करे तो पुण्य होता है परन्तु धर्म नहीं होता। एक परमाणु कोई दे सकता अथवा बदल सकता है—ऐसी मान्यता अज्ञानीकी है। पैसा रूपी है आत्मा अरूपी है, तथापि अज्ञानी अपनेको लक्ष्मी आदिका स्वामी मानता है।

जैसे राजा किंकरका स्वामी है, तथापि वह किंकरके भोजनसे तृप्त होनेसे राजा ऐसा नहीं कहता कि ''मैं तृप्त हो गया'' तेरी ऐसी चाल तुझे ही दुःखदायक है। जड़की क्रिया हो वहाँ मानता है कि यह पैसा मैंने दिया, मैंने लड्डू खाए, मैंने कपड़े पहिने, मैंने भोग भोगे—ऐसा मानकर जड़का स्वामी होता है। जड़ और चेतन भिन्न हैं ऐसी प्रतीति नहीं है उसे परका अभिमान हुए बिना नहीं रहता। परकी अवस्थासे मेरी अवस्था हुई ऐसा मानता है। आत्माके बिना वाणी निकलती है? ऐसा प्रश्न करता है। वाणी पुद्‌गल है, वह आत्माकी नहीं है। तू देख, तेरी ऐसी चाल तुझे ही दुःखदायक है।

प्रश्न :—अभी तो दुःखदायक नहीं दिखती।

समाधान :—हर्षसन्निपातवाला हँसता दिखाई देता है, परन्तु वह दुःखी है। वैसे ही पैसा, स्त्री–पुत्रादिसे स्वयं सुखी नहीं है तथापि हर्ष मानता है, वह मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्रका त्रिदोष (सन्निपात) है। राजा दुःखी है, रंक दुःखी है और त्यागी नाम धारण करके शरीरकी क्रिया मुझसे होती है और महाव्रतके परिणामोंसे लाभ होगा ऐसा मानता हो तो वह भी दुःखी है, मिथ्यात्वसे दुःखी है। राग, विकल्प या दया–दानादि भाव आस्रव हैं—विष हैं, दुःखदायक हैं। उन्हें सुखदायक मानता है इसलिए दुःखी है।

कोई वस्तु सुन्दर हो तो उसे ऊपरसे अंगीकार नहीं करना चाहिए। शरीर मिट्टी है, अपवित्र है, कान, नाक, आँखें आदि नव द्वारों द्वारा मैल निकलता है; जो देखते ही ग्लानिरूप है। भीतर सुन्दर हो तो बाह्यमें बुरा क्यों पड़ा है? अज्ञानीको खबर नहीं है। शरीर बाहर और भीतर खराब

है; स्नान करते समय भी पसीना निकलता है इसलिए शरीर अरुचिमय है, उसकी कोई अवस्था तुझसे नहीं है और उससे तुझे सुख नहीं है। तथा शरीर तो मलमूत्रकी खान है, इसलिए उसकी रुचि छोड़कर ज्ञानानन्दस्वभावकी रुचि कर। आत्माको चूककर शरीरमें स्नेह करके जन्म-मरणमें भटक रहा है। तेरे पीछे जन्म-मरण लग रहे हैं। शरीरकी उत्पत्तिसे मैं उत्पन्न हुआ, शरीरके छूट जानेसे मैं मर गया—ऐसा अज्ञानी मानता है। इसप्रकार अनादिसे जन्मादिके दुःख सहन किए हैं।

बड़े पुरुषकी रीति है कि उसके साथ जो हो उसे नहीं छोड़ता, उसी रीतिका भाव तूने किया है। अनादिकालसे शरीरको अपना माना है तो उसे कैसे छोड़ा जाए? शरीर, मन, वाणीको कैसे पृथक् किया जाए?—ऐसा महंत नहीं होना। शरीर, मन, वाणीकी क्रिया मेरी है—ऐसी मिथ्या मान्यतारूपी पापको छोड़ोगे तब महंत हुआ जाएगा।

शरीर तो पापका रूप है, आत्मा ज्ञानानन्द पवित्र है। शरीरको पवित्र मानकर अपनी पवित्रताको चूक गया है, इसलिए अपने धर्मके अंगको समझो। शरीर तो अनन्त गए, उन्हें अपना मानकर पकड़ रहे हो। शरीर, मन, वाणी परका धन है, परको लेनेकी बुद्धि मिथ्याभ्रान्ति है; उसे नहीं छोड़ता इसलिए अनन्तकाल दुःखी हुआ। पर-परिग्रहकी आदत नहीं छोड़ता। स्वयं चैतन्य भिन्न है उसकी श्रद्धा नहीं करता।

हे आत्मा ! तेरी साहूकारी तो तेरे ज्ञान और आनन्दमें है। मैं देव हुआ, धनवान हुआ, अनेक दासोंका स्वामी हुआ—इसप्रकार परका स्वामी होना वह चोरी है। निजधन तो ज्ञान है उसे पहिचानो।

लक्ष्मी आदि वस्तुएँ तो उनके अपने कारणसे आती और जाती हैं, तथापि पागल जीव मानता है कि वे सब वस्तुएँ मेरे कारण आती-जाती हैं।

''पहला सुख निरोगी काया''—ऐसा अज्ञानी मानता है और वैसे मनवानेवाले भी होते हैं वह सब अज्ञान है। मैं ज्ञानानन्द हूँ, विकार कृत्रिम है, शरीर पर है—ऐसे विवेकको ग्रहण करोगे तो साहपद प्राप्त करोगे।

शरीरका एक रजकण भी साथ नहीं आएगा। अपना धन अपने पास है। शरीर वह शरीर है, मन, वाणी, वस्त्र–आभूषण जड़ हैं, मैं चैतन्य हूँ ऐसा विश्वास कर। दया–दानादिकी वृत्ति हो तो समझ कि वह विकार है। मैं ज्ञानमूर्ति हूँ, ऐसी मेरी जाति है। आत्मधनको ग्रहण करो, परका ममत्व स्वप्नमें भी मत करो।

जीव अनन्तबार द्रव्यलिंगी मुनि हुआ, महाव्रत पाले, परन्तु आत्माकी बात नहीं सुनी। ज्ञानानन्दमूर्ति आत्माको जाने बिना सब घूरोंको खोदने जैसा है।

पर वस्तुको अपनी माननेसे स्वप्नान्तरमें भी सुख नहीं है। स्वप्न आए तब भी मैं चिदानन्द हूँ, शरीर नहीं हूँ, राग नहीं हूँ,—ऐसी श्रद्धा करो। अपनी मिथ्याचालको छोड़, तू दरिद्र नहीं है। आत्मा आनन्दकन्द, सिद्धस्वरूपी, शरीररूपी डिब्बीमें विराजमान है; वह श्रद्धा, ज्ञान, रमणता आदि अनन्त गुणोंका निधान है, दरिद्री नहीं है। आत्माकी पहिचान करना वही श्रेष्ठ कार्य है। मेरे पास कुछ नहीं है ऐसा मानकर अज्ञानी भिखारी हो रहा है, इसलिए कहते हैं कि तू दरिद्री नहीं है, तू तो निधानवान है। उसकी पहिचानके बिना अपनेको दरिद्री मान बैठा है। दरिद्री हो वह ऐसे कार्य करता है।

प्रवचन–२६

माघ कृष्णा १, गुरुवार दि० १-१-५३

आत्माको किसका अनुभव करना? पुण्य–पापका अनुभव करे वह तो अधर्म है; शरीर, मन, वाणी रूपी हैं, उनको तो अनुभवता नहीं है; आत्मा शुद्ध है उसका अनुभव करना वह धर्म है।

श्री गुरुने 'तू आनन्दघन ध्रुवस्वभावी है'—ऐसा तेरा निधान बतलाया है। तू निर्मलानन्द है, पुण्य–पाप विकार हैं ऐसा स्वरूप समझाया, इसलिए कहा है कि गुरुने आत्मा दिया। आत्मा रत्नत्रयका भण्डार है ऐसा निधान बतलाया। स्वयं साक्षीस्वरूप है ऐसा विचारे तो धर्म प्राप्त हो। तेरा निधान शुद्ध चिदानन्द है, उसे सँभालकर सुखी हो। यहाँ सँभालने से सुखी होना कहा। मैं ज्ञाता हूँ ऐसी श्रद्धा, ज्ञान एवं रमणता वह सुखका कारण है।

जैसे किसी स्त्रीने अपने बिछौने पर लकड़ीकी पुतलीको श्रृंगार करके सुला दिया। पतिने समझा कि मेरी पत्नी सो रही है। उसे बुलाया तो बोली नहीं, पंखा झला आदि सेवा की, रातभर खुशामद करता रहा; जब सबेरा हुआ तो देखा कि मैंने व्यर्थ ही सेवा की। यह तो लकड़ीकी स्त्री है। वैसे ही शरीर लकड़ीके समान है; उसे अपनेसे भिन्न मान। शरीरकी तथा रागकी क्रियामें धर्म नहीं है—ऐसी श्रद्धा कर। शरीरको सच्चा जानकर सेवा करता है, शरीर, मन, वाणीमें धर्म मान बैठा है; फिर खबर पड़ी कि यह तो सब जड़ हैं, इनमें धर्म नहीं है, पुण्य–पापमें धर्म नहीं है, स्वभावमें धर्म है। अज्ञानी लोग शरीरको धर्मका साधन मानते हैं। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसे स्वभावका साधन करे तो शरीरको साधन कहा जाता है, परन्तु चैतन्यमूर्तिकी प्रतीतिके बिना शरीरको साधन मानकर व्यर्थ ही खेदखिन्न होता है। हे चिदानन्द! तू पाँच इन्द्रियोंके चोरका पोषण करता है। इन्द्रियोंको स्वस्थ रखूँगा तो धर्म होगा, शरीर अनुकूल

हो तो यात्रा होगी—ऐसा मानता है। शरीरसे पुण्य भी नहीं होता, अपने शुभभावसे पुण्य होता है।

पाँच इन्द्रियोंका पोषण करता है, परन्तु अतीन्द्रिय आत्माको नहीं पोषता। शरीर अच्छा हो तो परोपकारके काम होते हैं—ऐसा मानता है। जिससे लाभ माने उसे अपनेसे एकमेक माने बिना नहीं रहता। यात्रा, जप–तपके भाव पुण्य हैं, धर्म नहीं है। अपने हाथोंसे भावलिंगी मुनिको आहार दे, वहाँ जड़की क्रियासे लाभ या हानि नहीं है, वहाँ जितना शुभभाव करता है उतना पुण्य है। उस क्रियासे रहित आत्माकी प्रतीति करे वह धर्म है। मेरा स्वरूप अरागी है, उसकी रुचि करे तो धर्म होगा।

आंखें अच्छी हों तो अनाजको शोधा जा सकता है। अनाज अच्छा है या खराब है उसकी गंध द्वारा भी बराबर जाँच की जा सकती है—ऐसा मानकर इन्द्रियोंके साथ एकता करता है, वह मिथ्याभाव है; परन्तु जड़ और रागसे अधिक मेरा ज्ञानस्वरूप है—ऐसी प्रतीति करे तो धर्म हो।

पुण्यका विकल्प उठे वह विकार है। जिस भावसे १४८ कर्मप्रकृत्तियाँ बँधती हैं वह बंधनभाव है, वह आत्माका स्वरूप नहीं है। हे चिदानन्द ! तू आत्माके ज्ञानका अनुभव करनेवाला है। इन्द्रियोंसे लाभ माननेरूप मान्यता अथवा पाँच इन्द्रियाँ सहायक होंगी, पैसे से लाभ होगा—ऐसी मान्यता अन्तररत्न ज्ञान–दर्शन–चारित्रादिको चुरा लेती है। दया, दान, करुणा, कोमलताके भाव विकार हैं; विकारसे लाभ मानने पर आत्माकी चोरी हो जाती है। तू सब अपनी ज्ञानखड्ग सँभाल। मैं ज्ञानकी श्रद्धा, ज्ञानका ज्ञान और ज्ञानकी रमणता करनेवाला हूँ, शरीरकी या पुण्य–पापकी क्रिया मेरी नहीं है। इन्द्रियोंकी रुचि छोड़ो, इन्द्रियाँ जड़ हैं, आत्मा उनसे भिन्न है, उसका ज्ञान–अनुभवन कर तो धर्म है।

हे चिदानन्द ! पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको तथा पुण्य–पापके भावोंको जीत लो, जिससे वे फिर जोर न करें। भगवानके दर्शन करना भी इन्द्रियोंका विषय है। भगवान आत्मा पुण्य–पापरहित अतीन्द्रिय है। यह

इन्द्रियाँ जड़ हैं। परोन्मुखता करे, भक्ति करे या शस्त्र पढ़े वह शुभरागका विषय है, उसे जीतकर निज रीतिकी राहमें आओ ! हे ज्ञानानन्द ! तेरे ज्ञान और आनन्द शक्तिमें से प्रगट होंगे। स्वभावकी रीतिमें अथवा अन्तरमें आओ ! धर्मका विषय अखण्डानन्द है, उससे च्युत होकर परको विषय बनाया वह बंधका कारण है। पुण्य–पापकी प्रवृत्ति पर रीति है, वह आत्माकी रीति नहीं है। अपने स्वभावमें आओ, अंतरमें कल्याणस्वरूप आत्माकी पूर्णदशाको प्राप्त करके राज्य करो, पुण्य–पापमें तेरा राज्य नहीं है।

हे चिदानन्द ! तुम राजा हो और दर्शन–ज्ञान मंत्री हैं, राज्यके स्तम्भ हैं, अनन्तगुण तुम्हारी बस्ती है; स्त्री-पुत्रादि तुम्हारे नहीं हैं। ज्ञाता–द्रष्टास्वभाव स्तंभ है। चारित्र, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व, स्वच्छत्व, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदि अनन्त गुण आत्माकी बस्ती है। पुण्य–पाप विकार है, वह आत्माकी बस्ती नहीं है, वह तो अपराध है। आत्माका अनुभव करके अपनी राजधानीका विलास करो। ज्ञान–दर्शनसे आत्मा लक्ष्य हो सकता है इसलिए उन्हें मंत्री कहा। उनके द्वारा आत्मानुभव हो सकता है। पुण्य–पाप तुम्हारी बस्ती नहीं है और तुम उसके राजा नहीं हो। स्वतंत्ररूपसे करे वह कर्ता, कर्ताका इष्ट वह कर्म। स्वतंत्ररूपसे वीतराग पर्यायका कर्ता आत्मा है और वीतरागरूप होना उसका कर्म है, विकारादि परिणाम उसका कार्य नहीं है। औदयिकभावको तत्त्वार्थसूत्रमें स्वतत्त्व कहा है। पर्यायमें विकार तुम्हारे कारण होता है, कर्मके कारण नहीं; वह बतलानेके लिए वैसा कहा है। यहाँ कहते हैं कि वह तुम्हारी बस्ती नहीं है, तुम पुण्य–पापके स्वामी नहीं हो। अज्ञानी मानता है कि मैं पुण्यका राजा अथवा स्वामी हूँ। शरीर, मन, वाणी, पैसादि जड़का स्वामी हो वह तो मिथ्यादृष्टि है, परन्तु विकारका स्वामी हो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

अरे ! परमाणुका या रागका स्वामी होगा तो निगोदमें जाएगा। तुझे धर्म करना हो तो यह समझ और अनन्त शक्तिका भरोसा कर, उसका विश्वास कर।

दीपचन्दजी गृहस्थ थे। अन्तरनिधि खोलकर बतलाते हैं। पुत्रीको विदा करते समय दहेज देते हैं, यहाँ आत्माकी ऋद्धि बतलाते हैं, उसे सुनकर सुखी हो।

प्रश्न :—यह लौकिक वस्तुएँ तो प्रत्यक्ष दिखती हैं, परन्तु आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता?

समाधान :—उनको देखनेवाला कौन है? बिना ज्ञानके यह किसने जाना कि यह वस्तु है? जिसकी सत्तामें यह ज्ञात हुआ वह ज्ञान है। यह है वह किसके प्रकाशमें ज्ञात हुआ? जड़ नहीं जानता, विकार नहीं जानता, परन्तु ज्ञान जानता है, तथापि मुझे ज्ञात नहीं होता ऐसा कहता है। ज्ञान–दर्शन न हो तो राग हुआ, नया–नया विकार हुआ, शरीरमें रोग आया अथवा गया वह कौन जानता है; वह सब चैतन्यसत्तामें ज्ञात होता है। उसकी जो प्रतीति नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कहते हैं कि जितना भेद होता है वह तेरा पद नहीं है। स्वभावमें ज्ञानकी एकता होना वह तेरा पद है, पुण्य–पाप तेरा पद नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मैंने इतना पुण्य किया। भाई, वह सब विकार है। विकाररहित आत्मा वह तेरा पद है।

शरीर, मन, वाणी, ज्ञानरहित हैं, अपवित्र हैं, अस्थिर और क्षणिक हैं। उनके साथ क्या स्नेह करते हो? बराबर देखो कि शरीरके भीतर चैतन्यतत्त्व है; यह चैतन्यदीपक स्थिर है, पवित्र है उसे पहिचानो।

''संसार नहीं बनाया होता तो यह उपाधि तो नहीं होती''—ऐसा कोई अज्ञानी कहते हैं। स्वयं भूल करता है, वह किसी दूसरेने नहीं की है। परवस्तु तो परमें है, विकार अथवा संसार स्वयं करता है, वह अपनेमें है, परमें नहीं है, परने कराए नहीं है और उन्हें स्वयं दूर करे तो नष्ट हो सकते हैं, तथापि कर्मके ऊपर अथवा ईश्वर पर दोष डालता है। आत्मा त्रिकाल आनन्तमूर्ति है, उससे च्युत होकर परमें सुख मानकर दुःखकी भावना करके दुःखी होता है।

शरीर मन्दिरमें आत्मा दीपक है। पुण्य–पापको दीपक नहीं कहा। स्वभावमें विकार नहीं है। चेतन दीपक शाश्वतका ख्याल नहीं करता।

प्रश्न :—बाह्यसे निवृत्ति ले उसे यह सब समझमें आता है?

समाधान :—जिसकी विपरीत समझ है उसे निवृत्ति नहीं है। परपदार्थ मुझमें नहीं है और विकार मेरा स्वरूप नहीं है। मैं ज्ञान हूँ ऐसा निर्णय करे तो स्वयं मिथ्या श्रद्धासे निर्वृत्त हुआ कहा जाए और स्थिरता करे तो अस्थिरतासे निर्वृत्त हुआ कहा जाए।

तू शाश्वत दीपक है। शरीर तो छूट जाता है, शरीर छूटा हुआ ही है। चैतन्य एवं शरीरके बीच अत्यन्त अभाव है। शरीर मेरा नहीं है, मैं आत्मा हूँ, पुण्य–पाप कृत्रिम हैं और स्वभाव अकृत्रिम है—ऐसी दृष्टिपूर्वक अवलोकन करो। शरीर अस्थिर है, चैतन्य नित्य स्थिर है, उसका अभाव नहीं हुआ है।

जैसे नट अनेक स्वांग धारण करता है, तथापि स्वयं उस रूप नहीं है। कोई नट कुत्तेका वेश धारण करता है, किन्तु अपनेको कुत्ता नहीं मानता। अज्ञानी मानता है कि मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं पण्डित, मैं मूर्ख, मैं काला, मैं सुन्दर आदि प्रकार मानता है। शरीर तो अस्थिर हैं, तू ज्योंका त्यों रहा है इसलिए तू अपनेको देख।

आत्मा चिदानन्द दीपक है, नित्यानन्द प्रभु है। शरीर छूटनेसे आत्माका अभाव होगा?—नहीं। अभाववाली वस्तुएँ अभावरूप रहेंगी और तेरी वस्तु ज्योंकी त्यों सद्भावरूप है; इसलिए उसे तू देख।

नट चाहे जितने वेश धारण करे तथापि अपनेको उसरूप नहीं मानता। नट जब अपने घर जाता है तब नाटकका वेश धारण करके नहीं जाता; वैसे ही शरीर, पुण्य–पापादि वेश हैं; वह वेश लेकर आत्मामें नहीं पहुँचा जाता। तत्त्वोंका विकल्प भी वेश है, वे सब भेद हैं। उनके द्वारा चैतन्यपदमें प्रविष्ट नहीं हुआ जाता; इसलिए सम्यग्दर्शनका घर देखना हो तो पुण्य–पाप, दयादिके वेश साथ लेकर अंतर प्रतीति नहीं होगी। पुण्य

करते–करते धर्म होगा ऐसा मानता है, वह सब बंधका कारण है, उसकी रुचि छोड़कर नित्यानन्द दीपककी दृष्टि कर। शरीर और विकार अनित्य है, उसकी रुचि छोड़। स्वभाव ज्योंका त्यों नित्य है; उसे देखनेसे अनुभव और धर्म होगा।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–२७

माघ कृष्णा २, शुक्रवार दि० २-१-५३

यह अनुभवप्रकाश ग्रन्थ है। आत्मा हर्ष–शोकका अनुभव करता है वह संसार है। विकार रहित आत्मा ज्ञान और आनन्दकी मूर्ति है, उसका अवलम्बन लेकर वीतरागदशा प्रगट करना वह धर्म है। आत्माका अनुभव कहो, मोक्षमार्ग कहो या वीतरागदशा कहो—यह सब एक ही है।

शरीर अजीव है, चेतन ज्ञाता–द्रष्टा है, नित्य एकरूप स्वभावी नित्यवस्तु है, उसे बराबर देखो! भीतर कैसा स्वरूप है, उसे देखना और अनुभव करना वह धर्म है।

शरीर छूट जाता है, परन्तु भगवान ज्ञानमूर्ति शाश्वत रहता है। जैसे खड़ी सफेदी की डली है वैसे ही आत्मा ज्ञानकी डली है; उसकी अवस्थामें भ्रान्ति है, मूल स्वभावमें विकार नहीं है। शरीर–मन्दिरमें विद्यमान आत्मा शाश्वत दीपक ज्योंका त्यों है; उसका अनुभव करो।

नाटकका पात्र अनेक स्वांग धारण करता है। क्षणमें गोरा होता है, क्षणमें स्त्री बनता है, राजा बन जाता है—ऐसे वेश–स्वांग धारण करता है, परन्तु नट तो वहका वही है; वैसे ही आत्माने चाहे जितने पुण्य–पापके क्षणिक परिणाम किये, परन्तु वस्तु तो वहीकी वही है। ऐसे ध्रुवस्वभावकी दृष्टि करना वह धर्म है। जैसे–रत्नके दीपकको पवनके झोंके लगें परन्तु असर नहीं होता, वैसे ही एक समयकी विकारी पर्यायको गौण करके नित्यानन्द स्वभावको देख। सम्यग्दर्शनका ध्येय ध्रुवस्वभाव ज्योंका त्यों है।

श्री समयसार गाथा १४ में स्पष्टीकरण आता है :—

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जानजो॥१४॥

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य जो अविशेष देखे आत्म को।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो॥१५॥

इन दोनों गाथाओंका यहाँ संक्षिप्त सार है कि—हे चिदानन्दमूर्ति ! तू ज्ञान–आनन्दका कर्ता है; पुण्य–पाप संसार है, वह तेरा स्वरूप नहीं है। तुझे जैनशासनको देखना हो, उसका मर्म जानना हो तो हम कहते हैं उसे देख ! दया–दान, राग–द्वेष, शरीर–मन–वाणी सब कर्मका स्पृष्ट-भाव है। दया–दानादि विकारीभाव कर्मोपाधिसे हुआ भाव है, वह कर्मका है। उसे छह बातोंसे स्पष्ट करेंगे :—

(१) जिस प्रकार कमलिनी–पत्र पानीमें रहता है, तथापि पानीसे लगा हुआ नहीं है। तथा

(२) पानीने उसका स्पर्श नहीं किया है। दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं।

कमलपत्र पानीसे निर्लिप्त रहता है। पानी और कमलपत्रके बीच अन्योन्य अभाव है। अभाव न हो तो पृथक् नहीं रह सकते। वैसे ही चिदानन्द आत्मा कमलपत्रकी भाँति कर्मरूपी जलसे स्पर्शित नहीं है। गोंद और कागजके बीच श्लेष सम्बन्ध होता है ऐसा सम्बन्ध आत्मा और कर्मके बीच नहीं है। वे एकमेक नहीं हैं—ऐसी दृष्टि करना वह जैनशासन है। मेरे स्वरूपमें कर्मका बंध नहीं है, तथा कर्मने आत्माको स्पर्श नहीं किया है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका स्पर्श करे ऐसा नहीं होता। एक–दूसरेका एक–दूसरेमें अभाव है। आत्माने कर्मका स्पर्श नहीं किया है। ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि कर यह जैनशासनका ध्येय है। भगवान आत्मा शाश्वत दीपक है, वह सम्यग्दर्शनका विषय है। आत्मा कर्मसे एकरूप नहीं हुआ है। कर्मका संयोग है वह निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धका व्यवहार बतलाता है। उस व्यवहारनयके विषयको अभूतार्थ करके, स्वभावको निश्चयनयका विषय कहा है और उस दृष्टिसे आत्माको कर्मके साथ

संयोगसम्बन्ध भी नहीं है। आत्माकी पर्यायमें राग होता है; उसके निमित्तसे कर्म बँधते हैं ऐसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवाली वर्तमानदशा व्यवहारनयका विषय है। धर्मी जीवको वर्तमान ऊपरकी दृष्टि छुड़वाकर स्वभावबुद्धि कराते हैं।

व्यवहारसे आत्माके साथ शरीर और कर्मका सम्बन्ध है, वह ज्ञान करनेके लिए है परन्तु आचरणके लिए नहीं है। आत्मा कर्मसे बँधा हुआ तथा स्पर्शित नहीं है।—ऐसा निर्णय कर तो भूतार्थस्वभाव समझमें आए। श्री समयसार गाथा १४ में श्री कुन्दकुन्दाचार्यने और श्री अमृतचन्द्राचार्यने यह बात स्पष्ट की है और श्री दीपचन्दजीने यहाँ सार रख दिया है। सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड द्रव्य है। ज्ञान ध्रुवस्वभाव और पर्याय दोनोंका ज्ञान करता है। वर्तमान पर्यायमें राग और कर्मका निमित्त—ऐसे दोनोंका ज्ञान करता है। वह ज्ञान यथार्थ कब होता है? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध परसे लक्ष हटाकर, रागका और कर्मका मुझमें अभाव है, मैं चैतन्य हूँ—ऐसी दृष्टि करो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है।

द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव—ऐसी चार बातें इसमें कहते हैं। चेतनकर्मसे बँधा हुआ तथा स्पर्शित नहीं है,—ऐसा शुद्ध द्रव्यका विषय द्रव्यसे बतलाया।

(३) इस बोलमें क्षेत्रसे अभेदताकी बात करते हैं। मिट्टीमें से घट तथा रामपात्र आदि अनेक प्रकार होते हैं, तथापि मिट्टी सामान्यरूपसे एक है। व्यंजन पर्यायें अनेक होती हैं तथापि मिट्टी एकरूप रही है; उसी प्रकार आत्मभगवानकी असंख्यप्रदेशी व्यंजनपर्याय मनुष्यरूप परिणमित हो, संसारके भिन्न-भिन्न भवोंमें प्रदेशत्व गुणके कारण व्यंजनपर्याय अनेकरूप होने पर भी आत्मा असंख्यप्रदेशी एकरूप है। वह सम्यग्दर्शनका विषय है। भिन्न-भिन्न व्यंजनपर्याय है अवश्य, पानीका आकार भिन्न-भिन्न होता है वह तपेली या बर्तनके कारण नहीं, परन्तु अपने कारण होता है; वैसे ही भिन्न-भिन्न नारकी, मनुष्यादि शरीरके आकारकी अनेकरूप व्यंजनपर्यायें होती हैं वे यथार्थ हैं, वह

व्यवहारनयका विषय है, परन्तु वह आदरणीय नहीं है—अभूतार्थ है।—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

व्यवहार अभूतार्थ है, सर्वज्ञने भूतार्थनयके आश्रयसे धर्म कहा है।

कर्मका बंधभाव एक समय जितना है, परन्तु निश्चय से वह अभूतार्थ है। शरीरके आकारके अनुसार पर्यायमें संकोच–विस्तार व्यवहारनयसे है, परन्तु कोई कहे कि वह बिलकुल भ्रम है अथवा बिलकुल नहीं है तो वह मिथ्या है; परन्तु उस व्यवहारनयके आश्रयसे धर्म हो ऐसा नहीं होता, परन्तु एकरूप शुद्धस्वभावके आधारसे सम्यग्दर्शन होता है। वह भूतार्थनयका विषय है।

इस बोलमें द्रव्यदृष्टिसे क्षेत्र एकसमान है—ऐसा कहकर क्षेत्रकी अभेदता बतलाकर स्वभावकी एकरूप दृष्टि करनेके लिए कहा है।

(४) अब स्वकालकी बात करते हैं।

समुद्र लहरोंके रूपसे वृद्धि–हानिको प्राप्त होता है, परन्तु समुद्र वह समुद्र ही है, समुद्रपना एकरूप है।

भगवान आत्माकी पर्यायमें स्वपरिणाम होता रहता है। जैसे काल, द्रव्यका लक्षण वर्तना अपनेसे है, वैसे ही छहों द्रव्योंकी पर्यायें अपनेसे वर्तती हैं वह पर्यायका स्वकाल है। भगवान आत्मा स्वकालमें वर्तते दया, दान, काम, क्रोधादि परिणाममें वर्तता है। अपने कालमें और अपने कारणसे असंख्य प्रकारके शुभ और अशुभ परिणामरूपसे परिणमता है, विभाव द्वारा वृद्धि–हानि प्राप्त करता है, परन्तु अंतरमें देखो तो आत्मा एकरूप विराजता है वह सम्यग्दर्शनका विषय है।

तीसरे बोलमें व्यंजन पर्यायकी बात ली थी। आकृतियाँ बदलती थीं, तथापि असंख्य प्रदेशमें न्यूनाधिकता नहीं हुई। केवलदशा प्राप्त करे या निगोदमें रहे तथापि निश्चयसे एकत्व है वह सम्यग्दर्शनका विषय है।

वैसे ही यहाँ कालमें अर्थपर्याय ली है। सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहारको जानता है, परन्तु उसे आदरणीय नहीं मानता। विभावकी न्यूनाधिकता पर्यायमें है तथा एकरूपता मुझमें है ऐसा वह मानता है। सामान्यपना द्रव्यका तथा क्षेत्रका कहा और यहाँ सामान्यपना कालका कहा वह सम्यग्दर्शनका विषय है।

(५) अब भावकी बात करते हैं। सोनेमें पीलापन, चिकनापन, वजन आदिकी अपेक्षासे भेद है, गुणभेद से भेद है, परन्तु सोना वस्तुरूपसे तो एक है। वैसे ही आत्मामें अनन्त गुण हैं, वह गुणभेदका विकल्प चित्तके साथ उठता है। मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ—ऐसे भेद पड़ते हैं, गुणभेदसे भेद हैं। गुणभेदका विकल्प कर्मके लक्षसे उठता है, परन्तु वस्तुमें गुणभेद नहीं है। सोनेमें वर्णभेदसे, स्पर्श भेदसे भेद दिखाई देता है, वैसे ही आत्मामें अनन्तगुण हैं, वह भेद और विकल्प व्यवहारनयका विषय है, परन्तु ज्ञान–दर्शन–चारित्र किसीके प्रदेश भिन्न नहीं हैं, गुण–गुणी प्रदेशसे अभेद हैं।

(१–२) व्यवहारनयसे पर्यायमें कर्मका सम्बन्ध है, तथापि निश्चयसे आत्मा कर्मसे बँधा हुआ तथा स्पर्शित नहीं है। द्रव्यसे एकरूप है।

(३) व्यवहारनयसे पर्यायमें अनेक प्रकारके आकार होते हैं, तथापि निश्चयसे आत्मा क्षेत्रसे असंख्यप्रदेशी एकरूप है।

(४) व्यवहारनयसे स्वकालमें अनेक प्रकारकी अर्थपर्यायोंमें हानि–वृद्धि होती है, तथापि निश्चयसे आत्मा स्वकालमें एकरूप है।

(५) व्यवहारनयसे अनेक गुणोंके भेद हैं, परन्तु निश्चयदृष्टिसे आत्मामें वैसे गुणभेद नहीं हैं। आत्मा भावसे एकरूप अभेद है।

ऐसा आत्मा सम्यग्दर्शनका विषय है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर जो ज्ञान प्रगट होता है वह अभेद आत्माको जानता है तथा गुणभेदको भी जानता है। इसप्रकार प्रमाणज्ञान यथार्थ होता है। सर्वज्ञकी दिव्यध्वनिमें जैनशासनका सार आया है। सम्यग्दर्शन पर्याय है, वह पर्याय निमित्त, राग

या पर्यायमेंसे प्रगट नहीं होती, परन्तु आत्मद्रव्यमेंसे प्रगटती है। सम्यग्दर्शनका विषय आत्मद्रव्य है।

एक आत्मामें अनन्तगुण हैं, उनमेंसे एक भी गुण कम माने वह जीव मूढ़ है, मात्र गुणभेदको ही स्वीकार करे वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ अभेद सामान्यकी बात करते हैं। ध्रुवस्वभावमें सर्वगुण अभेद एकाकार हैं, परन्तु यह ज्ञान है, यह आनन्द है ऐसी भेदबुद्धि होने पर उस पर लक्ष जाता है। वैसा चित्तके संगका विकल्प व्यवहारनयका विषय है। उसे अभूतार्थ मानकर अनन्त गुणोंके पिण्डस्वरूप अभेद आत्माको भूतार्थ कहा है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका यह एक ही पंथ है।

श्री समयसार गाथा–१४ में पाँचवाँ उदाहरण पानीका दिया है। वर्तमान अपेक्षासे गर्म पानीमें उष्णता दिखती है वह अग्निके कारण नहीं है। अग्नि और पानीके बीच अन्योन्य अभाव है। वर्तमान दृष्टिसे पानीकी उष्णता भूतार्थ है, किन्तु पानीके मूलस्वभावसे देखो तो वह अभूतार्थ है, क्योंकि पानी स्वभावसे शीतल है।

यहाँ स्फटिकका उदाहरण दिया है। स्फटिकमें हरी–लाल अवस्था दिखाई देती है वह परके कारण नहीं है; वह उसकी पर्यायका धर्म है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि पर्यायको जानता अवश्य है, परन्तु उसका आदर नहीं करता। स्फटिक रंगीन वस्त्रोंके कारण भिन्न–भिन्न रंगरूप दिखाई देता है, परन्तु वह स्वभावसे तो स्वच्छ है।

वैसे ही काम–क्रोधादिका वेदन दिखता है वह कर्मरूपी अग्निके संयोगसे दिखाई देता है। इस बोलमें अनुभवकी बात की है। वर्तमानमें हर्ष–शोकका अनुभव कर्मके लक्षसे दिखाई देता है, परन्तु निश्चयदृष्टिसे चेतनामें हर्ष–शोकका अनुभव नहीं है।

समयसार गाथा ११में कहा है कि व्यवहार अभूतार्थ है और भूतार्थ स्वभावके आश्रयसे धर्मदशा प्रगट होती है।

भूतार्थस्वभावमें द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे और अनुभवसे

एकरूप भाव है। वैसे ज्ञाताकी ओरका एकरूप अनुभव हो वह सम्यग्दर्शन है। समयसार गाथा-१४की टीकामें पाँच बोल कहे हैं। यहाँ अबद्धस्पृष्टताके दो बोल अलग कहकर छह बोल कहे हैं।

परमें पर है, निजचेतनामें पर नहीं है। आत्मा शाश्वत ध्रुवस्वभावी सम्यग्दर्शनका विषय है। इसलिए छह भाव ऊपर-ऊपर रहते हैं, बिलकुल नही हैं—ऐसा नहीं है।

(१-२) कर्मका सम्बन्ध व्यवहारनयसे है, परन्तु वस्तुमें (स्वभावसे) कर्मका सम्बन्ध नहीं है।

(३) क्षेत्रकी व्यंजनपर्याय व्यवहारनयसे है, परन्तु वस्तु असंख्यप्रदेशी एक है।

(४) स्वकालमें विभावकी हानि-वृद्धि व्यवहारनयसे है, परन्तु (स्वभावसे) वस्तु एकरूप है।

(५) गुणभेद व्यवहारसे है, परन्तु वस्तु (स्वभावसे) तो अभेद है।

(६) हर्ष-शोकका अनुभव व्यवहारसे है, परन्तु वस्तुमें (स्वभावमें) हर्ष-शोक प्रविष्ट नहीं हुए हैं।

कोई पर्यायको उड़ाए तो वह मूढ़ है। पर्याय व्यवहारनयका विषय है। पर्यायमें छह भाव रहे हैं; चैतन्यमें-स्वभावमें ऐसे भाव नहीं हैं।

शिष्यने पूछा था कि—अबद्धस्पृष्ट आत्मामें अनुभव कैसे हो? श्री गुरु कहते हैं पाँच भाव अथवा छह भाव नित्य रहें ऐसे नहीं हैं—अभूतार्थ हैं; द्रव्यस्वभाव भूतार्थ है। उसके अवलम्बनसे धर्म होता है। यह छह भाव उत्पाद-व्ययरूप हैं, वह सम्यग्दर्शनका विषय नहीं हैं। सम्यग्दर्शनका विषय चिदानन्द ध्रुव आत्मा है। व्यवहारनयसे छह भाव भूतार्थ हैं। पर्याय मिथ्या नहीं है, पर्याय है, गुणभेद है, विकार है, कर्म है, अनन्त आत्मा है—ऐसा व्यवहार है, परन्तु सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो उसे छह भेदोंकी रुचि छोड़नी पड़ेगी। पानीमें तेल ऊपर तैरता है वैसे ही ध्रुवस्वभावमें उत्पाद-व्ययके भाव प्रविष्ट नहीं हुए हैं। यह

सम्यग्दर्शनकी बात है। पश्चात् अन्तरमें स्थिरता करनेसे मुनिपना आता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य आदि सन्त भावलिंगी मुनि थे। हजारों वार छठवें–सातवें गुणस्थानमें आते थे। भावलिंगी मुनि हों उनके शरीरकी नग्नदशा ही होती है, परन्तु आत्माकी प्रतीति न हो तो वह मिथ्यादृष्टि है। किसी जीवके अंतरमें चौथा गुणस्थान हो और बाहरसे छट्ठे गुणस्थानके व्यवहार परिणाम हों तो नववें ग्रैवेयकमें चला जाता है। वह समझता है कि मेरी भूमिका चौथेकी है। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है उसे मुनिपना नहीं होता। सम्यग्दर्शनके बिना श्रावक या मुनिपना नहीं होता।

इसमें जैनशासनका मर्म भरा है। जैसे पानीके ऊपर काई है, वैसे ही आत्माके ऊपर–ऊपर छह भाव रहे हैं। विकार व्यंजनपर्याय आदि ऊपर–ऊपर हैं, उनका अंतर द्रव्यस्वभावमें प्रवेश नहीं हुआ है।

उत्पाद–व्ययरूप पर्याय प्रगट है और ध्रुवस्वभाव गुप्त है। उसकी भावना कर। पर्यायमें द्रव्यस्वभावके प्रति जोर दे। अनन्त ज्ञान–दर्शनादिकी प्रतीति करके उसकी भावना कर तो केवलज्ञान प्रगट होगा। पुण्य–पापरूप पर्याय ऊपर–ऊपर है, स्वभाव गुप्त है उसे प्रगट करनेकी भावना कर, जिससे वह व्यक्त होकर प्रवाहित हो।

मैं पर्यायसे सिद्धसमान नहीं हूँ परन्तु स्वभावसे सिद्धसमान हूँ। मैं परमात्मा हूँ—ऐसी श्रद्धा करे तो धर्म प्रगट हो।

हे चिदानन्द ! तू आनन्दके अविनाशी रसका सागर है। दया–दानादि एवं काम–क्रोधादि ऊपर–ऊपर तैरते हैं, स्वभावमें नहीं हैं। तुझे हर्ष–शोकका अनुभव क्यों मीठा लगा? दया–दानादि विकार पर रस हैं, नित्य रहनेवाले नहीं हैं, इसलिए उन्हें पर रस कहा है। वह तुझे कैसे अच्छा लगा? विषयका रस क्यों मीठा लगा? पुण्य–पापकी मिठाससे चौरासीके अवतारोंमें भ्रमण कर रहा है। आत्मानुभवके बिना संसार नहीं टूटता। तप करे, उपवास करे, वह सब रागका रस है। जिसके कारण संसारमें भटकना पड़ता है उस व्यवहारको भला जानकर क्यों उसका सेवन करता है? जिसे व्यवहारका पक्ष है अथवा दया–दानादिके भावोंको

परमार्थसे हितकारी मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, वह दुःख प्राप्त करता है। जिसने शुभ-अशुभभावोंको, हर्ष-शोकके भावोंको परमार्थसे भला माना है उसने मिथ्यात्वकी मदिरा पी है, उसे आस्रव अच्छा लगता है, अनास्रवी आत्मा अच्छा नहीं लगता। तू भ्रमसे भूला है, इसलिए यह दृष्टि करके अनुभव कर; —यह एक ही धर्मकी रीति है।

प्रवचन–२८

माघ कृष्णा–३, शनिवार दि० ३-१-५३

आत्मानन्दके अभावसे जीव दुःखी होता है। आत्मा सहज आनन्दस्वरूप है; उसका स्वाद नहीं आनेसे परको अपना मानकर अज्ञानी भटक रहा है।

जैसे एक नगरमें एक मनुष्य रहता है; वहाँ दूसरा कोई नहीं है। संसारमें जीव स्वयं अवतार लेता है और दुःख भोगता है; इसलिए दृष्टान्त देते हैं। उस नगरमें चौरासी लाख घर हैं। उन घरोंको वह मनुष्य सुधारता ही रहता है। एक दिन एक घरको सुधारता है फिर दूसरेको—इसप्रकार दीवारोंको सुधारते–सुधारते सारा जीवन बीत गया। जबसे सुधारता था तभीसे रोग लगा था। अपनी परम चतुराईको भूल गया। उस मनुष्य पर विपत्ति आ पड़ी और बिना प्रयोजनके अकेला सूने घरमें घूमता रहता है—सँभाल करता ही रहता है। स्वयं बड़ा बलवान है, परन्तु अपनेको भूलकर दुःखी हो रहा है। इस मनुष्यका नगर परम बस्तीवाला है और स्वयं वहाँका राजा है। उस राज्यको सँभाले तो सूने घरोंकी सेवा छूट जाए और वहाँका राज्य करे। वैसे ही यह चिदानन्द आत्मा चौरासी लाखके अवतार करता है। शरीरको क्षुधा–तृषा लगती है उसे शांत करना, वस्त्रादि पहिनना इत्यादि कार्योंमें प्रातःकालसे सायंकाल तक शरीरकी सेवा–सँभाल करता है। निगोदसे लेकर अन्तिम ग्रैवेयक तकके जीव शरीरकी सेवा–श्रुसूषाके भाव करते रहते हैं। अनेकोंको तो उसकी सेवासे अवकाश ही नहीं मिलता। अनित्यकी सेवामें नित्य ज्ञानानन्दमय आत्माको देखनेका समय ही नहीं मिलता, उसकी ओर दृष्टि ही नहीं जाती; जिस शरीरमें रहें उसीको सुधारते हैं, उसीकी भावना करते हैं। यहाँ से छूटकर स्वर्गलोकमें जानेकी भावना करते हैं अर्थात् देवगतिके शरीरकी इच्छा

रखते हैं; परन्तु ज्ञानानन्दकी रुचि नहीं करते। एकके बाद एक शरीरको सुधारते हुए चौरासीमें परिभ्रमण करते हैं। यह शरीर जड़ है तथापि उसकी क्रियामें लग जाते हैं। इसप्रकार अनादिकाल बीत गया। ''शरीर मेरा और मैं इसका''—यह कर्मका राग अनादिसे लगा है, अर्थात् शरीर और कर्म मेरे—ऐसी मान्यताका रोग लगा है। मैं आनन्दमूर्ति हूँ—ऐसा अनन्तबल क्षीण हो गया है और जन्म–मरण भोग रहा है। शरीर ही मैं हूँ ऐसा मानता है, परन्तु चैतन्यज्योतिकी प्रतीति नहीं करता।

जैसे बन्दरको एक कंकड़ लगता है तब रोता है, वैसे ही शरीरका एक अंग पृथक् हो जाए तो मनुष्य रोता है। मेरा कान कट गया अथवा नाक टूट गई—ऐसा मानता है। जरा खून निकले वहाँ खून कम होने पर मैं निर्बल हो गया—ऐसा मानता है। मैं इनका और यह मेरे, इसप्रकार जड़की सेवा करके सुख मानता है। शरीर स्वस्थ होगा तो धर्म होगा, परोपकार होगा—ऐसा मानता है। स्वयं निरुपद्रव स्वभावी है परन्तु अपना राज्य भूल गया, अपने चिदानन्दस्वभावको भूल गया है।

श्रीगुरु कहते हैं कि—'चेतना तेरा स्वरूप है, तू स्वयं चेतन है, —ऐसे बोधका श्रवण करे और अपनेको सँभाले तो अविनाशी राज्य करेगा। आत्मामें ज्ञान–दर्शनादि गुणोंकी बस्ती है, परन्तु पुण्य–पापकी बस्ती नहीं है। इसप्रकार स्वयं शक्तिकी प्रतीति करके स्थिर हो तो केवलज्ञान प्रगट हो और तीनलोकका ज्ञाता हो। पश्चात् भव नहीं होता और शरीरमें नहीं रहता। आत्मामें ज्ञान–दर्शनशक्ति है, अंतर्स्वभाव भरा हुआ है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव करे तो सदा शाश्वत सुखका भोक्ता हो।

कैसा है तेरा रूप? आत्मा वस्तु है, उसकी वीतरागी परिणति अनन्त महिमारूप है। अपने परमेश्वरपदमें रमण करनेवाली अपनी परिणति है। पुरुष अर्थात् चिदानन्द भगवान, उसका स्वभाव आनन्द है और प्रकृतिका स्वभाव दुःख है—उन दोनोंका भेदज्ञान कर। पर्यायमें कर्मके संग विकार होता है वह प्रकृतिका स्वभाव है वह तेरा स्वभाव नहीं है।

रागादि तो पुद्गलका नाटक है इसलिए उससे भिन्न हूँ ऐसा विवेक कर। ऐसे भगवान आत्माका आनन्द लेकर सुखी हो।

भेदज्ञान करना वह वृक्ष है और आत्माका अनुभव लेना वह निजानन्दका फल है; उसका स्वाद ले।

जैसे किसी राजा द्वारा किसी दूसरेका किला जीतना कठिन है, वैसे ही परमाणुको अपना कर लेना दुर्लभ है। शरीर, मन, वाणीको अपना बनाना कठिन है। स्त्री–पुत्र तथा पैसा कभी अपने नहीं हुए हैं, तथापि उन सबको रखूँ—ऐसा भाव अज्ञानी करता रहता है, तथापि वे अपने हों ऐसा कभी नहीं हो सकता। एक परमाणुका अथवा दूसरे आत्माका स्वामी वह–वह द्रव्य है। शरीरकी सेवा–सँभाल करते हुए अनन्तकाल गया तथापि शरीर तेरा नहीं हुआ। देवगतिमें जाए अथवा मनुष्यमें, वहाँके पदार्थोंको अपना बनानेका प्रयत्न करता रहा, परन्तु वे अपने नहीं हुए और तेरा जीव उनरूप नहीं हुआ।

किसीसे पूछे कि तेरा कौनसा गाँव है? तो वह कहता है कि ''मेरा गाँव भावनगर है'', परन्तु उससे कभी वह गाँव उसका नहीं होता; वैसे ही शरीर, पैसा किसका?—ऐसा पूछे तो कहता है कि 'वे मेरे हैं', परन्तु जैसे गाँव मेरा है, वह कथनमात्र है, क्योंकि गाँव कभी उसका होता नहीं है; वैसे ही आत्मा शरीरादिका स्वामी कभी नहीं होता।

तेरा पद ज्ञाता है उसे तू जानता नहीं है और जो परपद है उसे लेना चाहता है। स्याल ऊँटके लटकते हुए ओंठको देखकर उसे लेना चाहे तो वह व्यर्थ है; वैसे ही शरीर, स्त्री आदिका संयोग हो तब जीव मानता है उन सबको अपना बना लूँ, परन्तु ऐसा होता नहीं है; स्यालक ऊँटका ओंठ मिले तो जीवको पर वस्तु प्राप्त हो, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

तू भले ही अपने पदको भूल गया हो, परन्तु तेरा पद कठिन नहीं है। शरीरादिको रखना चाहता है, परन्तु परपद कठिन है। निजपद तेरा स्वरूप है वह कठिन नहीं है। भ्रमरूपी पर्दा तूने किया है।

चिदानन्दस्वरूपको चूककर शरीर मेरा राग–द्वेष मेरे–ऐसा मान बैठा है। विशालसमुद्रके सामाने चार हाथकी चादर बाँधी हो तो सारा समुद्र ढँक गया हो ऐसा दिखता है; वैसे ही परवस्तुको अपनी माननेरूप विपरीत मान्यताकी चादरसे चिदानन्द आत्मा ढँक गया है। वह भ्रमणा स्वयं बनाई है; अपनी भूलसे चैतन्यसमुद्रको नहीं देखता। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, शरीर और राग हैं वे अज्ञानतत्त्व हैं, वे प्रकाश करनेवाले नहीं हैं। शरीर और विकारकी ओटमें अपना प्रकाश भासित नहीं होता। तू अपनेको न मान तब भी तेरा रूप ज्योंका त्यों विद्यमान है, कहीं बाहर नहीं गया है।

जैसे नटने बैल या कुत्तेका वेश धारण किया हो, उससे कहीं वह मनुष्य मनुष्यपना छोड़कर बाहर नहीं गया है। पशुका वेश धारण न करे तब भी वह मनुष्य ही है। वैसे ही शरीर, मन, वाणी मेरे नहीं हैं, मैं तो ज्ञानज्योति हूँ—ऐसा सच्चा ज्ञान करे तो आत्मा ज्योंका त्यों है, और वह शरीरका स्वाँग धारण नहीं करता।

एक डिब्बीमें रत्न रखा है। रत्नमें कुछ बिगड़ा नहीं है। ढक्कन हटा दे तो रत्न ज्योंका त्यों है; वैसे ही शरीरमें विज्ञानघन रत्न है। अशरीरी आत्माकी भावना करे तो आत्मरत्न ज्योंका त्यों है। पर्यायमें होनेवाले रागकी बात यहाँ गौण है। नित्यानन्द स्वरूप ज्योंका त्यों है। स्वयं चिदानन्दकी दृष्टि करे और भावकर्म मेरे हैं ऐसी दृष्टि छोड़े तो आत्मा ज्योंका त्यों है। आत्मा कर्म और शरीरके मध्यमें पड़ा है। वह शुभाशुभ भाव करके पर्यायमें अटका होने पर भी स्वभावसे ज्योंका त्यों है, और सिद्धदशा व्यक्त होती है तब शक्ति तो ज्योंकी त्यों है। इन दोनों अवस्थाओंमें स्वरूप तो जैसेका तैसा ही है। ऐसा श्रद्धाभाव ही सुखका मूल है।

केवलज्ञानकी पर्यायको भी मत देख, प्रथम अवस्था शुद्ध नहीं थी और पश्चात् शुद्ध हुई ऐसे भेदको न देख। गुप्त और प्रगट अवस्था–भेद अर्थात् द्रव्य और पर्यायके भेदको न देख। एक समयका विकार होने

पर भी शक्ति ज्योंकी त्यों है, और अवस्था प्रगट हुई तब भी शक्ति ज्योंकी त्यों है। ऐसी श्रद्धा सुखका मूल है। पुण्यभाव सुखका कारण नहीं है। पर्यायमें स्वभाव की श्रद्धा की इसलिए स्वभाव नया हुआ? नहीं, और पुण्य–पापकी रुचि थी तब स्वभाव चला गया? नहीं, दोनों समय ज्ञायकमूर्ति भगवान आत्मा तो ज्योंका त्यों है। प्रमत्त–अप्रमत्तके भेदोंके समय भगवान आत्मा ज्योंका त्यों ही है।—ऐसी श्रद्धा कर। ध्रुवस्वभावकी शक्ति और व्यक्ति ऐसे भेदको न देख। सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है, आत्मा अनाकुल शान्तिका भण्डार है। मेरी पर्याय पूर्णरूपसे प्रगट हो तो वह शक्ति सच्ची, और प्रगट न हो तो वह शक्ति झूठी—यह बात छोड़ दे। अंतर्शक्ति ध्रुवरूप विद्यमान है। पीपरमें चौंसठपुरी चरपराहटकी शक्ति प्रतिसमय भीतर विद्यमान है, वैसे ही ज्ञान एवं आनन्दकी शक्तिवाला स्वभाव सदा ज्योंका त्यों है। ध्रुवशक्ति, सामर्थ्यशक्ति या चिद्शक्ति ज्योंकी त्यों विद्यमान है। ऐसी प्रतीति करना वह सुखका मूल है।

लैंडीपीपर छोटी होने पर भी उसमें पूर्ण चरपराहट प्रगट होनेकी शक्ति है; वैसे ही चिदानन्द आत्मामें पूर्ण शक्ति है। अन्तर्मुख दृष्टि करे तब भी वही शक्ति है और किसीको अंतर्शक्ति भासित न हो तब भी वही शक्ति है। ऐसी प्रतीति करे वह अनुभवका मूल है।

जीवको लैंडीपीपरकी शक्तिमें शंका नहीं होती। स्वयं ऐसे ही लैंडीपीपर खाई हो तब भी उसकी शक्तिमें शंका नहीं पड़ती। किसीको सिद्धपद भासित न हो तथापि अन्तरमें शक्ति विद्यमान है। ''जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता'' वस्तु ज्ञायकमूर्ति है, इसलिए शक्ति एवं पर्यायके बीच भेद न कर—ऐसी श्रद्धा सुखका मूल है।

परन्तु वर्तमान क्षणिक दशासे देखे तो सुख प्राप्त नहीं होगा। जिसकी दृष्टि शुद्ध चिदानन्दके ऊपर नहीं है वह सुख प्राप्त नहीं करेगा। पर्यायमें अशुद्धता है उसकी दृष्टि छोड़, अशुद्ध दृष्टिसे संसार होगा और एक समयके संसारको गौण कर और स्वभावदृष्टि कर तो आनन्द होगा।

कर्मकी ओर झुकावसे सुख नहीं होगा। जैसी दृष्टिसे देखेगा वैसा फल होगा।

दर्पणमें मोरका प्रतिबिम्ब पड़नेसे मोर ही भासित होता है, परन्तु दर्पणकी ओर देखने पर वह दर्पण ही है, उसमें मोर नहीं है; वैसे ही पुण्य-पापको देखे तो पुण्य–पाप ही भासित होंगे; परन्तु चिदानन्द आत्माको देखे तो पुण्य–पाप भासित नहीं होंगे, परन्तु आत्माका ही प्रतिभास होगा।

विकारी पर्यायसे देखे तो आत्मा विकारमय लगेगा और आत्माकी दृष्टिसे देखे तो ज्ञानमय लगेगा। दर्पणको हरे रंगसे देखे तो हरा दिखाई देगा और प्रकाशकी ओरसे देखे तो प्रकाशमय भासित होगा। मोरका प्रतिबिम्ब दर्पणका मूलस्वरूप नहीं है, परन्तु उसका स्वरूप प्रकाशमय अथवा स्वच्छतामय है। वैसे ही पुण्य–पापके अशुद्ध परिणामसे देखे तो आत्मा विकारमय दिखाई देगा, परन्तु द्रव्यदृष्टिसे देखे तो शुद्ध ज्ञानमय दिखाई देता है। जिसकी दृष्टि शुद्ध पदार्थ पर है उसकी मुक्ति है और कर्मदृष्टिसे अवलोके तो संसार है। विकारदृष्टिसे आत्मामें विकार ही भासित होता है, शरीर दृष्टिसे शरीरमय भासता है, परन्तु स्वयं ज्ञानानन्द है, इसप्रकार निजकी ओर देखे तो विकार और शरीररूप भासित न हो; इसलिए दुःखरूप पर दृष्टि न करो क्योंकि दुःखरूप पर दृष्टि संसारका कारण है। उससे आत्माका अनुभव नहीं होगा।

प्रवचन–२९

माघ कृष्णा–४, रविवार दि० ४-१-५३

आत्माकी शान्तिरूप प्रकाशको अनुभव कहते हैं। आत्मामें शान्ति और आनन्द शक्तिरूपसे अनादि–अनन्त भरे पड़े हैं; वैसे आत्माका पुण्य–पाप रहित अनुभव हो उसे धर्म कहते हैं। अकषाय परिणामके प्रकाशको अनुभवप्रकाश कहते हैं।

हे चिदानन्द राम ! यहाँ 'राम' शब्दका उल्लेख आत्मामें रमणताकी अपेक्षा किया है। शरीर, मन, वाणी, पुण्य–पाप नाशवान हैं, वह तुम्हारा स्वरूप नहीं है, तुम तो चिदानन्द अमर हो—ऐसा मानकर अपना अवलोकन करो। तुम्हारी मृत्यु नहीं होती, शरीर और विकारका व्यय होता है।

जैसे कोई चक्री अपने महलमें चौदह रत्न एवं नवनिधियाँ होने पर भी दरिद्र होकर फिरता हो, किन्तु अपनी निधिका अवलोकन करे तो चक्रवर्ती है, वैसे ही आत्मा एक समयमें प्रभुत्वशक्तिसे परिपूर्ण है; वह एक समयके पुण्य पापको न देखकर अपने ज्ञानानन्दस्वभावका अवलोकन करे तो स्वयं परमेश्वर है।

शरीर स्वस्थ हो तो धर्म होता है, पुण्य करते–करते धर्म होगा—ऐसे भिक्षुकपनेके कारण जीव संसारमें भटक रहा है। एक समयमें नित्यानन्द प्रभु पूर्ण है। पुण्य–पापकी रुचि करना वह भिक्षुकपद है; वह उसका पद नहीं है वह तो स्वयं परमेश्वरपदवाला है। मुझे स्त्री–पुत्र मिलें, अधिकार प्राप्त हो—ऐसा भिखारीपन अज्ञानी करता है, क्योंकि उसे परमेश्वरपदकी पहिचान नहीं है।

अपनी भूलको देख भाई ! ज्ञानस्वभावी आत्माको जान तो परमेश्वरपद प्राप्त हो। भगवान चैतन्यसूर्य प्रभु है, उसका विश्वास, ज्ञान और

अनुभव करनेसे परमेश्वर होता है। अवलोकन करना वह क्रिया है। शरीरकी क्रिया जड़ है, पुण्यकी क्रिया वह विकारी क्रिया है। चिदानन्दमूर्ति हूँ, उसकी दृष्टि होनेके पश्चात् जो शुभभाव हो उसे व्यवहार कहा जाता है। अपने स्वभावका अवलोकन करना वह सच्ची धार्मिक क्रिया है।

जो वस्तु हो वह आदि–अन्त रहित होती है। जो वस्तु हो उसका अपना स्वभाव होता है। आत्मामें ज्ञान, आनन्द, स्वच्छत्व, विभुत्व, प्रभुत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्तगुण हैं। ऐसे परमेश्वरपदकी रुचि करके पुण्य–पापकी रुचि छोड़े तो धर्म हो।

जड़की क्रिया जड़के कारण होती है। धर्मीको अपनी योग्यताके कारण शुभरागके कालमें शुभराग आता है, परन्तु वह धर्म नहीं है। शुभरागके अवलम्बनसे धर्म नहीं होता; शुभरागके कालमें स्वअवलोकन–मात्र धार्मिक क्रिया है। आत्मा बाह्यवस्तुओंका ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। रागके कारण परकी पर्याय नहीं होती तथा रागसे धर्म नहीं होता। चिदानन्दपदका अवलोकन करे उतना धर्म है।

साधकको राग होता है, परन्तु मात्र निमित्तका तथा रागका अवलोकन करना वह अधर्म है। अपने स्वभावका अवलोकन नहीं किया इसलिए पाँच इन्द्रियोंके शुभाशुभ विषयोंकी रुचि करके, उनके आश्रित होकर अपना निधान लुटनेसे दरिद्री हुआ। पाँच इन्द्रियाँ जड़ हैं, उनकी सन्मुखता वह राग है। उसके वश होकर नित्यानन्द स्वभावको चूक जाता है और अपने निधानको लुटा देता है। मेरी शक्तिमें से ज्ञान एवं आनन्द व्यक्त होते हैं, रागमेंसे ज्ञान और आनन्द नहीं आते। इसप्रकार स्वभावके अवलोकनसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रगट होते हैं; परन्तु रागका अवलम्बन लेकर अपना निधान लुटा देता है और चौरासी के अवतारोंमें भटकता है; फिर स्वर्गका भव हो या नरकका हो, राजाका हो या रंकका हो—वे सब पुण्य–पापके फल संसारका कारण हैं।

चाहे जो निमित्त भिन्न–भिन्न हों और चाहे जो राग भिन्न–भिन्न हो, तथापि मैं ज्ञाता–द्रष्टा हूँ—ऐसी दृष्टि चूके वह अपना निधान लुटाता है। परकी ओरका भाव विकार है, उसे धर्म मानना वह आत्माके लिए व्यर्थ है–बेकार है। प्रथम विश्वास करना चाहिए। सत्यमें से सत्य आएगा।

संयोग बदलते जाते हैं और पुण्य–पाप भी अनित्य हैं। संयोगोंके आश्रयसे होनेवाला विकारीभाव अनित्य है और शाश्वतस्वभावके आश्रयसे होनेवाली दशा स्वभावके साथ अभेद होती है, इसलिए उस पर्यायको भी शाश्वत कहा है। दया–दानादि भाव विकार हैं, निमित्त बदलते हैं और विकार भी बदलते हैं। चिदानन्द स्वभाव एकरूप है, उसके आश्रयसे प्रगट होनेवाली पर्यायको एक न्यायसे अविनाशी कहा है, क्योंकि वह ध्रुव एकाकार स्वभावके साथ अभेद हुई है।

अज्ञानी जीव भवविपत्ति भरता है, भूलको नहीं मिटाता। स्वयं पुण्य–पापको अपना मानता है; मिथ्याभावके कारण परको अर्थात् विकारको अपना मानता है, जिससे लाभ माने उसे अपना माने बिना नहीं रहता। जड़कर्मने विकार नहीं कराया है; भ्रान्ति, राग–द्वेष वे जीवके परिणाम हैं; उनको अपना मानता है इसलिए विकाररूप भासित होता है परन्तु चिदानन्द नहीं भासता। शुभाशुभभाव, जप, तप, भक्ति वह आत्माका जातिस्वभाव नहीं है। यदि जातिस्वभाव हो तो आत्मासे पृथक् नहीं हो सकता। सिद्धमें शुभाशुभ भाव नहीं हैं, इसलिए वह तेरा भी जातिस्वभाव नहीं है। उसे जाने वह तेरा जातिस्वभाव है।

यह राग हुआ, यह दया भाव हुआ—उसे जाननेवाली चेतना है, वह मात्र जीव है। चेतना मात्र जीवका स्वभाव है, पुण्य–पाप जीवका जातिस्वभाव नहीं है; इसलिए भेदज्ञान करो।

आत्माका ज्ञातास्वभाव एक प्रकारका है, पुण्य–पापके विकार अनेक हैं, क्योंकि अनेक संयोगोंके अवलम्बनसे हुए हैं। आत्माका जानना–देखना एकरूप स्वभावके अवलम्बनसे हुआ है इसलिए वह एक प्रकारका है। उसका अनुभव करना वह धर्म है।

प्रश्न :—यह बात समझमें न आए तबतक क्या करना?

समाधान :—समझमें नहीं आए तब तक समझनेका श्रम करना। स्वभाव क्या, विभाव क्या, किस ओर जानेसे लाभ या हानि होती है उसका विचार करना। विपरीत प्रयत्न करता है तो अब सच्चा प्रयत्न करना। शरीर और विकारकी ओर झुकाव था, उसे बदलकर नित्यानन्दकी ओर झुकना वह तेरे हाथमें है। अपनी अवस्थाका धारक तू स्वयं है, सर्वज्ञदेव या गुरु तेरे परिणामोंको नहीं बदल सकते।

लक्षण–प्रसिद्धिसे लक्ष्य–प्रसिद्धि है। चेतना–लक्षण है उससे आत्मद्रव्य प्रसिद्ध है, क्योंकि चेतना साक्षात् जीव है। राग–द्वेष पर्यायमें होते हैं, वे अशुद्धनयसे जीवके हैं परन्तु शुद्धनयसे जीवके नहीं हैं। शुद्धनयसे जानने–देखनेके परिणाम जीवके हैं, इसलिए जीव शुद्ध चेतनारूप हुआ।

रागादि भावोंमें जीव स्वयं प्रवर्तता है वह कर्मचेतनारूप होकर प्रवर्तता है; उसमें कर्मके उदयके कारण प्रवर्तना पड़ता है—ऐसा नहीं है। स्वयं अपनी पर्यायमें राग–द्वेषरूप परिणमता है। राग–द्वेष परमें नहीं है, तथा परके कारण नहीं हैं।

जीव विकार करे तो कर्मको निमित्त कहा जाता है। विकाररूपी कार्यमें चेतना प्रवर्ते वह अधर्म है और चेतना जीवमें प्रवर्ते वह धर्म है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना जीवमें होते हैं। पुण्य–पापके भाव कर्मचेतना है, और हर्ष–शोकके भाव कर्मफलचेतना है और चेतना एकाकाररूपसे चेते वह ज्ञानचेतना है। वे तीनों अपनी पर्यायमें होते हैं। जीवकी चेतना विकाररूप परिणमती है, जड़के कारण नहीं। चेतनाको स्वभावोन्मुख करे वह धर्म है और विकारोन्मुख करे वह अधर्म है। स्वसत्तामें परकी सत्ता नहीं है और परकी सत्तामें स्वसत्ता नहीं है। चेतना जीवके बिना नहीं है। पुण्य–पाप जीवकी पर्यायमें है, परन्तु वह अशुद्ध जीवका स्वरूप है। गुण–गुणीकी एकता करके स्वभावोन्मुख होना वह धर्म है।

विकारकी ओर प्रवर्तता था वह अधर्म था। अब मैंने शुद्ध चेतनाका स्वरूप जाना। ज्ञाता-द्रष्टापना वह त्रिकाल धर्म है। इसप्रकार स्वभावोन्मुख हो उसे कैसे भाव होते हैं सो कहते हैं। अभीतक दया-दानादिमें तथा हर्ष-शोकमें प्रवर्तता था, अब स्वोन्मुख होता है। पर्यायबुद्धि हटने और स्वभावबुद्धि होनेसे ऐसा मानता है कि मैंने शुद्धचेतनाका स्वरूप जान लिया। मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप हूँ, मैं विकाररूप नहीं हूँ; पर्यायमें विकार है वह त्रैकालिक स्वभावमें नहीं है, इसलिए मैं विकाररहित सिद्धसमान हूँ।

चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो।
ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगम केरौ।
जासु प्रसाद सधे शिवमारग, वेगि मिटै भववास बसेरौ।।

(नाटक समयसार)

यहाँ द्रव्यकी बात कहते हैं। पर्यायमें फेर है उसे ज्ञान जानता है। सिद्धके जैसे गुण हैं वैसे मेरे गुण हैं—ऐसा ज्ञानी जानता है।

कर्मसे बँधना या छूटना वह मेरा स्वरूप नहीं है। चिद्घन ज्ञायकस्वरूपको बंध या मुक्ति नहीं है। बंध-मोक्ष पर्यायमें है, स्वभावमें नहीं है। शुद्ध चेतनास्वरूप बँधा नहीं है तो फिर मोक्ष किसका? मैं आस्रवरूप नहीं हूँ संवर-निर्जरारूप नहीं हूँ; वे सब पर्यायके भेद एक समय पर्यन्तके हैं। पुण्य-पापके विकारको अपना माना था, परन्तु अब मैं जाग गया हूँ। वह उत्पादकी बात की और राग-द्वेष जितना ही आत्माको माना वह निद्रा थी, उसका व्यय हुआ। मैं अपने स्वरूपका एकका ही अनुभव करता हूँ, वही धर्म है। वह धार्मिक क्रिया है।

सम्यग्ज्ञानी विचारता है कि संसार एकसमयका है, परन्तु स्वभावमें वह नहीं है। स्वभावकी रुचि करना वह धर्म है। अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंको छोड़ना कहते हैं। परपदार्थके ग्रहण-त्याग आत्मामें नहीं है।

शुद्ध चिदानन्द हूँ—ऐसी प्रतीति होना वह निश्चय है, वैसे जीवको शुभराग हो वह व्यवहार है।

ग्रन्थकर्ता श्री दीपचन्दजी मुनियोंकी वाणीके अनुसार कहते हैं कि—मैं पुण्य–पापकी वृत्ति पर आरूढ़ था वह मिथ्यादर्शन था; अब शुद्धस्वभावमें आरूढ़ हुआ वह धर्म है। स्वरूपगृहमें अर्थात् ज्ञानानन्द शुद्ध चेतनारूपी घरमें निवास करना वह वास्तु (गृहप्रवेश) है। धर्मीजीवकी दृष्टि शुद्धचेतनाके स्वभाव पर है। पुण्य–पापके परिणामका देखनेवाला–तमाशबीन हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, पर्यायमें होनेवाले पुण्य–पापका भी ज्ञाता हूँ, शरीरादि परकी क्रियाका ज्ञाता हूँ। अब मैं मेरे अपने ज्ञान–दर्शनस्वरूपको जानता–देखता हूँ, ऐसे विचार भी विकल्प हैं। वे विकल्प टूटकर स्वभावमें लीनता होने पर ज्ञानको प्रत्यक्षरसका वेदन करना वह अनुभव है। जो राग है वह ज्ञानका अनुभव नहीं है किन्तु विकारका है। प्रथम ऐसा आत्मा शुद्ध ज्ञायक है ऐसा विचार प्रतीतिरूप साधक है, वह निमित्त है। वह निमित्त कब कहा जाता है? स्वभावका अनुभव करे तो उसे निमित्त कहा जाता है। स्वभावके विचारकी प्रतीति वह साधक है और अनुभव साध्य है। विकल्पसे अनुभव हुआ—ऐसा कहना वह व्यवहार है; निश्चय अपनेमें प्रगट करे तो विकल्पको साधक कहा जाए?

ऐसा साधक–साध्य भेद जाने तो वस्तुकी सिद्धि हो।

प्रवचन–३०

माघ कृष्णा–५, सोमवार दि० ५-१-५३

आत्माके ज्ञानानन्दस्वरूपकी अंतरंग प्रतीति और रमणताको अनुभवप्रकाश कहते हैं। गुणोंका पिण्ड ज्ञायक आत्मा है। ऐसे विचारकी प्रतीति निमित्त है और आत्माका अनुभव वह साध्य अथवा ध्येय है। पुण्य–पाप मैं नहीं हूँ, मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ—ऐसा विचार साधक है। उस विचारको छोड़कर आनन्दका अनुभव करना वह ध्येय है। साधक–साध्य भेदको जाने तो वस्तुकी सिद्धि हो।

साध्य–साधकके उदाहरण देते हैं। अनुभवका ध्येय तो द्रव्य है, परन्तु यहाँ पर्यायमें साध्य उतारते हैं। अनुभव ध्येय है और विचार साधक है। जीव अनुभव करे तो विचार, प्रतीतिको साधन कहा जाता है। यह अनुभवप्रकाश ग्रन्थ है इसलिए अनुभवका साधन कहते हैं—'मैं अखण्डानन्द हूँ'—ऐसे विचारको साधन कहते हैं और अनुभव साध्य है।

उदाहरण देते हैं :—

(१) जब तक साधक है तबतक बाधकपना रहता है। वहाँ पुद्गलकर्मका उदय तो कर्मके कारण है। कर्म उसकी मर्यादानुसार उदयमें आता है। यह केवलज्ञानकी बात नहीं है, परन्तु साधक जीवकी बात है, इसलिए आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहरूपसे रहे हुए कर्मका उदय आता है, तब तक उदयकी ओर झुकावके कारण चित्विकार होता है। आत्मा ज्ञायक है, उसकी प्रतीति तो है परन्तु रागयुक्त दशा है इसलिए किंचित् विकार होनेकी योग्यता है और उसमें कर्मका निमित्त है। वहाँ साधक–साध्य ऐसा भेद जानना। आत्मा अखण्ड वस्तु ज्योंकी त्यों है, उसकी पर्यायमें स्वभावसन्मुख अनुभव होना वह साधक है, परन्तु उस भूमिकामें राग होनेकी योग्यता है अथवा ज्ञानादिकी अपूर्णताकी योग्यता है। बारहवें

गुणस्थानवाला जीव भी साधक है, परन्तु वहाँ राग नहीं है, तथापि ज्ञान अल्प है। पूर्णज्ञान प्रगट नहीं है, इसलिए कर्मका निमित्तपना है, इसलिए चौथेसे बारहवें गुणस्थान तककी बात लेना। ज्ञानका हीन होना वह भी चित्‌विकार है। राग-द्वेष होना वह भी चित्‌विकार है। इसप्रकार दोनोंको चित्‌विकारमें ले लेना। निर्विकल्प आत्माका अनुभव साध्य है, जबकि प्रतीति, विचार साधक हैं। साधकदशामें कर्मका उदय सहज होता है। सर्व कर्म ले लेना। पूर्णदशा नहीं हुई तब तक साध्य-साधकके भेद हैं। मैं अखण्डानन्द हूँ ऐसे विकल्पका व्यय होकर अनुभव हुआ उसमें अनुभवकी उत्पादपर्यायको साध्य कहा है और व्यय पर्यायको साधक कहा है। आत्मा एक समयमें पूर्णानन्द सामर्थ्यस्वरूप है, उसकी अवस्था स्वभावसन्मुख होकर धर्मदशा होती है उस अनुभवको साध्य कहा है, और आत्मा पूर्णानन्द है, शुद्ध चेतनास्वरूप है—ऐसे विचारको साधक कहा है।

यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके अंशोंकी बात चलती है। आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है, ऐसी प्रतीति एवं लीनता करता है तब विचार प्रतीतिको साधन कहा जाता है; कोई विकल्प उसका साधन नहीं होता।

(२) जिसकी दृष्टि पुण्य-पापरूप है उसकी मिथ्यारुचि साधक है और बहिरात्मा साध्य है। वैसे जीवको स्वभावके बाहर रहना अच्छा लगता है। विषयमें सुख, इन्द्रियोंमें और लक्ष्मीमें सुख माने वह विपरीतभाव साधक है, उसे ज्ञानानन्दमें नहीं जाना है, पर्यायकी रुचिमें जाना है, इसलिए उसे बहिरात्मा साध्य है। पुण्य-पापकी रुचिसे बहिरात्मा साध्य है। आत्माकी पर्यायमें भ्रान्ति हो वह साधक है। उसका लक्ष्य बहिरात्मा है। स्वभाव अथवा अन्तरात्मा उसका लक्ष्य नहीं है।

(३) मैं शुद्ध हूँ, विकार अशुद्ध है, शरीरादि जड़ हैं, वैसा सम्यक्‌भाव साधक है और ज्ञानानन्दस्वभाव मेरी जाति है, वैसी जातिको सिद्ध करना वह लक्ष्य है। सम्यक्‌भावका ध्येय क्या है? मैं ज्ञानानन्द हूँ; मेरी चारित्रपरिणति वीतरागता है। ऐसा सम्यक्‌भाव साधक है और वस्तुस्वभावकी जाति सिद्ध करना वह उसका साध्य है।

(४) मैं चिदानन्द हूँ—ऐसी शुद्ध परिणति होना वह साधन है, उस शुद्धपरिणतिसे परमात्मा साध्य है। एकरूप ज्ञायक तत्त्व साध्य है, पुण्य–पापके भावरहित शुद्ध अवस्था हुई वह साधक है; उसका लक्ष्य परम आत्मा है। शुद्ध उपयोगका झुकाव पुण्य–पापके ऊपर नहीं होता, शुद्ध उपयोग पर्याय है और साध्य अथवा ध्येय द्रव्य है।

(५) सच्चे देव–गुरु–शास्त्रकी श्रद्धाका राग, सच्चे शास्त्रोंकी ओर उन्मुखताका भाव और २८ मूलगुणका विकल्प यह साधक है, उस विकल्पका लक्ष निश्चयरत्नत्रय है। देव–गुरु–शास्त्र ऐसा कहते हैं, ऐसे विचारका मंथन होता है तथापि वह विचार तोड़कर, निश्चयरत्नत्रय प्रगट करनेकी दृष्टि है। वस्तु अखण्ड है, उसकी प्रतीति, ज्ञान और रागरहित शान्तिका परिणमन वह व्यवहाररत्नत्रयके परिणामका ध्येय है। राग वास्तवमें साधन नहीं है। व्यवहाररत्नत्रयका लक्ष पुण्यबंध पर नहीं किन्तु शुद्धता पर हो तभी व्यवहारको निमित्त मानकर उपचारसे साधक कहा जाता है। निश्चयरत्नत्रय लक्ष्य है। व्यवहाररत्नत्रय विकारी पर्याय है और निश्चयरत्नत्रय निर्विकारी पर्याय है। द्रव्यस्वभावको पकडूँ, उसका स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट करूँ और वीतरागी दशा प्रगट करूँ। —इसप्रकार साध्य पर लक्ष है, इसलिए व्यवहाररत्नत्रयको निमित्तमात्र साधक कहा है।

(६) मिथ्यादृष्टिको विरति नहीं हो सकती। शरीरकी क्रिया और पुण्यकी क्रियामें धर्म मानता है उसे व्यवहारपरिणति साधक नहीं हो सकती। मैं ज्ञायक हूँ ऐसा सम्यक्श्रद्धावान जीवको अंशतः वीतरागचारित्र हो तो २८ मूलगुण पालनके शुभरागको साधक कहते हैं। वहाँ चारित्रशक्ति मुख्य साध्य है। मिथ्यादृष्टिको चारित्र साध्य नहीं होता।

एक समयका विकार होने पर भी उसे गौण करके मैं शुद्ध हूँ—ऐसा प्रतीतिवानको आगे बढ़नेका पुरुषार्थ है; वहाँ भावलिंगी मुनिदशा प्रगट करे तो उस जीवको २८ मूलगुण पालनकी विरति—व्यवहारपरिणति होना वह साधक है, चारित्र साध्य है। वहाँ श्रद्धा और ज्ञान तो हैं ही परन्तु विशेष चारित्रकी बात है। अभ्यन्तर आनन्दकन्दमें रमते हों वे मुनि

होते हैं। आहार–जल दोषयुक्त लेते हों तो वे निश्चय और व्यवहारसे भी मुनि नहीं हैं। मुनिके लिए विशेष वस्तुएँ बनाए और मुनि वे ग्रहण करे तो वह व्यवहारसे भी मुनि नहीं है। व्यवहारसे शुद्ध नहीं होने पर भी मुनि मानें और मनाएँ वे मिथ्यादृष्टि हैं। एक रजकण मेरा नहीं है, पुण्य–पाप मेरे नहीं हैं, मैं ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टिके उपरान्त मुनिदशा हुई है उसे विकल्प उठे तो एकबार निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं आदि २८ मूलगुण पालनरूप विरति व्यवहार परिणति साधक है और अंतरमें चारित्रशक्तिकी मुख्यता होना वह साध्य है। शास्त्र पढ़कर ज्ञान बढ़ानेकी मुख्यता नहीं है। व्यवहार–परिणतिमें शास्त्र पढ़े, राग कम करे परन्तु उसका मुख्य हेतु चारित्रकी शान्ति प्रगट हो और बढ़े वह है। व्यवहारपरिणतिका लक्ष्य व्यवहार नहीं है, तथा शास्त्रोंका अध्ययन भी नहीं है। लोकमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, हजारों लोग मेरे प्रवचन सुनेंगे—ऐसा ध्येय नहीं है, प्रतिमा या मुनिपना लेलु तो मेरी प्रतिष्ठा बढेगी—ऐसी मान्यता तो बेसमझी की है, वह बात है ही नहीं।

ज्ञान कम–अधिक हो, जगत माने या न माने, उपदेश देना आए या न आए, वह लक्ष्य नहीं है, परन्तु चारित्रकी शान्ति साध्य है वह एक ही लक्ष्य है।

(७) सच्चे देव–सर्वज्ञदेव, उनकी वाणीके अनुसार रचे गए शास्त्र और दिगम्बर सन्त–मुनि, उनके विनय, पूजा, सत्कार, खड़े रहकर आदर करना वह साधक है, उस विकल्पका लक्ष्य उदासीनता है। स्त्री–कुटुम्बके प्रति अशुभभाव होते हैं उसका नाश होकर मन स्थिर होता है। मनकी स्थिरता साध्य है, सच्चे देवादिका बहुमान साधक है। वहाँ विषय–कषायसे उदासीनता होकर मनपरिणतिमें स्थिरता साध्य है, इसलिए अशुभमें नहीं जाने जितना मनमें शुभविकल्प होना वह ध्येय है।

(८) सर्वज्ञदेव, गुरु और शास्त्र क्या कहते हैं उसका विकल्प करना वह शुभोपयोग है। उसकी दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर है, परन्तु अमुक स्थिरता है और विशेष स्थिरता करके मोक्ष प्राप्त करेगा, इसलिए

मोक्ष साध्य है। साधकका अशुभराग मिट गया है और पूर्ण शुद्धता नहीं हुई है, दृष्टिमें शुभ–अशुभका आदर नहीं है, अशुभ छूट गया है, परन्तु शुभविकल्प होता है तब मोक्षको प्राप्त करूँ ऐसा विचार करता है, इसलिए मोक्ष परम्परा साध्य है।

जिसने द्रव्यस्वभावको लक्षमें लिया है, अशुभका अभाव हुआ है और शुभमें ऐसा विचार वर्तता है वह शुभका अभाव करके मोक्ष प्राप्त करेगा। इसलिए शुभोपयोगको मोक्षका परम्परा साधन कहा है।

(९) अंतरात्मारूप जीवद्रव्य साधक है, वहाँ अभेद स्वयं ही पूर्णरूप हो वह ध्येय है। यहाँ पर्यायको द्रव्यके साथ अभेद कहकर बात ली है। आत्माके श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक साधक जीवकी बात है। पूर्व परिणामयुक्त द्रव्य वह कारण है और उत्तर परिणामयुक्त द्रव्य वह कार्य है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप जीवद्रव्य साधक है और सम्पूर्ण आत्मा पूर्ण एकाकार हो जाना वह ध्येय है। अंतरात्मारूप जीवद्रव्यका ध्येय पूर्णरूपसे परिणमित होनेका है। चक्रवर्ती होऊँ, तीर्थंकर होऊँ, देव होऊँ यह नहीं है। अंतरात्माको विकल्प आए परन्तु वह विकल्प ध्येय नहीं है। मैं चिदानन्द हूँ, मन–वाणी–शरीर, पुण्य–पाप मैं नहीं हूँ। ऐसी प्रतीति हो गई जीवको पूर्ण परमात्मारूप होना वह साध्य है। पाँच महाव्रतके परिणाम करनेका ध्येय नहीं है। व्रतके परिणाम होते हैं, परन्तु वह अंतरात्माका ध्येय नहीं है। साधकको शुभ परिणाम उस–उस काल आते हैं, परन्तु उसका ध्येय स्वयं परमात्मा हो जाए उस पर है।

(१०) आत्माके ज्ञान, दर्शनादि गुण हैं, वैसे ही वीतरागी अंश प्रगट होते हैं वह मोक्षमार्ग साधक है। नववें बोलमें पर्यायसहित द्रव्य लिया है, यहाँ गुणसे बात ली है। वह मोक्षमार्ग साधक है और मोक्ष साध्य है। ध्येय तो आत्मा है उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र होते हैं। यहाँ उदाहरण दिए हैं। मोक्षमार्गका व्यय होकर मोक्ष होता है इसलिए उस व्ययको साधक और मोक्षको साध्य कहा है। उत्पादका ध्येय तो कारणपरमात्मा है, वह मूलवस्तु है; परन्तु किस पर्यायका व्यय

होकर कौनसी पर्याय प्रगट होती है उसका ज्ञान करवाते हैं।

जहाँ ज्ञान–दर्शन–चारित्रके अंश प्रगट हुए वह मोक्षमार्ग साधक है और वह पर्याय हटकर ज्ञानादिकी पूर्णदशा प्रगट की वह उसका फल है।

(११) चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थानमें ज्ञान–चारित्र जघन्य हैं। स्वभावसन्मुख हुआ ज्ञानादिभाव साधक है–वह पर्याय हटकर अभेद स्वयं ही ज्ञानादि गुणका उत्कृष्ट भाव साध्य है। जघन्यभाव हटकर उत्कृष्टभाव होगा ऐसा कहते हैं। यह अनुभवकी बात है। यह पर्याय हटकर यह पर्याय प्रगट होगी ऐसा जाने तो अनुभव हो। यह सुखी होनेकी बात चलती है। अनादि कालसे अपनी चैतन्यनिधिको नहीं सँभालता और बाह्यमें ध्यान रखता है। ज्ञानादिकी हीन पर्याय हटकर उत्कृष्ट पर्याय होगी और केवलज्ञानरूपी ज्योति प्रगट होगी, इसलिए जघन्य ज्ञान साधक और ज्ञानका उत्कृष्ट भाव साध्य है।

(१२) ज्ञान–दर्शनादिकी अल्प निश्चयपरिणति साधक है और वह हटकर पूर्ण अवस्था होगी वह साध्य है। वास्तवमें साध्य तो आत्मा है; द्रव्य-गुण तो ज्योंके त्यों हैं, परन्तु पर्यायके भेद बतलाते हैं। अल्प परिणति साधक और पूर्ण परिणति साध्य है।

(१३) आत्माकी प्रतीति साधक है और सम्यग्ज्ञान–दर्शन–चारित्र साध्य हैं। सम्यक्त्वके फलमें राज्यपद या देवपद नहीं आता, उसके फलमें तीनोंकी एकतारूप फल आता है। पुण्यका फलना वह सम्यक्त्वका फल नहीं है। सम्यक्त्वी रागका ज्ञान करता है, परन्तु राग ध्येय नहीं है, निर्मलताकी वृद्धि ध्येय है।

प्रवचन–३१

माघ कृष्णा–६, मंगलवार, दि० ६-१-५३

आत्माकी प्रतीति, ज्ञान एवं रमणतारूपी धर्मको अनुभवप्रकाश कहते हैं। जो कारण यहाँ बतलाते हैं उनका यथार्थ ज्ञान बिना अनुभवके नहीं होता।

(१४) आत्मा शुद्ध चिदानन्द है; उसकी सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप दशा होना वह गुणमोक्ष है। आत्माके अनन्त गुणोंकी निर्मलता होकर, पश्चात् कर्मोंका नाश होकर द्रव्यमोक्ष होता है अर्थात् सिद्धदशा होती है। इसलिए गुणमोक्ष साधक और द्रव्यमोक्ष साध्य है।

(१५) आत्मामें इतना तीव्र पुरुषार्थ करे कि उसी भवमें केवलज्ञान प्रगट करे उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। उसमें कर्मका क्षय होता है। वैसी श्रेणीवालेको उसी भवमें साक्षात् मोक्ष प्राप्त होता है। उपशमश्रेणीवालेको भव शेष रहते हैं। आत्मामें क्षायिकश्रद्धा प्रगट करके उग्र पुरुषार्थ करे उसको केवलज्ञान होता ही है। इसलिए क्षपकश्रेणी साधक और तद्भवमोक्ष साध्य है।

(१६) द्रव्यसे नग्न दिगम्बर दशा और भावसे स्वरूपकी प्राप्तिका लाभ अन्तरमें तीन कषायें हटकर अकषाय दशा होना वैसा साक्षात् द्वैत व्यवहार साधक है।। उससे साक्षात् मोक्ष होता है। शरीरकी नग्नदशाके बिना मोक्ष नहीं होता और रागके समय पंचमहाव्रतके परिणाम हों और उस समय अकषाय परिणतिका लाभ होता है। कोई कहे कि शरीरकी नग्नदशा हो और अन्तरपरिणाम मिथ्यात्वके हों और मोक्ष हो जाए, तो ऐसा नहीं होता। तथा परिणाम मुनिके हों और बाह्यसे वस्त्रसहितपना हो ऐसा नहीं होता। किसी भी लिंगसे केवलज्ञान हो जाए ऐसा नहीं हो

सकता। —इसप्रकार अंतर वीतरागता और बाह्य नग्नता, पंच महाव्रतादि हों उसकी मुक्ति होती है।

(१७) जहाँ चित्तका संग सर्वथा छूट जाए उसे स्वभावकी पूर्णता प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। मनके संगके विलयसे परमात्मा साध्य है। अन्तर्जल्प–विकल्पका छूट जाना वह साधकदशा है और परमात्मदशा साध्य है।

(१८) जब तक जीवमें विकार होता है तब तक पुद्‌गलकर्म निमित्त हैं और वे कर्म खिरते हैं, तब जीवमें विकारकी योग्यता नहीं होती। कर्मका निमित्त नहीं है, तब जीवमें विकार होनेकी योग्यतारूप नैमित्तिक दशा नहीं होती। ऐसा होनेसे कर्मोंका खिरना वह साधक और विकारका नाश होना वह साध्य है।

(१९) एक वस्त्रका ताना भी रखनेका भाव है तब तक मुनिपनेका भाव नहीं आ सकता; मुनिपना आए और वस्त्र रखनेका भाव आए ऐसा नहीं हो सकता। मोरपिच्छ, कमण्डल लेनेका भाव उठता है वह भी राग है। जितनी वृत्ति उठती है उतना ममताभाव है; वहाँ राग है ऐसा सिद्ध होता है। जिसको बिलकुल राग नहीं है उसे बाह्य परिग्रहका निमित्त रहे ऐसा नहीं होता। एक परमाणु लेनेकी वृत्ति उठे अथवा आहार लेनेकी वृत्ति उठे वहाँ ममत्व रहा है। केवलीको वीतरागता है इसलिए उन्हें आहार लेनेकी वृत्ति नहीं होती; इसलिए परिग्रह साधक है और ममत्वभाव साध्य है।

(२०) आत्माकी और तत्त्वोंकी विपरीत दृष्टि वह साधक है, राग वह साध्य है। राग वह राग है, स्वभाव वह स्वभाव है, निमित्त वह निमित्त है। —इसप्रकार स्वतंत्र तत्त्वोंकी रुचि नहीं करता और पुण्यसे धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसका फल संसारमें परिभ्रमण है।

(२१) जहाँ सम्यक् दृष्टि होना साधक है वहाँ मोक्षपद साध्य है। विपरीत अभिनिवेश रहित सच्चे तत्त्वोंकी प्रतीति होना वह साधक है और उसका फल मोक्ष है। दृष्टिमें ध्येय तो द्रव्य है परन्तु यहाँ पर्यायमें कारण-कार्य बतलाते हैं।

(२२) जहाँ काललब्धि साधक है वहाँ द्रव्यका वैसा ही भाव होना वह साध्य है। जहाँ वर्तमान पर्यायका पुरुषार्थ साधक है वहाँ दर्शन–ज्ञानादि गुणोंका वैसा ही भाव होना वह साध्य है।

अकेली काल अनुसारी दृष्टि सच्ची नहीं हो सकती। धर्मीकी दृष्टि कालके ऊपर नहीं है। काललब्धिसे बात कही है वह बात निमित्तसे कही है। समयके काल पर जिसकी दृष्टि है उसकी निमित्त पर दृष्टि है, परन्तु मोक्षमार्गी जीवकी दृष्टि द्रव्य पर है। जिसकाल जो कुछ होना है वह होगा ऐसा माननेवालेकी दृष्टि द्रव्य पर है। काललब्धिका निर्णय करनेवाला विकल्पका, रागका या पर्यायका अनुसरण नहीं करता, परन्तु स्वभावको अनुसरता है।

कालके अनुसार मुक्ति होगी ऐसा माननेवालेकी सिद्धि कब? उसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर हो तो द्रव्यका वैसा ही भाव होना साध्य है। वह कब साध्य होगा? काल पर और पर्याय पर दृष्टि जाती है? यदि काल और परद्रव्य पर दृष्टि कहो तो काल अथवा पर द्रव्यके अनुसार मोक्ष नहीं है। तथा कालको स्वपर्याय कहो तो अपनी पर्यायके अनुसरणसे भी मोक्ष नहीं है। अपनी पर्याय निमित्त, राग या दूसरी पर्यायका अनुसरण नहीं करती किन्तु स्वभावको अनुसरती है। मोक्षमार्गीका ध्यान कहाँ है? काल पर है? नहीं, पर्यायके ऊपर है? नहीं; मात्र द्रव्यके ऊपर लक्ष है। इसप्रकार द्रव्य पर लक्ष होनेसे द्रव्यका वैसा ही भाव होना साध्य है। दर्शन–ज्ञान–चारित्रका द्रव्यकी ओर जाना वह उसका फल है। मात्र कालकी ओर चलना वह उसका फल नहीं है। किसकी काललब्धि? कालकी प्राप्ति अर्थात् क्या? परद्रव्यकी प्राप्ति? विकल्पकी प्राप्ति? नहीं। काललब्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी प्राप्ति। वह कब होगी? स्वभावकी ओर उन्मुख हो तब हो सकती है।

शास्त्रमें तीन प्रकारसे काललब्धि कही है।

(१) **काललब्धि** :—कर्मसहित आत्माको—भव्यजीवको

अर्धपुद्गलपरावर्तन काल जितना संसार शेष रहे, तब वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है। —वह प्रथम काललब्धि।

(२) **कर्मलब्धि** :—जिस विशुद्ध परिणामके वश कर्मका बंध अंत:क्रोडाक्रोडी सागरकी स्थितिका पड़े तथा सत्तामें रहे हुए कर्म कर्मबन्धकी स्थिति संख्यात हजार सागरसे कम रह जाए, तब जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व ग्रहणके योग्य होता है। —वह दूसरी काललब्धि है।

(३) **भवलब्धि** :—जो भव्य जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय हो, पर्याप्त दशा सहित हो, सबसे विशुद्ध परिणामी हो वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है—वह तीसरी भवकी अपेक्षासे काललब्धि है।

यह तीनों सर्वज्ञकी देखी बात है। वह अपने आत्माकी बात है। अपने लिए विचार करे तब पर्याय स्वोन्मुख होती है, परन्तु अर्धपुद्गलपरावर्तनकालकी ओर या कर्मकी ओर नहीं देखता। उसे तो मात्र ज्ञान कराया है। स्वोन्मुख होता है उसे अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल नहीं होता, परन्तु अन्य कोई वैसे जीव हों तो उसका ज्ञान कराया है।

जो जीव स्वोन्मुख होता है उसे अर्धपुद्गलपरावर्तन कालकी स्थिति नहीं रहती, वैसे जीवको कर्मकी स्थिति लम्बी नहीं होती, तथा बहुत भव नहीं होते।

मैंने स्वभावका साधन करके अपने स्वरूपको साध्य किया है इसलिए मेरी काललब्धि पक गई है। ज्ञाताद्रष्टा हूँ—ऐसे स्वभावका साधन किया, तब काललब्धि निमित्त कही जाती है। अपने ज्ञाताद्रष्टा स्वभावके आश्रयसे धर्म होता है। किसी निमित्तको साधन नहीं कहा। कर्मकी स्थिति कम हुई है अथवा अर्धपुद्गलके भीतर है इसलिए स्वरूपको साध्य किया है—ऐसा नहीं कहा। हमें कर्मों पर नहीं, मात्र स्वभावकी ओर देखना है। कर्मोंकी स्थिति घटे आदि निमित्तोंका ज्ञान सच्चा कब होता है? स्वरूपसाधनका ज्ञान करे तब अंतरमें धर्मरूपी

नैमित्तिक दशा हुई, तब काललब्धि निमित्त कही जाती है। काललब्धिका ज्ञान कराया, परन्तु रागसे या कालसे स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती।

यह साध्य–साधक भाव जाननेसे अंतर्परिणति सहज साध्य होती है। अब उसका विस्तार करते हैं।

(१) मैं मनुष्य हूँ—ऐसा मानना वह मिथ्याभाव है। वहाँ बहिरात्मपना सिद्ध होता है। मैं देव हूँ और मैं नरक हूँ, मैं पशु हूँ, यह शरीर मेरा है, शरीरकी क्रियासे लाभ होगा, नमस्कारके जापसे मुझे लाभ होगा—ऐसा मानना वह मिथ्याभाव है, उसका फल बहिरात्मपना है। पुण्य–पापरूप विकारीभावको अपना मानना वह मिथ्याभाव है। ज्ञायकस्वरूपसे जो बाह्यभाव है उसमें तन्मय होना वह मिथ्याभाव है। दया, दान, काम, क्रोधादिके रागभावसे रँगकर शरीर, स्त्री–पुत्र तथा देव–गुरु–शास्त्रके कारण लाभ मानना वह मिथ्याभाव है।

यह अगृहीत मिथ्यात्वकी बात कही। अगृहीत मिथ्यात्वको गृहीत मिथ्यात्व साधता है। कैसे साधता है वह कहते हैं।

अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन है, अयथार्थज्ञान मिथ्याज्ञान है और अयथार्थ आचरण वह मिथ्या आचरण है।

यह देव–देवी मुझे तारनेमें निमित्त हैं—ऐसा माने वह गृहीत मिथ्यात्व है। सर्वज्ञको क्षुधा, तृषा, रोग है—ऐसा मानना वह गृहीत मिथ्यात्व है। कोई कहे कि—पुत्रके लिए भक्ति करे और देव–देवीको माने तो? वह सब पाप है। यहाँ तो कहते हैं कि सर्वज्ञको क्षुधावान मानकर देवरूपमें स्वीकार करे उसे अगृहीतमिथ्यात्व तो है ही परन्तु गृहीतमिथ्यात्व भी है। वैसा मिथ्याभाव बहिरात्मपना बतलाता है, उसे अंतर्दृष्टि नहीं हुई है, उसे धर्म नहीं होता।

तथा जो वस्त्र–पात्र रखते हैं उनको गुरु मानना वह मिथ्यात्व है। तथा मुनि नाम धारण करके उसकी भूमिकानुसार कषाय छोड़े नहीं हैं तथा उद्देशी-अधःकर्मी आहारादि ले तो वह भी विषयारूढ़ है। मुनिपना पालन

नहीं कर सके तो जैनदर्शनमें दण्ड नहीं है, उसे निचली भूमिकामें रहना। परन्तु मुनि होकर दियाबत्ती रखे, घड़ी रखे, साथ तम्बू आदि रक्षण रखे, अपने लिए बनाया गया आहार ले तो वह विषयारूढ़पना है। वैसे मुनि सच्चे नहीं हैं; उनको गुरुके रूपमें स्वीकारे वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा रचे गए चारों अनुयोगमय शास्त्र जिनवाणी है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथने दिव्यध्वनि द्वारा कहे गए शास्त्र–षट्खण्डागम, समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंके सिवा अन्य शास्त्र कल्पित शास्त्र हैं; उनको मानना, मनाना और उनमें सच्ची बात है ऐसा मानना और मनाना वह गृहीत मिथ्यात्व है, और वे अगृहीत मिथ्यात्वका पोषण करते हैं।

मुनिको आहार देनेसे संसारपरित (अंतवाला–अल्प) होता है ऐसा माने, व्यवहारसे निश्चय माने वह मिथ्यात्व है। उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं; जिसके कारण जीव चारगतिमें भ्रमण करता है।

विपरीत मान्यता बहिरात्माको सिद्ध करती है। ऐसे मिथ्यात्व भावका सेवन करते हैं वे संसारमें भटकनेकी नींव पक्की करते हैं। उनको चारगतिमें भ्रमण करनेकी कुदशा बैठी है, उन्होंने परिभ्रमणका निश्चय कर लिया है।

यथार्थ स्वरूपकी प्ररूपणा करें और अनेकान्तस्वरूप बतलाए वे सत् शास्त्र हैं। निमित्त निमित्तसे है और निमित्त से उपादान नहीं है—ऐसा यथार्थ बतलाते हैं। यह पुस्तक गृहस्थ द्वारा लिखी गई है—ऐसा कहकर दुर्लक्ष करने जैसा नहीं है। मुनिके सम्यग्दर्शन–ज्ञानमें और श्रावकके सम्यग्दर्शन–ज्ञानमें फेर नहीं है। चारित्रमें फेर है। इस ग्रन्थमें यथार्थ वस्तुका निरूपण किया है।

(२) ''सम्यग्भाव साधक है और वस्तुस्वभाव जाति सिद्ध होना साध्य है।'' सच्चा भाव होना वह साधक है। यथार्थभाव अर्थात् राग वह राग है, स्वभाव वह स्वभाव है—ऐसा सच्चा भाव साधक है। वह अनन्त गुणोंको सिद्ध करता है। अपने सर्व गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, स्वच्छत्व आदि अपने स्वरूपको धारण करते हैं। पूर्णदशामें भेद नहीं है।

जहाँ भेद पड़े वहाँ पूर्णदशा नहीं होती। कैसा है भाव? ज्ञानगुण अभेद एकाकार हुआ है। इसप्रकार सम्यक्‌भाव केवलज्ञानको सिद्ध करता है। केवलज्ञानमें भेद नहीं है।

हमारा भाव सच्चा है, परन्तु केवलज्ञानकी हमें खबर नहीं पड़ती,—ऐसा कोई कहे अथवा क्रमबद्धपर्यायका निर्णय होने पर पुरूषार्थ कुछ नहीं रहता—इत्यादि कहे तो उसका भाव सच्चा नहीं है। ज्ञानगुणकी पर्याय गुणके साथ अभेद होने पर केवलज्ञानरूप होती है, वहाँ भेद नहीं है तथा आवरण नहीं है। आत्मा स्वभाववान है और ज्ञान उसका स्वभाव है। सम्यक् भाव अंशतः शुद्धभाव है, उसकी जाति और केवलज्ञानकी जाति एक है; इसलिए वह पर्याय पूर्ण हो तब किसीको न जाने अथवा अपूर्ण जाने ऐसा नहीं हो सकता। उसे कर्म निमित्तरूपसे नहीं रहता। इसप्रकार स्वभावजाति सिद्ध की है।

श्रद्धा द्वारा परमावगाढ सम्यक्त्वका निर्णय करना। सम्यक्‌भाव द्वारा ऐसा निर्णय करे कि वस्तुके जातिस्वभाव अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि पूर्ण होते हैं। पूर्णभाव प्रगट होनेके पश्चात् केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमशः उपयोगरूप हों ऐसा नहीं हो सकता। जो जीव केवलज्ञान और केवलदर्शनका क्रमशः उपयोग मानता है उसे सम्यक्‌भाव प्रगट नहीं हुआ है।

—इसप्रकार सम्यक्‌भाव साधक होकर आवरणरहित शुद्ध सम्यग्रूप यथावत् सर्व गुणोंको पूर्णरूपसे साधता है।

प्रवचन–३२

माघ कृष्णा–७, बुधवार, दि० ७-१-५३

साध्य–साधकको बात चलती है। सम्यक्‌भाव साधक है और वस्तुका जातिस्वभाव सिद्ध होना साध्य है। आत्माका द्रव्य–गुण और पर्यायकी सम्यक् प्रकारसे शुद्धि होना वह साधक है और ऐसे ही द्रव्य–गुण–पर्याय हों ऐसी वस्तुकी जाति सिद्ध होना वह उसका परिणाम अथवा फल है।

(२) सम्यक् भाव साधक है और वस्तुस्वभाव जाति सिद्ध होना साध्य है।

(अ) प्रथम गुणकी व्याख्या करते हैं। सर्व गुण असहाय स्वतंत्र हैं, ऐसा सिद्ध करते हैं। किसीके कारण कोई गुण नहीं है, प्रत्येक गुण स्वयंसिद्ध है। सम्यक्‌भाव उसे कहते हैं जो सर्व गुणोंको सिद्ध करे। चारित्र चारित्रके कारण है, श्रद्धा श्रद्धाके कारण है—ऐसा निर्णय करना चाहिए। ज्ञानपूर्ण दशाको प्राप्त हो ऐसा उसका गुण है। गुणको आवरण नहीं होता और वह अभेदरूप पूर्ण प्रगट हो वहाँ आवरण नहीं होता। ज्ञानगुणमें हीन परिणमन होता है वह उसका स्वरूप नहीं है। एक समयमें पूर्णज्ञान प्रगट हो ऐसा मेरा गुण है, ऐसा निर्णय करना वह सम्यक्‌भाव है। जैसे गुण हैं वैसी उनकी यथार्थ जातिका निर्णय करे तो आत्माका अनुभव हो। ज्ञानगुणकी शक्ति ऐसी है कि अभेद रहकर स्व–पर सबको जाने। यह एक गुणका न्याय दिया।

श्रद्धा गुणका ऐसा निर्णय करना चाहिए कि श्रद्धामें आवरण नहीं होता तथा विपरीतता नहीं होना चाहिए—ऐसा श्रद्धागुण है। इसप्रकार सर्वगुण निश्चित् करना चाहिए। चारित्रगुणमें स्वरूपकी पूर्ण रमणता हो, पर रमणताका एक अंश भी न रहे और आवरण भी न रहे—ऐसा चारित्रगुण

है। ऐसे अनन्तगुण द्रव्यके साथ अभेद हों और आवरण नहीं रहे ऐसी प्रत्येक गुणकी शक्ति है। वैसा सम्यक्भाव साधक हुआ और गुणमें वैसा भाव होना वह उसका फल है। यहाँ गुणकी शक्तिकी बात चलती है। आत्मामें स्थिरता करके आनन्द होना वह अनुभव है।

गुणोंको आवरण नहीं है। तथा उनमें न्यूनता न रहे ऐसी प्रत्येक गुणकी शक्ति है। अस्तित्व, वस्तुत्व, कर्ता, कर्म, करण आदि गुणोंका सामर्थ्य ऐसा है कि उसे आवरण न रहे और अपूर्णता न रहे, स्वयं अपनेसे निर्मलरूप हो, पूर्ण हो—ऐसा निर्णय करे तो गुणकी जातिका निर्णय किया कहा जाए। ऐसी शक्ति प्रत्येक गुणकी है। सम्यक् भाव साधक है और वस्तुकी जाति सिद्ध होना साध्य है। आत्मा नामका पदार्थ है, उसमें ज्ञानकी पर्याय द्वारा ऐसा निर्णय करे कि किसी पुण्यकी क्रियासे गुण परिणमित नहीं होगा। सम्यक्भाव उसे कहते हैं कि जो प्रत्येकगुणका सम्यक्जातिरूप निर्णय करे तथा वह गुण स्वयं पूर्णरूपसे परिणमित होने योग्य है, किसी रागके कारण अथवा निमित्तके कारण नहीं। ऐसा सम्यक्भाव साधक है। प्रत्येक गुण निर्विकल्प है अर्थात् द्रव्यके साथ अभेद होकर परिणमे ऐसा है। कर्मका आवरण हटे इसलिए गुण पूर्णरूपसे परिणमता है ऐसा नहीं है, परन्तु अपने कारण पूर्णरूपसे परिणमता है। ऐसे गुणकी जातिका निर्णय करना वह सम्यक्भाव है और गुणकी जाति प्रगट होना वह साध्य है। मेरा ज्ञानगुण अभेदरूपसे परिणमित होने और आवरणरहित परिणमित होनेकी शक्तिवाला है। मेरा चारित्रगुण त्रिकाल है, वह अभेदरूपसे परिणमित हो ऐसी शक्तिवाला है। स्थिरतामें एक अंश कम न रहे तथा आवरण भी न रहे ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसी चारित्र गुणकी जाति है। जैसे गुण हैं वैसे समझना चाहिए। द्रव्यकी जाति द्रव्यमें, गुणकी जाति गुणमें और पर्यायकी जाति पर्यायमें ऐसा निर्णय करना चाहिए। आत्माके आनन्दगुणकी जाति ऐसी है कि वह स्वयं अभेद होकर पूर्णानन्द होकर रहे; आनन्दमें अपूर्णता रहे वह आनन्दगुणकी जाति नहीं है। कर्ता नामका गुण अनादि–अनन्त है, वह कर्तारूप होकर पूर्ण होगा। निमित्तके कर्तासे या विकल्पके कर्तासे

वह पूर्ण होगा ऐसा है ही नहीं। करण नामका गुण भी ऐसा ही है। निमित्त साधन नहीं, राग साधन नहीं। करण नामका गुण है वह पूर्ण प्रगटता है, भेद न रहे, आवरण न रहे, विकल्प न रहे ऐसी गुणकी जाति मुझमें है। ऐसा सम्यक्भाव सिद्ध करता है। एक-एक स्वभाव ऐसा है कि वह निर्विकल्परूपसे पूर्ण प्रगट होता है। उसे दूसरे गुणकी, पर्यायकी या रागकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु प्रत्येक गुण स्वतंत्र है। चतुर्थ गुणस्थानवाला धर्मी जीव सम्यक्भाव द्वारा पर्यायमें गुणकी जाति निश्चित करता है।

एक द्रव्यमें अनन्तगुण हैं, उनमें आवरण नहीं रहेगा, कर्मका निमित्त नहीं रहेगा, अपूर्णता नहीं रहेगी, परन्तु पूर्णरूप प्रगट होंगे, —ऐसा सम्यक्भाव निर्णय करता है। अस्तित्व, वस्तुत्व, स्वच्छत्व आदि अनन्तगुण अनादि अनन्त हैं, वे मेरे साथ अभेद होकर रहेंगे। प्रत्येक गुण पूर्ण होकर रहेगा; उसे निमित्तकी तो आवश्यकता नहीं है, परन्तु एक गुणको दूसरे गुणकी आवश्यकता नहीं है। एक-एक गुणकी जाति सिद्ध करते हैं। सर्व गुण सम्यक्रूप होते हैं, यथावत् होते हैं और निश्चयभावरूप होते हैं, अपूर्ण नहीं रहते, आवरण नहीं रहता, अन्य गुणकी और पर्यायकी अपेक्षा नहीं रखता। यहाँ निर्विकल्पका अर्थ यह है कि गुण प्रगट होकर आत्माके साथ अभेद रहते हैं। इसप्रकार सर्वगुण समझना। मेरे गुणोंकी ऐसी ही जाति होती है। एक गुणको दूसरे गुणसे पृथक् समझना। ऐसा सम्यक् भाव सिद्ध करता है और गुणकी जाति सिद्ध करना वह उसका फल है।

(ब) गुणोंका निर्णय किया अब द्रव्यको सिद्ध करते हैं। मेरा द्रव्य अनन्त गुणोंका पिण्ड है, द्रव्य शुद्ध ही है, मेरा स्वरूप सिद्धसमान है। पर्यायमें विकार है वह मेरा स्वरूप नहीं है। द्रव्य अनन्त गुणोंका पिण्ड अकेला निर्मलानन्द है। असंख्य प्रदेशमें रहे हुए गुणोंमें लक्षणभेद है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। जहाँ ज्ञान है वहाँ दर्शन है। —इसप्रकार प्रदेशसे अभेदता है।

जगतमें अनन्त आत्मा हैं। आत्मामें ऐसे अनन्त गुण हैं। एक गुणको दूसरे गुणकी सहाय नहीं है, तथापि आत्मा अखण्ड अभेद है। जीवने अपना परमेश्वरपद सम्यक्भाव द्वारा निश्चित नहीं किया, इसलिए यहाँ बतलाते हैं कि सम्यक्भाव साधक है और अपने द्रव्यस्वभावकी जाति साध्य है। विकारी और अविकारीपना पर्यायमें है, द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध है, इसप्रकार द्रव्यकी जातिका निर्णय करना। अनन्त जीवोंसे और अनन्त परमाणुओंसे मेरा आत्मद्रव्य जातिरूपसे भिन्न है। मेरा द्रव्य शुद्धस्वभाववान है और अनादि–अनन्त एकरूप है—ऐसा स्वभावसे निर्णय करना। अनन्त गुणोंमें से एक गुण स्वीकार न करे अथवा द्रव्यकी अभेदता स्वीकार न करे तो वह साधक नहीं हो सकेगा। आत्माके तीन स्वभाव हैं। (१) गुणस्वभाव, (२) द्रव्यस्वभाव, (३) पर्यायस्वभाव। इनमें कुछ भी न्यूनाधिकता हो ऐसा नहीं हो सकता। इसप्रकार सम्यक्भाव साधक है और द्रव्यका जातिस्वभाव सिद्ध होना वह साध्य है।

(क) अब पर्यायकी जाति सिद्ध करते हैं। पर्याय एक समयकी है, आत्मा नित्य द्रव्यरूप रहकर वर्तमानमें अवस्थारूप होता है। जो कुछ परिणमनस्वभाव है वैसी पर्याय उसके कारण परिणमती है। कोई कहे कि—इस समय ऐसी पर्याय क्यों? —वह प्रश्न ही नहीं रहता।

इस वाक्यमें 'जो कुछ' शब्द रखा है। कोई कहे कि सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, परन्तु केवलज्ञान क्यों नहीं होता? कर्मके कारण शेष होगा? नहीं; उस समयकी योग्यतासे उस–उस प्रकारका पर्याय धर्म है। एक समयकी पर्यायमें सब पर्यायें आ जाती हैं? नहीं, पर्यायधर्मकी जाति सिद्ध करना है। पर्याय एकके पश्चात् एक होती है। पर्याय स्वकालकी वर्तना है, वह वर्तनाके कालमें परिणमित हो ऐसा पर्यायका स्वभाव है। सम्यग्ज्ञान होने पर भी केवलज्ञान क्यों नहीं होता? ऐसा प्रश्न करनेवाला पर्याय धर्मको नहीं समझा है। जिस समय जिस पर्यायका जो धर्म है वह उस समयका है, उलटा–सीधा नहीं है। उस पर्यायको सम्यक्भाव सिद्ध

करता है। जो परिणमन हुआ वह वैसा ही है, अन्य प्रकारका नहीं है। इसप्रकार आत्मद्रव्यकी द्रव्यजाति, गुणकी गुणजाति और पर्यायकी पर्यायजाति सम्यक्‌भावसे सिद्ध होती है।

(२) शुद्धोपयोग परिणति साधक है, परमात्मा साध्य है। सम्यग्दृष्टि समझता है कि शुद्धोपयोग साधक है, परन्तु पुण्य–पाप साधक नहीं हैं, निमित्त साधक नहीं है। राग–द्वेषरहित चारित्रकी शुद्धपरिणति साधक है और परमात्मा होना वह उसका फल है। चित्तके संगरहित ज्ञान और आनन्दकी परिणतिकी बात है। द्रव्यमनके संगसे हिंसादि अथवा दया–दानादिकी वृत्ति उठे वह बंधका कारण है। आत्माका संग बंधके अभावका कारण है। मैं ज्ञानानन्द हूँ ऐसे अंतर्‌स्वभावके संगसे शुद्धोपयोग होता है ऐसा नहीं है। तेरी निज जाति तो द्रव्य–गुण शुद्ध हैं और पर्यायका अंश द्रव्यके साथ अभेद हो वह शुद्धोपयोग है। सच्चे देव–गुरु–शास्त्रके साथ सम्बद्ध हो तो शुभोपयोग है और स्त्री–पुत्रादि अशुभ निमित्तोंके साथ सम्बद्ध हो तो अशुभोपयोग है; वे दोनों अशुद्ध हैं। शुभाशुभ परिणामसे रहित होकर आत्माके साथ सम्बद्ध हो वह शुद्धोपयोग है।

आत्माके श्रद्धा–ज्ञान करके वर्तमान पर्याय स्वभावकी ओर ढली है, इस अपेक्षासे उसे सर्वरूप शुद्धोपयोग कह दिया। ज्ञान–दर्शन जो विकसित हुआ है वह शुद्ध ही है, इसलिए सर्वरूप शुद्धोपयोग कहा। शुद्धोपयोग द्वारा सिद्ध हुआ जाता है। सम्यग्दर्शनने शुद्ध आत्माकी प्रतीति की है और ज्ञान आत्मोन्मुख हुआ है, —इस अपेक्षासे उसे सर्वरूप शुद्धोपयोग कहा। अब चारित्रकी बात करते हैं।

ज्ञान–दर्शन उपयोगके बारह भेद आते हैं। वह जानने–देखनेके अर्थमें उपयोग है। उसमें शुद्ध या अशुद्ध उपयोगकी बात नहीं आती, शुद्ध–अशुद्ध उपयोगकी बात चारित्रके अर्थमें—आचरणमें आती है। दया–दानादिके शुभरागको अशुद्ध उपयोग कहते हैं और रागरहित परिणाम हों उसे शुद्ध उपयोग कहते हैं। शुद्ध उपयोगकी प्रधानता चारित्रमें जाती है। ज्ञान–दर्शन साधक हैं, इसलिए सर्व शुद्ध नहीं हैं। चारित्रके शुद्ध

उपयोगका अंशतः प्रारम्भ चतुर्थसे होता है और बारहवेंमें पूर्णता होती है। ज्ञान–दर्शन तो शुद्ध ही हैं, परन्तु नीचे चतुर्थ गुणस्थानसे शुद्ध चिदानन्दका अनुभव होने पर अनन्तानुबंधीका अभाव होनेसे कुछ अंशमें शुद्धता है और शेष अशुद्धता है। पाँचवें में अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानका अभाव होने पर चौथेसे विशेष शुद्धता है और शेष अशुद्धता है। मुनियोंको अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानीय और प्रत्याख्यानीय कषायका अभाव होने पर शुद्धतामें वृद्धि हुई है और अंशतः अशुद्धता शेष है। बारहवें गुणस्थानमें उपयोग पूर्ण शुद्ध है, वहाँ अशुद्धता नहीं है।

चारित्रकी शुद्धता अंशतः चौथेसे प्रारम्भ होकर बारहवें गुणस्थानमें पूर्ण होती है। वह तेरहवें–चौदहवें गुणस्थानमें परम यथाख्यात नाम प्राप्त करती है। अब ज्ञान–दर्शनकी बात करते हैं। निचली दशामें कुछेक ज्ञानशक्ति शुद्ध हुई है। शुद्धताकी अपेक्षा शुद्ध है, परन्तु ज्ञान–दर्शन विकसित नहीं हुए है इसलिए कुछेक शुद्ध कही है। मुझमें केवलज्ञान अनादि–अनन्त गुप्त पड़ा है उसकी प्रतीति की है, केवलज्ञान प्रगट होगा ऐसा ज्ञान द्वारा निर्णय किया है, उस शक्तिको प्रतीतिमें लिया है और एकाग्र होने पर केवलज्ञान होगा, इसलिए शुद्धोपयोग साधक है और केवलज्ञान अथवा परमात्मदशा उसका फल है–साध्य है। केवलज्ञान अंतरमें विद्यमान है उसमें से प्रगट होता है, वह निमित्तमेंसे, रागमेंसे या वज्रर्षभनाराच संहननमें से नहीं आता। ऐसी प्रतीति, रुचि और श्रद्धाभाव करके निश्चय किया, उसके द्वारा शक्तिकी व्यक्ति हो जाती है।

—इसप्रकार शुद्धोपयोग साधक और परमात्मा साध्य है।

प्रवचन–३३

माघ कृष्णा–८, गुरुवार, दि० ८-१-५३

(३) यह तीसरे बोलकी बात चल रही है। शुद्धोपयोग साधक और परमात्मा होना वह साध्य है। आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है, उसकी पर्यायमें रागरहित शुद्ध उपयोग दशा हो वह साधक है। वह शुद्धत्व सर्वदेशको साधता है अर्थात् परमात्मदशाको साधता है। ज्ञानका संवेदन करता हुआ आत्मा अपनी पूर्णरूप दशाको साधता है। राग और मनरहित आत्मा मेरा धाम है, उसका जो निर्णय किया था वह शुद्ध उपयोग परमात्माको साधता है। स्वभावसन्मुख रमणतारूपी दशा साधन है और परमात्मदशा साध्य है।

(४) व्यवहाररत्नत्रय साधन है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है। वास्तवमें निश्चयरत्नत्रयका साधन तो द्रव्य है। द्रव्यके आश्रयसे ही सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र प्रगटते हैं। वह फल प्रगट होनेसे पहले पूर्वपर्यायका व्यवहार बतलाकर यहाँ व्यवहारको साधन कहा है। किस प्रकार? कि व्यवहाररत्नत्रयमें सात तत्त्वोंकी श्रद्धा आ जाती है। अखण्ड ज्ञानमूर्ति है उसकी प्रतीति, ज्ञान एवं रमणता साध्य है। यहाँ पर्यायको साध्य बतलाना है। व्यवहारसे हटकर निर्विकल्पतामें आना है इसलिए व्यवहारको साधन कहा है और निश्चयपरिणतिको साध्य कहा है। साततत्त्व हेय हैं और निजतत्त्व उपादेय है, ऐसा विकल्प वह व्यवहार है। तत्त्वश्रद्धानमें सातेक पक्ष होते हैं वे हेय हैं। अखण्ड चैतन्यतत्त्व उपादेय है। यहाँ हेय–उपादेय तत्त्वोंकी विचारश्रेणी चलती है, उसे व्यवहार कहा है। उस विकल्पका अभाव होकर निश्चय प्रगट होता है, इसलिए व्यवहारको साधन कहा है।

तथा विचारश्रेणी चलती है कि जिससे चौरासीके भव प्राप्त होते हैं

उसे छोड़ूँ और आत्मामें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट हों उसे अंगीकार करूँ—ऐसा विचार चलता है। भवभोगादिसे विरति कार्यकारी है और सम्यग्दर्शन भाव उपादेय है।

यहाँ व्यवहारका साध्य द्रव्य है ऐसा नहीं कहना है तथा व्यवहारसे निश्चय प्रगट होता है ऐसा भी नहीं कहना है। साध्य–साधक दोनों पर्यायमें हैं उसकी बात है। व्यवहारका विकल्प उठा उसकी विचारश्रेणी चलती है यहाँ ऐसे व्यवहारकी बात है, अन्य व्यवहारकी बात नही है। इससे विपरीत व्यवहार हो उसका व्यवहार झूठा है। जैसे साततत्त्व कहे हैं वैसे यथार्थ जाने उस व्यवहारकी बात है। किसी भी भावको भला जाने तो उसका व्यवहार सच्चा नहीं है। भवसे विरतिको कार्यकारी जाना है और आत्माका सम्यक् आचरण उपादेय जाना है—ऐसा व्यवहार जानकर अपने स्वरूपमें एकाकार हुआ उससे विकल्प अटक जाते हैं। यह हेय है और यह उपादेय है—ऐसा विचार मनके सम्बन्धसे चलता था वह व्यवहार अटक गया। इसप्रकार इन्द्रिय एवं मनकी ओरका उपयोग अटककर निजस्वरूपका सम्यक् अनुभव करे वह उसका साध्य है। व्यवहारकी मर्यादा, निश्चय परिणतिकी मर्यादा तथा जिस द्रव्यके आश्रयसे निश्चयपरिणति होती है उस द्रव्यका ज्ञान—इसप्रकार तीनोंका यथार्थज्ञान होना चाहिए। ऐसे ज्ञानके बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। भगवान आत्मा निर्विकल्पस्वरूपमें विद्यमान है अंतरमें एकमेक होनेसे व्यवहार अटक जाता है। ज्ञानका शुद्धरूपसे अनुभव करे वह साध्य है और वह मोक्षमार्ग है। उस समय निजश्रद्धा समान करे उसमें सात तत्त्वोंके विचारका एकमेकपना नहीं है। ऐसा निज शुद्धतत्त्व–मात्र शुद्धतत्त्व अनुभवगम्य करे। मैं चिदानन्द परमात्मा हूँ, ज्ञायकसूर्य हूँ ऐसी श्रद्धा करे। प्रथम रागरहित हुँ ऐसी श्रद्धा थी वह व्यवहार था; वह व्यवहार छूटकर निर्विकल्पदशा हुई वह निश्चयसम्यग्दर्शन हुआ।

मैं ज्ञायक हूँ ऐसा जानपना मात्र ज्ञानकी जातिसे जाने; ज्ञानको मात्र पुण्यके विचार रहित करे। थोड़े सम्यग्ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण ज्ञानकी प्रतीति

हुई। एक अंश ज्ञानमें पूर्णज्ञानकी प्रतीति आई। यह साध्य है, यह फल है। फल कहा इसलिए व्यवहारसे हुआ है—ऐसा नहीं है। व्यवहारका अभाव होकर निश्चय प्रगट होता है। थोड़ा ज्ञान प्रगट हुआ इसलिए सम्पूर्ण आत्मा–केवलज्ञानका समुद्र ध्यानमें आ गया।

यहाँ श्रद्धा, ज्ञान और रमणताकी बात क्रमानुसार कहते हैं, परन्तु तीनों एकसाथ हैं। व्यवहारकी रीति छोड़कर मात्र ज्ञान द्वारा अपने स्वरूपको बराबर जाना। अल्पज्ञानमें अधिक ज्ञानकी प्रतीति आई। लोकालोक है उसकी अपेक्षा अनन्तगुना होता तब भी मैं जान सकता ऐसी ज्ञानकी शक्ति जानी।

''देह भिन्न केवल चैतन्यका ज्ञान हो।''

ऐसा निश्चय करके अपना स्वरूप जाना। इसका नाम अनुभवप्रकाश है।

अब आचरणकी बात कहते हैं। विकल्प अभाव होकर स्वरूपाचरण प्रगट होता है। निश्चयसे स्वरूप जाना, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानकी परिणतिसे आचरण होना वह स्वरूपाचरण है।

अपने त्रैकालिक परमात्माके श्रद्धा–ज्ञान करके कुछ दर्शन–ज्ञानशक्ति शुद्ध हुई है, वैसी ही स्थिरता हुई उसे निश्चयरत्नत्रय कहते हैं। सात तत्त्वोंको जैसे हैं वैसे माने तो व्यवहार सच्चा है और उसका अभाव होकर अंतर्‌दशा प्रगट हो वह निश्चय है।

सिद्धके और मेरे स्वभावमें फेर नहीं है। सिद्ध भी जानते–देखते हैं और मैं भी जानता–देखता हूँ; निश्चयसे मैं परमात्मा हूँ; —इसप्रकार आत्माकी अवस्था वैसी ही निश्चयरूप परिणमती है।

''यह निश्चयरत्नत्रय, प्रथम व्यवहार रत्नत्रय होनेसे साध्य हैं, इसलिए व्यवहाररत्नत्रय साधक और निश्चय रत्नत्रय साध्य है।'' यहाँ व्यवहारके लिए 'प्रथम' शब्द रखा है, उसका कारण यह है कि सात तत्त्वोंका हेय–उपादेय विचार चलता है। उसे हेय समझकर उसका अभाव

होकर निश्चयपर्याय प्रगट होती है। इसलिए व्यवहारको प्रथम कहा है। वास्तवमें तो द्रव्यके आश्रयसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तब व्यवहार नाम लागू होता है, परन्तु प्रथम यथार्थ विचार आता है, सात तत्त्वोंके हेय–उपादेयपनेकी विचारश्रेणी चलती है। विचारका व्यय होकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र दशाका उत्पाद होता है; इसलिए व्यवहारको प्रथम कहा है।

श्री समयसारमें कहा है कि व्यवहार और निश्चय आगे–पीछे नहीं है, दोनों साथ हैं। श्री आत्मसिद्धिमें भी कहा है कि—

नय निश्चय एकान्त से इसमें नहीं कहे,
एकाकी व्यवहार नहि, दोनों साथ रहे।

उसमें भी निश्चय और व्यवहार साथ कहे हैं। तो फिर यहाँ व्यवहारको प्रथम क्यों कहा? तो कहते हैं कि पूर्व पर्यायमें ऐसा विकल्प होता है वह बतलानेके लिए कहा है। ऐसा व्यवहार होता है, वह सिद्ध करना है, परन्तु उस व्यवहारसे निश्चय प्रगट होता है ऐसा नहीं कहना है। अभेदद्रव्यके आश्रयसे स्वभाव प्रगट होता है, परन्तु निजतत्त्व उपादेय और सात तत्त्व हेय हैं। ऐसा विचार पूर्व पर्यायमें आया और वह विचार छूटकर निश्चयपरिणति हुई है, इसलिए व्यवहार साधक और निश्चय साध्य है।

अजीवको अजीव सिद्ध किया कब कहा जाता है? कि—कर्म कर्मसे परिणमता है, परन्तु जीवके रागसे नहीं–ऐसा माने तो। तथा आस्रवसे अजीव परिणमित नहीं होता, अजीवसे अन्य अजीव नहीं परिणमता, ऐसा समझना चाहिए। एक–दूसरेके कारण क्रिया माने उसका व्यवहार भी सच्चा नहीं है। अनंत आत्मा कहनेसे एक आत्मा दूसरेके कारण नहीं है, एक परमाणुके कारण दूसरे परमाणु नहीं हैं। मैं अखण्डानन्द प्रभु हूँ; ऐसा सम्यक्‌भाव पूर्व पर्यायमें था, वह व्यय होता है; इसलिए उसे साधक कहा है और वीतरागी पर्याय हुई उसे साध्य कहा। दोनों पर्याय हैं। प्रथम ऐसा व्यवहार विचार न हो उसे अनुभवप्रकाश नहीं होता, इसलिए व्यवहाररत्नत्रयको साधक, निमित्त अथवा व्यवहारकारण कहते हैं और निश्चयरत्नत्रयको साध्य कहते हैं।

जो जीव अनन्त आत्माओंको न माने, अनन्त गुणोंको न माने अथवा दूसरे तत्त्वोंमें भूल करे उसका व्यवहार झूठा है, इसलिए उसे निश्चयरत्नत्रय प्रगट नहीं हो सकता।

(५) ''सम्यग्दृष्टिको विरति व्यवहार परिणति साधक है वहाँ चारित्र शक्ति मुख्य साध्य है ।''

मिथ्यादृष्टिको विरति व्यवहार परिणति नहीं हो सकती। सम्यग्दृष्टिकी बात है। मैं अखण्ड ज्ञायक आत्मा हूँ—ऐसी प्रतीति हुई है, उसे मुनिदशाके समय पाँच महाव्रतके तथा २८ मूलगुण आदिके विकल्प निमित्तरूपमें होते हैं। दृष्टिमें पूर्णरूप आत्मा ही उपादेय है; परन्तु जिसे चारित्र प्रगट नहीं हुआ है उसे शुभभाव आता है। जब मुनिपना लेता है वहाँ छहकाय जीवोंको मारनेके अशुभभाव नहीं होते, परन्तु पंचमहाव्रतके परिणाम होते हैं वह व्यवहार है। ऐसी व्यवहारपरिणति साधक है, परन्तु वह विकल्पकालमें ध्येय नहीं है, परन्तु शुद्ध स्वभावमें स्थिर होना वह ध्येय है। चारित्रकी अकषायदशा प्रगट करके अंतरमें स्थिर होना वैसी चारित्रशक्ति साध्य है और विकल्प साधन है।

कोई जीव कहते हैं कि इस कालमें स्वरूप कठिन है। ऐसा कहनेवालोंको राग-द्वेष सरल लगते हैं अर्थात् बहिरात्मपना सरल लगता है। पुण्य-पापके परिणाम करके भटकना सरल लगता है वे बहिरात्माको साधते हैं। उनको बाहरकी रुचि है वे अंतरमें प्रेम नहीं करते। इसप्रकार स्वरूपको कठिन माननेवाले स्वरूपका अनादर करते हैं।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव विरति करना चाहता है। उसको पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका प्रेम नहीं है, कषायका प्रेम नहीं है, अशुभ आचरणका त्याग है, पंचमहाव्रतके परिणाम होते हैं परन्तु उनमें निश्चयसे प्रेम नहीं है। मैं ज्ञायकमूर्ति हूँ ऐसी शक्तिकी प्रतीति है, उसे प्रगट करना चाहता है। वह कैसे प्रगट होती है? निज शुद्धात्मद्रव्यका आश्रय करनेसे ही प्रगट होती है।

चारित्र बाह्यसे प्रगट नहीं होता। जिसे चारित्र प्रगट करना हो उसका

व्यवहार कैसा होता है? उस मुनिको पंचमहाव्रतके विकल्पमें रहनेका भाव नहीं है, शरीर, मन, वाणीकी क्रियामें प्रेम नहीं है, ऐसे जीवको स्वद्रव्यके आश्रयसे चारित्र प्रगट होता है। आहार–जल अच्छे मिलें तो परिणाम अच्छें हो ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। आहारादिकी क्रिया जड़की है, उसमें उसका प्रेम नहीं है। चारित्र प्रगट करनेके कामीको बाह्यकार्योंमें प्रेम नहीं है, स्वभावका अवलम्बन हुआ है और ज्यों–ज्यों रागका अभाव होता है त्यों–त्यों ज्ञानानन्द स्वरूपमें स्थिरता बढ़ती है। —इसप्रकार विश्रामपद प्राप्त हुआ। पराश्रयमें तो रागकी थकावट थी, अब स्वरूपके अवलम्बनसे विश्राम मिला। भवका प्रेम था वह छूट गया और अपना स्वरूपधाम मिल गया; उसमें स्थिरता करे वह चारित्र है। उस चारित्रका मूल सम्यग्दर्शन है और उस चारित्रसे केवलज्ञान प्रगट होता है। ज्ञायकके अवलम्बनसे जो अकषायदशा प्रगट हो वह चारित्र है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टिको विरति–व्यवहार परिणति साधक है और चारित्र शक्ति मुख्य साध्य है।

(६) ''जहाँ देव–शास्त्र–गुरुमें भक्ति, विनय, नमस्कारादि भाव साधक है, वहाँ विषयादि उदासीनतामें परिणतिकी स्थिरता साध्य है।''

सच्चे देव–शास्त्र–गुरुकी भक्ति, विनय, बहुमान करना आदि प्रकारका विकल्प साधक है और संसारके अशुभभावसे उदासीनता होना वह साध्य है। सच्चे देव–शास्त्र–गुरुका भक्त कैसा होता है? वह कैसे देवकी भक्ति करता है? जिनकी चेतनाशक्ति पूर्ण प्रगट हुई है अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी शक्ति प्रगट हुई है वे अर्हंतदेव हैं, अनन्त गुण प्रगट हो गए वे सिद्ध हैं उनको देव कहते हैं। धर्मी जीव उनकी तथा उनकी प्रतिमाकी पूजा–सेवा करते हैं। उनके प्रति मनमें परिपूर्ण प्रीति है। कुटुम्ब, स्त्री–पुत्र और दुकानके प्रति प्रीति कम करके देव–गुरु–शास्त्रके प्रति परिपूर्ण प्रीति की है। तथा धर्मी जीव बाह्य प्रभावना करता है। देवकी भावना कैसे हो वह विकल्प धर्मात्माको आए बिना नहीं रहता। देवका स्वरूप ऐसा होता है, ऐसा विचार और भक्ति अंतरंग ध्यान है।

तथा धर्मी जीव सर्वज्ञके गुणोंका वर्णन करता है। अहा ! परमात्मा शक्तिरूप थे वह परिपूर्ण प्रगट हो गए हैं। अन्य कोई सर्वज्ञके विरुद्ध कथन कर रहा हो तो उसे माने, मनाए या संमत हो—ऐसा नहीं हो सकता। ऐसी अवज्ञाका भाव देवभक्तिवानको नहीं होता। तथा धर्मीको देवके प्रति परम उत्साह आता है कि—अहो ! मैंने अनन्तकालसे ऐसे देवको नहीं जाना था, अब जाना है—ऐसा विचार कर उनके प्रति परम उत्साह लाता है, वाणी और कायाको उस ओर लगाता है, अर्थात् मन–वचन–कायाके निमित्तसे होनेवाला भाव देवकी ओर लगाकर—लक्ष्मीको भी उसमें लगाता है। जैसे संसारमें पुत्रके विवाहमें खूब खर्च करता है वैसे ही यहाँ कहते हैं कि धर्मीको देवके प्रति इतनी प्रीति है कि देव–गुरु–धर्म और शास्त्रके लिए धन खर्चता है। ऐसे जीवकी भक्ति साधक है और विषयादिकी उदासीनता साध्य है।

प्रवचन–३४

माघ कृष्णा ९, शुक्रवार दि० ९-१-५३

यह साध्य–साधक बोलोंकी बात चल रही है। संसारके अशुभ भाव घटाकर, देव–गुरु–शास्त्रकी भक्ति करते हैं वे साधक हैं और मनकी स्थिरता साध्य है। जिनको ज्ञाता–द्रष्टा शक्ति पूर्ण प्रगट हो गई है, अनन्त गुण प्रगट हो गये हैं—ऐसे सर्वज्ञदेवको जानकर उनकी पूजा–भक्ति करना, स्त्री–पुत्रोंके प्रेमकी अपेक्षा विशेष प्रेम होना, सर्वज्ञके मार्गकी प्रभावनाके भाव रखना, सर्वज्ञदेव एकसमयमें तीनकाल–तीनलोकके ज्ञाता हैं, उनसे विरुद्ध मार्ग कहता हो उसकी पुष्टि न करना वह भक्ति है। सर्वज्ञके प्रति परम उत्साह आता है क्योंकि अपनेको अल्पकालमें सर्वज्ञ होना है इसलिए सर्वज्ञ भगवानके प्रति उल्लास एवं उत्साह आता है। घरमें पुत्रका जन्म हुआ हो, पैसा कमाया हो उसमें धर्मीको इतना उत्साह नहीं होता। सर्वज्ञदेवके गुणगानमें मन, वाणी और शरीरको लगाए, सांसारिक कार्योंमें धन खर्चता हो उसकी अपेक्षा विशेष देव पूजादिमें लगाए और सर्वज्ञदेवका विरोध होता हो उसे मिटानेके लिए धन लगाए—उसका नाम साधकपना है।

तथा सर्वज्ञदेवको वह अपने प्राणोंसे प्रिय जाने। इन्द्रियाँ भले जाए, आयु भले जाए, मन–वचन–काया छूट जाए, तथापि सर्वज्ञके प्रति ऐसा प्रेम हो कि प्राणोंकी परवाह न करे। सर्वज्ञ भगवानको अनन्तसुखका निमित्तकारण जाने। मेरे सुखका कारण तो मेरे पास है, परन्तु उसमें निमित्तकारण भगवान हैं, इसलिए उनके लिए मन–वचन–काया लगा दे।

भावदीपिकामें लिखा है कि धर्मके लिए धनका लोभ करे, देव–गुरु–शास्त्रके लिए संकोच करे, तो अनन्तानुबंधी लोभ है। वीतराग न हो तबतक साधकको सर्वज्ञके प्रति प्रेम आता है। सर्वज्ञदेव या उनकी प्रतिमा सुख देती है या शुभभाव कराती है—ऐसा वह नहीं मानता, परन्तु

वीतरागकी अनुपस्थितिमें 'जिनप्रतिमा जिनसारखी', मानकर शुभभाव करता है। धर्मी उसे पुण्य समझता है। स्वयं आनन्दस्वरूप है, पुण्य–पापकी वृत्तिसे पार है। ऐसी श्रद्धा की है, ऐसे भावपूर्वक भगवानकी भक्ति करता है। देवकी ऐसी भक्ति चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थानवालेको हुए बिना नहीं रहती। इसप्रकार देवकी भक्ति नहीं। सम्यक्त्वी जीव शास्त्रकी भक्ति करता है, वह अब बतलाते हैं।

सर्वज्ञकी दिव्यध्वनिसे निकले हुए शास्त्र जोकि अविरोध बातको स्थापित करते हैं, वैसे शास्त्रकी भक्ति करे, क्यों? अपना स्वरूप भगवानने कहा है। वे शास्त्र महाभाग्यसे प्राप्त होते हैं। सच्चे देव–गुरु–शास्त्र किन्हें कहा जाता है, और कुदेव, कुगुरु एवं कुशास्त्र किन्हें कहा जाता है वह बराबर जाने और सच्चे देव–गुरु–शास्त्रके प्रति उल्लास आए। यह वाणी अनेकान्त सिद्ध करती है। जड़में चैतन्य नहीं है, सम्पूर्ण द्रव्य एक पर्यायमें नहीं आ जाता। रागकी पर्याय द्रव्यमें(स्वभावमें) नहीं है, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता। एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप नहीं होती। इसप्रकार शास्त्र अनेकान्तका स्वरूप बतलाते हैं। जिनको मिथ्याशास्त्र निमित्तरूप हों उनको मिथ्यादर्शन होता ही है। धर्मीको सच्चे शास्त्र निमित्तरूप होते हैं। शास्त्र पढ़नेसे संसारका दुःख नष्ट हो जाता है। स्व–पर विवेकज्ञान सच्चे ग्रन्थकी परीक्षा करनेसे प्रगट होता है। गुरु सदैव उपस्थित नहीं होते तब शास्त्र निमित्त होते हैं। आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है, विकार क्षणिक है, जड़ पर है, जड़का मुझमें अभाव है और मेरा जड़में अभाव है; स्वभावका रागमें अभाव है। ऐसा बतलाए वे सच्चे शास्त्र हैं। उनको नमस्कार करे, उत्साह करे, शास्त्र हों वहाँ कुचेष्टा न करे, हँसी न करे किन्तु उनकी भक्ति करे। मोक्षका मार्ग सच्ची वाणीसे समझमें आता है। सर्वज्ञकी वाणी मोक्षमार्गमें निमित्त है। मोक्षमार्ग एवं मोक्षका स्वरूप वीतरागकी वाणी कहती है, इसलिए शास्त्रको जानना चाहिए। पूर्वापर विरोधरहित वाणी कौनसी है वह जानना चाहिए। शास्त्रको रत्नोंके अक्षरोंसे लिखाए, चाँदी–सोनेके शास्त्र बनवाए, जगतमें कैसे प्रभावना हो—ऐसा भाव धर्मीको आए बिना नहीं रहता। संसारमें विवाहादि कार्योंमें

धन खर्च करता है वैसे ही शास्त्रकी भक्तिके लिए मन, वचन, काया और लक्ष्मीको लगाए तो उसका मन स्थिर होता है। संसारके ओरकी वृत्ति तोड़कर स्वभावोन्मुख हो सकता है। इसप्रकार मोक्षमार्ग और मोक्षका स्वरूप वाणी द्वारा समझमें आता है, इसलिए शास्त्रभक्ति कही है।

अब गुरुकी भक्ति कहते हैं। निर्ग्रन्थ गुरु वे गुरु हैं। छठवीं–सातवीं झूलते रहते हैं। आत्माका अंतर् अनुभव करनेवाले मुनिवनवासी होते हैं। महान वीतराग दशावाले होते हैं। उन सन्तोंको देखकर धर्मात्माको बहुमान आए बिना नहीं रहता। कैसे हैं गुरु? वे मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। जिस भावसे बन्धन होता है उसे अशुद्धरूप बतलाते हैं; पूर्णानन्द आत्माकी प्रतीति, ज्ञान एवं रमणता हो वही उपदेश गुरु देते हैं। रागसे तथा शरीरकी क्रियासे धर्म मनाए वे गुरु नहीं हैं; वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। सच्चे गुरु तो कहते हैं कि आत्मा परमानन्दकी मूर्ति, अनन्तगुणोंका पिण्ड है। विकार एक समयका है; विकार और निमित्तसे हित माननेरूप बुद्धि छुड़वाकर स्वभावबुद्धि कराए, स्थिरता कराए वह गुरु कहलाते हैं। वे तो उपशमरसमें झूल रहे हैं; तीन कषायोंका अभाव हो गया है, आत्मरमणता बढ़ गई है। जैसे पर्वतोंमेंसे पानीके झरने बहते हैं, वैसे ही उपशमरसकन्दरूप आत्मामेंसे अकषायीपरिणति प्रवाहित होती है। ऐसे मुनि शांत अकषायी मुद्राधारी हैं। जिनकी मुद्रा ही शांत दिखती है, ऐसे भावलिंगी मुनिकी धर्मी जीव भक्ति करते हैं। मुनिको परमेष्ठीपद है। बारह अंग और चौदह पूर्वके धारी धर्ममंत्री गणधर भगवान भी नमस्कारमंत्रमें कहते हैं कि—''नमो लोए सव्वसाहूणं'' हे संत! तुम्हारे चरणोंमें मेरा नमस्कार हो! —इसप्रकार मुनिकी दशा अक्रिय बिम्बरूप है। मुनिकी मुद्राकी बात है, मानों सिद्ध भगवान ऊपरसे उतर आए हों वैसी मुनिकी वीतरागी अक्रिय दशा है। धर्मीजीव ऐसे मुनिको तरणतारण स्वीकारते हैं। उनकी मुद्रा ऐसी शांत है कि वचन बोले बिना मोक्षमार्ग दरशाते हैं। वे मुनि २८ मूलगुणोंका पालन करते हैं, उनकी नग्नदशा होती है। मेरे लिए आहार बनाया गया होगा—ऐसी शंका पड़े तो मुनि आहारका विकल्प छोड़ देते हैं। ऐसे मुनि मुक्तिके निमित्तकारण हैं। धर्मी

जीव जानता है कि मेरा शुद्ध आत्मा उपादानकारण है, उसमें मुनि निमित्तकारण हैं। धर्मीजीव ऐसे मुनिकी भक्ति करता है। देव–गुरु–शास्त्रकी भक्तिके लिए धर्मीजीवको ऐसा प्रेम उल्लसित होता है ''किस प्रकारसे पूजा करूँ और कैसे आदर करूँ''......ऐसा उल्लास आ जाता है। देव–गुरु–शास्त्रकी वैसी भक्ति साधक है और मनकी अस्थिरताको हटाकर स्थिरता करना वह साध्य है। यहाँ शुभ परिणामकी बात है। धर्मी जानता है कि यह शुभ विकार है, बंधका कारण है; अशुभ हटकर शुभभाव आए बिना नहीं रहता।

(७) शुभोपयोग साधक है और परम्परा मोक्ष साध्य है। आत्मामें कषाय मन्दताके परिणाम हों उसे शुभोपयोग कहते हैं। उसके तीन भेद हैं :—

(अ) **क्रियारूप** :—दयाका भाव, ब्रह्मचर्यका भाव, परिग्रहरहितताका भाव आदि पंच महाव्रतके भाव, अचेलरूप रहनेका भाव वह क्रिया है। आत्मदृष्टि हुई है उसे दया, विनय, भक्ति आदिके शुभभाव हों वह क्रिया है। वीतरागदेवने जिस रीतिसे शुभ क्रियाका वर्णन किया है उस क्रियारूप परिणाम शुभोपयोग है और वह परम्परा कारण कहा जाता है, क्योंकि ऐसे रागका अभाव करके मोक्षदशा प्राप्त करेगा।

(ब) **भक्तिरूप** :—देव–गुरु–शास्त्रकी भक्ति करना वह शुभोपयोग है; सांसारिक राग वह अशुभोपयोग है। उन दोनों से रहित आत्माके आश्रय से होनेवाले परिणामको शुद्धोपयोग कहते हैं और वह साक्षात् मोक्षका कारण है। शुभोपयोग मोक्षका परम्परा कारण है।

(क) **गुण–गुणीभेद विचाररूप** :—मैं आत्मा गुणी हूँ, मुझमें अनन्त गुण हैं; अपनी शिवरूपी लक्ष्मीका मैं स्वामी हूँ, असंख्य प्रदेश मेरा क्षेत्र है, चेतना मेरी रानी है—इसप्रकार गुण–गुणीके भेदका विचार करना वह पुण्यबंधका कारण है।

इसप्रकार तीन भेद सातिशय हैं और तीन निरतिशय भेदसहित छह प्रकारसे है। सम्यक्त्व सहित है वह सातिशय है। धर्मीको

(१) क्रियारूप, (२) भक्तिरूप और (३) गुण–गुणीभेद विचाररूप शुभभाव सातिशय पुण्यका कारण है। वह विकल्प टूटकर वीतरागता होगी, इसलिए उसे सातिशय कहते हैं। मैं चिदानन्द हूँ, साक्षी हूँ, जगतका ज्ञाता हूँ, रागमें मेरा प्रवेश नहीं है और मुझमें रागका प्रवेश नहीं है। —ऐसा माननेवाले जीवको पुण्यानुबंधी पुण्य होता है। जिसे आत्माका ज्ञान नहीं है, वह क्रियामें या गुण–गुणी भेदके विचारमें धर्म मानता है, वह निरतिशय भेदसहित है, उसे पुण्यबंध होता है परन्तु धर्म नहीं होता। मिथ्यादृष्टिको गुण–गुणीभेदका विचार आता है, परन्तु उसमें धर्म मानकर अटक जाता है। शास्त्रमें अनेक प्रकारसे प्रत्येक गुणका वर्णन आता है :—

(१) अभेद अपेक्षासे प्रत्येक गुण सर्व गुणोंमें व्याप्त है इसलिए प्रत्येक गुण ब्राह्मण है।

(२) प्रत्येक गुण अपना रक्षण करता है, इसलिए प्रत्येक गुण क्षत्रिय है।

(३) प्रत्येक गुण अपने व्यापारकी रीति नहीं छोड़ता, इसलिए प्रत्येक गुण वैश्य है।

(४) प्रत्येक गुण स्वसहायरूपसे निजगुणकी सेवा करता है, इसलिए प्रत्येक गुण शूद्र है।

(५) तथा प्रत्येक गुण अपने गुण नहीं छोड़ता और स्वगृहमें रहता है, इसलिए प्रत्येक गुण गृहस्थ है।

(६) तथा ज्ञान ज्ञानका रूप नहीं छोड़ता, दर्शन दर्शनका रूप नहीं छोड़ता, चारित्र चारित्रका रूप नहीं छोड़ता। प्रत्येक गुण अपने रूपमें स्थित है, इसलिए उसे वानप्रस्थ कहते हैं।

—ऐसे अनन्त गुणोंका भण्डार आत्मा है। ऐसे भाववानकी दृष्टि शुद्धस्वभाव पर है, इसलिए उसका विकल्प टूट जाता है और मोक्ष होना है। विकल्पका दृष्टिमें निषेध है और स्वभावके आश्रयसे अशुभका निषेध

हुआ है और किंचित् शुभ रहा है वह टूटकर वीतराग होगा, इसलिए उसके शुभको परम्परा मोक्षका कारण कहा है।

सम्यग्दर्शन रहित शुभोपयोग संसार सुख देता है। लाखों रुपये दे, स्त्री–पुत्रादिका संयोग प्रदान करे, परन्तु वह आत्माके अमृतको लूटता है। मिथ्यादृष्टि जीव साधु हो और शुभपरिणाम करे तो संसारके सुखकी प्राप्ति हो परन्तु उसे धर्म नहीं होता। अज्ञानी शुभरागकी क्रियासे धर्म मानता है; वैसे जीवको आत्माका किंचित् भी लाभ नहीं होता, बहुत हो तो भवनपति या व्यंतरदेव होता है। आत्माकी प्रतीतिके बिना गुण–गुणी भेदके विचार किए, थोड़ा–बहुत शुभ करें तो धर्म प्राप्त होगा ऐसा माना, परन्तु मेरा स्वरूप चिदानन्द ज्योति है ऐसी प्रतीति नहीं की, तो वह जीव बारह–बारह महीनेके उपवास करे, सच्चे सन्तोंको आहार दे तो पुण्य बाँधता है परन्तु धर्म प्राप्त नहीं कर पाता। अक्रिय आत्माकी प्रतीतिके बिना जीवको क्रियारूप शुभभाव, भक्तिके शुभभाव और गुण–गुणीके शुभभावसे कदाचित् राज्यपदकी प्राप्ति हो जाय या बड़ा अफसर बन जाए, परन्तु धर्मकी खबर नहीं होनेसे धीरे–धीरे नीचे जाता है। वीतरागका कहा हुआ शुभपरिणाम करे तो कदाचित देव–गुरु–शास्त्रका निमित्त मिल जाए, उनकी वाणीका श्रवण भी मिले, परन्तु सम्यग्दर्शन तो आत्माके आश्रयसे ही प्राप्त होगा। यह जीव अनन्तबार समवसरणमें हो आया, वह तो पूर्वके शुभभावोंके कारण है। स्वभावकी प्राप्ति तो आत्माके आश्रयसे ही होती है। भगवान मिले इसलिए धर्म होता है ऐसा नहीं है; कारणके बिना कार्य नहीं होता ऐसा नियम है। जब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तब सच्चे देव–गुरु–शास्त्र निमित्तरूप होते हैं। कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्रके निमित्तसे धर्म प्राप्त कर ले ऐसा नहीं होता। सच्चे देवादिके निमित्तकारण बिना सम्यग्दर्शनरूप कार्य नहीं होता—ऐसा निमित्तका ज्ञान कराया। इसप्रकार शुभोपयोग साधक और परम्परा मोक्षसाध्य है। सम्यग्दृष्टि शुभभावका नाश करके मोक्ष जाता है, इसलिए साधक कहा है। मिथ्यादृष्टि नववें ग्रैवेयकमें गया तब पूर्वमें ब्रह्मचर्यादिके परिणाम किये थे, किन्तु चिदानन्द आत्माकी प्रतीतिरहित शुभभावको निरर्थक माना है; इसलिए मिथ्यादृष्टिका शुभोपयोग

साधक नहीं है। सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोगको परम्परा साधक कहा है।

(८) जहाँ अंतरात्मा जीवद्रव्य साधक है, वहाँ अभेद जीव परमात्मरूप साध्य है। साधक जीव भेदज्ञान द्वारा आत्माको रागसे भिन्न जाने और सिद्धसमान प्रतीतिगोचर करे, परसे भिन्न करके स्वभावसन्मुख रहे तब स्वयं साधक है और स्वयं ही आत्मा–अभेद परमात्मा साध्य है। रागसे और पुण्यसे पृथक् करनेका ज्ञान करना वह साधक है और पूर्णदशा परमात्मारूपसे अभेद होना वह साध्य है। भेदज्ञान साधक है और अभेद परमात्मा साध्य है।

(९) जब आत्मामें अंशतः रमणता होती है तब अभेद ज्ञानमूर्ति आत्मा मोक्षस्वरूपको साधता है। ज्ञान एवं आनन्ददशा मुझमें विद्यमान है—ऐसा शुभोपयोग साधक और ज्ञानकी एकता होना वह साध्य है। ज्ञानकी पूर्णतारूपी मोक्ष साध्य है। परसे भेद करके स्वभाव अंशतः प्रगट हुआ, वह अंश परिणमित होते–होते पूर्ण दशारूप हो वह साध्य है। अंतरात्माका फल परमात्मा है। मोक्षमार्गका फल अभेदज्ञानरूप होना है। उसका फल राज्यपद नहीं है, उसका फल सम्पत्ति या स्वर्गलोक नहीं है। अंतरात्माका फल देव–गुरु–शास्त्रका निमित्त मिलना नहीं है; अंतरात्माका फल तो परमात्मा है। परसे भेदज्ञानकी दृष्टि हुई वह साधन है और एकरूप ज्ञान होकर केवलज्ञान प्रगट होकर आत्माके साथ अभेद होना वह साध्य है।

(१०) चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थानमें जघन्य ज्ञान है। उस जघन्य ज्ञानसे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। राग, विकल्प या पुण्य से उत्कृष्ट ज्ञान नहीं होता, यह बात सिद्ध करते हैं। अल्पज्ञान अर्थात् कौनसा ज्ञान? शास्त्रका ज्ञान नहीं, किन्तु राग और मनके अवलम्बनसे रहित, आत्माके आश्रयसे प्रगट हुआ जो जघन्य ज्ञान उससे केवलज्ञान होता है। खूब भक्ति करे और करोड़ वर्षतक पाँच महाव्रतोंका पालन करे तब भी वैसे परिणामसे जघन्य ज्ञान उत्कृष्ट ज्ञानरूप नहीं होता ऐसा बतलाना है।

❀ ❀ ❀

प्रवचन–३५

माघ कृष्णा १०, शनिवार दि० १०-१-५३

यह साधक–साध्यके बोल चल रहे हैं।

(११) पूर्वकी पर्यायको साधक मानकर, पश्चात् होनेवाली पर्यायको साध्य माना है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी, द्रष्टा एवं आनन्दस्वरूप है—ऐसा निर्णय करे वहाँ निश्चय बढ़ता है। शरीर, मन, वाणी या पुण्य–पाप मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, द्रष्टा हूँ, वीर्य एवं शान्ति मैं हूँ। ऐसा निर्णय करे कि मुझमें अनन्तगुण भरे हैं, तो निश्चय बढ़ेगा। जैसे–थोड़ी अफीम पी हो और उसका अमल लेनेके लिए नशा बढ़ाते हैं, ऐसे ही मेरा ज्ञान और आनन्द स्वभाव है, उसका निर्णय करे और उसकी रुचिमें वृद्धि करे तो अपनेमें दृढ़ता बढ़ती हैं, उसका नाम धर्म है।

आत्मा अनन्त गुणोंका धाम है—ऐसी रुचि बढ़ाये तो वीतरागी दशा हो। वह अंतर् दशा साध्य है। जिसे आत्माकी खबर नहीं है उसकी बात नहीं है। वहाँ कहते हैं कि आत्मा अनन्त गुणोंका धाम है। परमात्मा आत्मामें से हुए हैं ऐसा विश्वास करे तो दृढ़ता बढ़े और ज्ञानादिमें वृद्धि हो। किसी राग या संयोगसे वृद्धि होगी ऐसा नहीं कहा। स्वभावमें दृढ़ता बढ़ानेसे आगे बढ़ा जाता है। वैसे तो निमित्त एवं रागादि उनके अपने कारण आते हैं वे धर्मका कारण नहीं हैं। इतने शास्त्र पढ़ें या व्रतादि करें तो धर्म होगा—उनको साधन नहीं कहा है। आत्माका विश्वास करके उसकी भावनामें वृद्धि करे तो अंतरमें रही हुई शक्ति प्रगट हो और वीतरागी परिणति बढ़ जाय। इसके सिवा अन्य साधन नहीं है। परिणति द्रव्यके आश्रयसे बढ़ती है वह तो बराबर माना ही है, परन्तु यहाँ पर्यायसे बात लेना है, इसलिए अल्पज्ञान साधन है और ज्ञानादिकी विशेष निश्चयपरिणति साध्य है।

(१२) ''सम्यक्त्वी साधक है और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र साध्य है।'' सम्यक्त्वी जीवको आत्माकी प्रतीति हुई है। मेरे ज्ञान–दर्शनकी परिणतिका स्वभावमें एकत्व हो तो लाभ है—ऐसा सम्यक्त्वी जीव साधक है। वह पुण्य–पापको नहीं साधता, निमित्तको दूर नहीं करता, आत्मा स्वयं अपने गुणोंकी साधना करता है, इसलिए सम्यक्त्व साधक है और दर्शन–ज्ञान–चारित्र साध्य है।

प्रत्येक गुण स्वयं अपनेको साधता है; वह स्वरूपको साधता है और आत्माके अनन्त गुणोंको साधनेमें सहायक होता है; इसलिए प्रत्येक गुण साधु है। मैं ज्ञान हूँ, विकल्प शरीरादि मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार ज्ञानगुण साधु है। आनन्दगुण सहजानन्द स्वरूप है। ऐसी प्रतीति की है, इसलिए आनन्दगुण साधु है—इसप्रकार अनन्तगुण साधक होकर पूर्णदशाको साध्य बनाते हैं। ऐसे अनन्त गुणोंको प्रतीतिमें लिया है इसलिए सम्यक्त्व साधक है और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र साध्य है। धर्म जीवका साध्य पुण्य–पाप नहीं हैं। गृहस्थाश्रममें स्थित सम्यक्त्वी जीवको प्रतीति है कि शरीर वह मैं नहीं हूँ, जो राग होता है वह मैं नहीं हूँ।—इसप्रकार आत्मस्वभावके अवलम्बनसे जो रागरहित दशा हो उसे धर्म कहते हैं।

प्रत्येक गुण यति है। विकारको जीतता है इसलिए यति है। सम्यक्त्वने आत्माके सर्व गुणोंकी निर्विकार प्रतीति की है, ऐसे अनन्तगुण यति हैं। वैसे ही अनन्तगुण ऋषि हैं। प्रत्येक गुण अपनी ऋद्धिको सुरक्षित रखता है और दूसरोंकी ऋद्धिकी सुरक्षामें निमित्त है, इसलिए प्रत्येक गुण ऋद्धि है। अनन्तगुण मुनि हैं। मन–वाणी रहित आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, स्वच्छत्व, विभुत्व, कर्ता, करण, सम्प्रदान आदि सर्व गुण मुनि हैं—स्वयं अपनेको प्रकाशित करते हैं। गुणको प्रत्यक्ष श्रद्धामें लेकर प्रगट करनेका प्रयत्न करता है, इसलिए प्रत्येक गुणको मुनि कहते हैं।

शरीर, मन, वाणी उनके अपने कारण आयँगे और जायँगे, राग

उसके कालमें होगा; यदि साधक होना हो तो अनन्तगुणोंका विश्वास कर।

एक सत्तागुण है वह भी साधु है, वह द्रव्यकी सत्ता, गुणकी सत्ता और पर्यायकी सत्ताको साधता है, इसलिए सत्ता साधु है। जीवने अपना विश्वास नहीं किया। सत्ता द्रव्य, गुण, पर्यायको साधती है, इसलिए साधु, सत्ता–विकारको जीतती है, इसलिए यति है। द्रव्यकी ऋद्धि, गुणकी ऋद्धि और पर्यायकी ऋद्धिको सुरक्षित रखती है, इसलिए सत्तागुण ऋषि है। इसप्रकार अनन्तगुणोंको प्रतीतिमें लिया है वह जीव साधक है, और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट हो वह साध्य है।

आत्मामें ऐसे अनन्तगुण हैं, उनका विश्वास करो उनसे धर्म होता है। शास्त्रोंके अध्ययनसे या रागसे अथवा अमुक प्रकारका आहार लेनेसे दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट नहीं होते। आत्माकी श्रद्धा करनेवालेको साधक कहा और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होनेको साध्य कहा है। अनेक व्रत करके, पुण्य करके देवगतिमें जाना वह सम्यक्त्वका फल नहीं है। शुभराग उसके अपने कालमें हो परन्तु अनन्तगुणोंकी प्रतीति करना वह साधक है और उसका फल सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है।

(१३) ''गुणमोक्ष साधक और द्रव्यमोक्ष साध्य है।''

आत्मामें सम्यक्त्वादि अनन्तगुण हैं वैसी प्रतीति होनेके पश्चात् वीतरागता बढ़ाने पर आठों कर्मका नाश होता है और सिद्धदशा प्राप्त होती है। अंतर्‌शक्तियोंकी प्रतीति, ज्ञान, रमणता हुई और राग तथा विकारसे छूटे अर्थात् राग–द्वेषमें तथा अल्पज्ञानमें अटकते थे वह मिट गया, इसलिए केवलज्ञानादि प्रगट हुए वह गुण मोक्ष हुआ। इसप्रकार गुणमोक्ष होनेसे द्रव्यमोक्ष होता है अर्थात् सिद्धदशा प्राप्त करता है। अनन्त गुणोंकी परिणति अपने गुणके साथ एकाग्र हुई वह गुणमोक्ष हुआ। पहले श्रद्धा मिथ्याश्रद्धामें अटकती थी, चारित्र राग–द्वेषमें अटकता था, ज्ञानदर्शन अल्पदशामें अटकता था, —वह अपूर्णता और विपरीतता थी वह बंध था। वह बंध कर्मके कारण नहीं, जड़के कारण नहीं किन्तु अपने कारण ज्ञान, दर्शन और वीर्यमें न्यूनताके कारण होता था और श्रद्धा–चारित्रमें

विपरीततारूपमें होता था, वह बंध था; वह मिटकर गुणमोक्ष हुआ।

अल्प दर्शनकी पर्याय मिटकर केवलदर्शनरूप हुई,
अल्प ज्ञानकी पर्याय मिटकर केवलज्ञानरूप हुई,
विपरीतश्रद्धाकी पर्याय मिटकर परमावगढ सम्यग्दर्शनरूप हुई,
विपरीत चारित्रकी पर्याय मिटकर परम यथाख्यातचारित्ररूप हुई,
अल्प वीर्यपर्यायका व्यय होकर अनन्तवीर्यरूप हुई,

इसप्रकार अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए वह केवलज्ञानकी दशा हुई। पश्चात् केवली भगवानको चार कर्म टालनेका प्रयत्न नहीं करना पड़ता। चारों अघातिया कर्म टलने पर सिद्धदशा होती है, इसलिए द्रव्यमोक्ष होता है। इसप्रकार गुणमोक्ष होनेपर द्रव्यमोक्ष होता है, सिद्धदशा प्रगटती है।

(१४) आत्मामें सम्यग्दर्शन हुआ है, तत्पश्चात् चारित्रदशा हुई है। भावलिंगी दशा हुई है। पश्चात् स्वरूपकी दशामें वृद्धि होती है और रागरहित विशेष एकाग्रताकी धारा बढ़ती है; उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। क्षपकश्रेणीवालेको केवलज्ञान होता ही है। इसलिए क्षपकश्रेणी साधक है और तद्‌भव मोक्ष साध्य है।

(१५) ''द्रव्यलिंग एवं भावित स्वरूपभाव साधक है और साक्षात् मोक्षसाध्य है।'' वस्तुस्वरूपका यथावत् वर्णन किया है। जैसा माताने जन्म दिया ऐसा शरीर हो तथा अंतरसे भावित स्वरूपभाव हो, मात्र नग्नता हो उसकी बात नहीं है। अंतरकी प्रतीतिवान हो और स्वरूपमें अंतर्‌शुद्धता बढ़ गई हो तथा बाह्यमें नग्नता हो उसकी बात है, —ऐसा सहज निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। बाह्यमें नग्नदशा और अंतरमें स्वरूपरमणता—दोनों हों तो केवलज्ञानकी तत्परतावाला कहा जाता है। कोई कहे कि हमें अंतरमें वीतरागता है, परन्तु हमारे शरीर वस्त्र बिना मूर्छाके हैं, तो वह मिथ्यादृष्टि है। स्वरूपमें नग्न अर्थात् चिदानन्द आत्मामें वस्त्र सम्बन्धी रागका नाश और बाह्यमें वस्त्रका अभाव अर्थात् शरीरकी नग्नअवस्था, —ऐसा दोनोंका मेल हो तो साक्षात् मोक्षकी साधना है।

द्रव्यभाव अर्थात् बाह्यसे नग्न और पाँच महाव्रतादिके परिणाम तथा

अंतरमें लीनतारूपी परिणामवालेका मोक्ष होता है। जिसे भावस्वरूपकी प्रतीति न हो उसे केवलज्ञान नहीं होता और जिसे प्रतीति हो और अंतर्स्थिरता बढ़े तब बाह्य शरीर नग्न न हो ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए दोनों बातें कही हैं। हाथीके हौदेमें बैठकर तथा गृहस्थदशामें केवलज्ञान प्राप्त करे वह बात मिथ्या है। इसलिए द्रव्यलिंग और भावित स्वरूपभाव साधक है और साक्षात् मोक्ष साध्य है।

(१६) अंतरमें विकार रह जाय और केवलज्ञान हो जाय ऐसा नहीं हो सकता। चित्तका संग बिलकुल—सर्वथा न छूटे तबतक केवलज्ञान नहीं होता। गुण–गुणीके भेदका विकल्प भी भावित मनोविकार है, विकारका विलय होना साधक है और पूर्णदशा साध्य है। अगले बोलमें वस्त्रादिका संग निकाल दिया। इस बोलमें मनके संगकी बात करते हैं। छातीमें द्रव्यमन खिले हुए कमलके आकारका सूक्ष्म है, उसके निमित्तसे होता विकार आत्माकी प्रतीतिसे और स्थिरतासे नष्ट होता है। इसलिए चित्तके संगका विलय होना साधक है और केवलज्ञान साध्य है।

(१७) द्रव्यकर्म जड़ है; जीव उस ओर लक्ष करे तो विकार होता है और स्वभावकी ओर लक्ष करे तो विकार नहीं होता। पौद्गलिक कर्मोंका खिरना साधक कहा है वह निमित्तसे बात करते हैं। जब पुद्गल कर्म जाते हैं तब विकारकी नैमित्तिकदशा जाती ही है। नैमित्तिक विकारी दशा टले बिना पुद्गल कर्मोंका खिरना नहीं कहा जाता।

जीव पुद्गलकर्मके विपाकमें लगे तो विकार उत्पन्न होता है, इसलिए पुद्गलकर्म खिर जाते हैं तब नैमित्तिक मनोविकार नहीं होता; इसलिए कर्मोंका खिरना साधक है और मनोविकारका विलय होना साध्य है।

(१८) गृहस्थको एक वस्त्र लेनेकी वृत्ति हो और मुनिको एकबार आहार लेनेकी वृत्ति हो तबतक अंतरमें ममता रही हुई है—ऐसा प्रगट करते हैं। बाह्य परिग्रहका संग अंतरंगभावको प्रगट करता है। अंतर्स्वभावमें लीन हो उसे आहार लेनेकी वृत्ति नहीं उठती। मुनिको

आहार लेनेका विकल्प उठे वह शुभ ममत्व है; इसलिए परमाणु मात्र परिग्रह साधक है और ममत्वभाव साध्य है।

(१९) विपरीत श्रद्धा साधक है। नवतत्त्वोंकी तथा देव–गुरु–शास्त्रकी विपरीत मान्यताको मिथ्यात्व कहते हैं, वह साधक है और चौरासीमें भ्रमण करना उसका फल है। चिदानन्द आत्माको आत्मा न माने, अजीवको अजीव न माने, आस्रवको आस्रव न माने, और संवर–निर्जरा–बंधको तथा मोक्षको जैसे हैं वैसे न माने, उसे संसार परिभ्रमण होता है। त्रसकी स्थिति दो हजार सागरकी है, इसलिए वह पूर्ण होनेपर निगोदमें जाएँगा। वस्तु ज्ञाता–द्रष्टा है, उसमें भव नहीं है; परन्तु वस्तुस्वभावसे विपरीत मान्यता करे तो उसमें भव होते हैं। पुण्य–पापसे रहित और मन–वाणीसे भिन्न आत्माकी प्रतीति नहीं है तथा पुण्यसे धर्म माने, सच्चे देवादिका अनादर करे, मिथ्या देवादिका आदर करे—ऐसी मिथ्या मान्यताका फल संसार है। इसलिए मिथ्यात्वसाधक है और संसार–भ्रमण साध्य है।

(२०) सम्यग्दर्शन भवरहित स्वभावकी प्रतीति करता है। त्रैकालिक स्वभावमें विकार टालनेका स्वभाव है, ऐसे आत्मामें भव नहीं हैं। ऐसा सम्यग्दर्शनने स्वीकार किया, वह सम्यग्दर्शन विकारको स्वीकार नहीं करता, परन्तु त्रैकालिक स्वभावको स्वीकारता है, इसलिए सम्यक्त्व साधक है और मोक्ष होना साध्य है।

(२१) काललब्धि = निजपरिणामकी प्राप्ति स्वाश्रयसे होना वह काललब्धि है। अपने स्वभावके पुरुषार्थका काल आये वह वास्तवमें काललब्धि है। परकालके अनुसार लब्धि नहीं है। साधक जीव निमित्तके सामने या रागके सामने नहीं देखता; सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभावकी ओर देखता है। कोई वस्तु चूल्हे पर पकानेके लिए रखी हो तो वह पकनेकी तैयारीमें होगी, परन्तु घरमें वह वस्तु ही न हो और चूल्हे पर चढ़ाये बिना कहे कि वस्तु पकनेकी तैयारी हो गई है तो वह मिथ्या है। वैसे ही आत्माके श्रद्धा ज्ञान बिना मोक्षकी वस्तु नहीं पकती। धर्मीजीवने

श्रद्धा–ज्ञान करके आत्माको पकनेके लिए चढ़ाया है, तो वह ज्ञानी जानता है कि पुरुषार्थके अनुसार वह पक जाएँगा अर्थात् मोक्षदशा होगी। काल आने पर मोक्ष होगा ऐसा लोग कहते हैं, परन्तु किसका काल? अपने शुद्धस्वभावमें ढला है उस स्वभावका काल। मेरा स्वभाव ज्ञान, दर्शन एवं आनन्दरूप है ऐसा निर्णय करता है उसे स्वभावकी सिद्धि होती है। साधककी दृष्टि बाह्य काल पर नहीं होती परन्तु स्वभाव पर होती है, इसलिए उसका काल पक जाता है। इसलिए काललब्धि साधक है और स्वभावसिद्धि साध्य है।

(२२) कोई कहे कि हम शब्द समझते हैं परन्तु अर्थ नहीं समझते; तो उसे शब्द साधक नहीं कहा जाता। वाणीका अर्थ नहीं समझे तो व्यर्थ है 'गुड़' शब्द सुना परन्तु उसका अर्थ नहीं साधे तो वह शब्द साधक नहीं होता। गुड़के दो अर्थ होते हैं—एक खानेका गुड़ और दूसरा कोई वस्तु अच्छी हो उसे गुड कहा जाता है। इसलिए कहनेवालेको भावानुसार जो हो उसे समझना चाहिए, तब शब्दका साधक कहा जाता है।

शास्त्रमें भी अनेक शब्द होते हैं परन्तु उनका अर्थ न समझे तो शास्त्रके शब्द साधक नहीं कहे जाते। जैसे कि—'सम्यग्दर्शन' शब्द है तो वहाँ आत्माकी प्रतीतिपूर्वक आत्माकी सम्यक्श्रद्धा कहना चाहता है, ऐसा समझे तो 'सम्यग्दर्शन' शब्द साधक कहा जाए; इसलिए शब्द साधक और अर्थ साध्य है।

(२३) अर्थ साधक है। अब उस अर्थको समझे तो आत्मामें शान्तिका रस है ऐसा समझेगा। अर्थ समझे उसे आत्माका आनन्द आए बिना नहीं रहेगा। शब्द समझमें आये तो अर्थ समझे और अर्थ समझमें आए तो आत्माका आनन्द आयेगा। शास्त्रके शब्दोंका अर्थ नहीं समझे उसे आनन्द नहीं आता। रेकार्ड अच्छा गीत गाए तो रेकार्डको आनन्द नहीं आता; वैसे ही जिसे शास्त्रका अर्थ समझनेका ज्ञान नहीं है, शब्दोंका अर्थ समझना नहीं आता उसे रस नहीं आता। इसलिए देव–गुरु–शास्त्र

क्या कहते हैं उस शब्दको तथा उसके अर्थको समझना चाहिए। अहा ! यह ज्ञान अलौकिक है—ऐसा अंतरमें समझे तो आनन्द आए। इसलिए अर्थ साधक है और ज्ञानरस साध्य है।

(२४) अब स्थिरताको साधक कहते हैं। मैं स्व–पर प्रकाशक ज्ञानस्वरूपी हूँ, पुण्य–पाप मैं नहीं हूँ। ऐसा ज्ञानका आनन्द आए तो स्थिरता आए। वह स्थिरता होनेपर ध्यान साध्य होता है। स्थिरतासे ध्यान होता है। समझे बिना ध्यान किसका करेगा? वस्तु क्या है, गुण क्या है, पर्याय क्या है—इसप्रकार ज्ञानकी एकाग्रता होनेपर—स्थिरता होनेपर लीनता होती है। अज्ञानी जीव बिना समझे हरा–पीला देखे वह ध्यान नहीं है। जो शास्त्रको नहीं समझेगा उसे स्थिरता नहीं होगी और ध्यान नहीं होगा; इसलिए स्वसंवेदनरूप स्थिरता साधक है और ध्यान साध्य है।

प्रवचन–३६

माघ कृष्णा ११, रविवार दि० ११-१-५३

(२५) यह साध्य–साधकका अधिकार है। आत्मामें आनन्दका अनुभव होना वह धर्म है। ज्ञानानन्द आत्मामें एकाग्रता होना वह ध्यान साधन है और उससे कर्म खिरते हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द राग–द्वेष रहित है, उस ओर वृत्ति होनेसे—एकाग्रता होनेसे ध्यान होता है। उसका फल कर्मोंसे छूटना है। इसलिए ध्यान साधक और कर्मोंका खिरना साध्य है।

(२६) आत्मामें से कर्म खिर जाएँ अर्थात् आत्मा मुक्तदशा प्राप्त कर ले वह उसका फल है। इसलिए कर्मोंका खिरना साधक और मोक्षका होना साध्य है।

(२७) ''राग–द्वेष–मोहका अभाव साधक है और संसारका अभाव साध्य है।'' वर्तमान अवस्थामें राग–द्वेष और परमें सावधानीका अभाव करना साधक है। स्वरूपकी एकाग्रता करनेसे मोह–राग–द्वेषका अभाव होता है, उसके फलमें संसारके अभावका परिणाम आता है, परन्तु पुण्य फलकी इच्छा नहीं होती। आत्मा ज्ञानानन्द है, वैसी अंतर्मुख दृष्टि द्वारा संसारका अभाव होता है।

(२८) ''धर्म साधक है, परमपद साध्य है।'' लोग धर्मकी बात कहते हैं वह धर्म क्या है? —स्वसन्मुखता द्वारा आत्माकी दशामें पुण्य–पाप विकारका अभाव होना वह धर्म है। चिदानन्दस्वभावकी रुचि करके उसमें एकाग्रता करना वह साधन है, उससे परमात्मपदकी प्राप्ति होती है। धर्मसे धन नहीं मिलता, जितने संयोग प्राप्त होते हैं वह कोई धर्मका फल नहीं है किन्तु विकारका फल है। धर्म करनेसे तो परमपदकी प्राप्ति होती है। शुभराग कहीं मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं है, परन्तु निमित्त मानकर उसे रूढिसे—उपचारसे धर्म कहा जाता है।

(२९) ‘‘स्वविचार प्रतीतिरूप साधक है और अनाकुलभाव साध्य है।’’ स्वयं स्वविचार प्रतीति करता है। आत्मा अनन्त–आनन्द और स्वविचार ज्ञानकी मूर्ति है, —ऐसे स्वभावका विचार करना। आत्मा ज्ञानकी मूर्ति है, शुद्ध ही है, निर्मलानन्द है। आत्माके स्वभावकी प्रतीति, ज्ञान और स्थिरताका विचार साधक है और उसका फल अनाकुलभाव है। उसका फल राज्य या देवपद या तीर्थंकरपद नहीं है।

(३०) ‘‘समाधि साधक है, निज शुद्धस्वरूप साध्य है।’’ आधि = संकल्प–विकल्प, व्याधि = शारीरिक रोग, उपाधि = संयोग, —ऐसे तीनोंका लक्ष छोड़कर ज्ञानस्वभावमें समताभाव रखना वह समाधि है। वह समाधि साधक है और उसके फलमें निज शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होती है। लाल–पीले रंग दिखाई दें वह समाधि नहीं है। अपनी निर्मलताके साथ अखण्ड आनन्दका वेदन हो वह समाधिका फल है।

(३१) ‘‘स्याद्वाद साधक है और यथार्थ पदार्थकी साधना वह साध्य है।’’ अपेक्षासे जानना वह साधक है। आत्मा वस्तुसे नित्य है और पर्यायसे अनित्य है। वस्तु एक है और गुण अनन्त हैं। वस्तुरूपसे सामान्य है और पर्यायरूपसे विशेष है—इसप्रकार स्याद्वादसे वस्तु सिद्ध करना। स्याद्वादका अर्थ यहाँ मात्र वाणीकी बात नहीं है। संसारमें अमुक गुणकी पर्याय अशुद्ध है परन्तु शक्ति शुद्ध है। स्याद्वाद वस्तु सिद्ध करनेके लिए साधन है, उससे वीतरागता सिद्ध होती है। रागमें कर्म नहीं हैं, कर्ममें राग नहीं है। एक समयके रागमें सम्पूर्ण आत्मा नहीं आ जाता, राग मूल स्वभावमें नहीं आ जाता, इस प्रकार यथार्थ पदार्थ निश्चित् करना वह फल है और उससे वीतरागता प्राप्त होती है।

किसी समय परसे लाभ होता है और कभी स्वसे लाभ होता है, वह स्याद्वाद नहीं है। अपनेसे लाभ होता है और परसे लाभ नहीं होता यह अनेकान्त है। इसप्रकार दोनों वस्तुएँ सिद्ध करते हैं।

आत्मा द्रव्यसे शुद्ध है ऐसा त्रैकालिक स्वभावकी अपेक्षासे कहा जाता है।

आत्मा अशुद्ध है, ऐसा पर्याय अपेक्षासे कहा जाता है।

—इसप्रकार अनेकान्त कहनेवाला स्याद्वाद यथार्थ पदार्थकी साधना करता है।

(३२) ''भली भावना साधक है और विशुद्ध ज्ञानकला साध्य है।'' भली भावना अर्थात् भेदविज्ञानसे मैं ज्ञानानन्द हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, त्रैकालिक ज्ञानकला प्रगट करनेके लिए मैं साधन हूँ—ऐसा निर्णय करे तो उसमें से विशुद्ध ज्ञानकला प्रगटती है।

(३३) ''विशुद्ध ज्ञानकला साधक है और निज परमात्मा साध्य है।''

मैं विशुद्ध–निर्मल चैतन्यमूर्ति हूँ, शरीर पर है और विकार कृत्रिम है—ऐसा विशुद्ध ज्ञानकलाभाव साधक है और निजपरमात्मा साध्य है।

परवस्तुओंका ग्रहण–त्याग आत्मामें नहीं है। या तो आत्माकी प्रतीतिके बिना भ्रान्ति तथा राग–द्वेषका ग्रहण करता है अथवा आत्मप्रतीति द्वारा भ्रान्ति, राग–द्वेषको त्यागता है। इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकता। आत्मप्रतीतिसे जो भली भावना—विशुद्ध ज्ञानकला प्रगट हुई वह साधन और परमात्मा साध्य है।

(३४) ''विवेक साधक है और कार्य साध्य है।'' निमित्तसे और रागसे मैं भिन्न हूँ, अविनाशी ज्ञानानन्दसे एकमेक हूँ वह विवेकज्ञान है। शरीर, मन, वाणी मेरे नहीं हैं; इसप्रकार परसे भेदज्ञान करना वह साधक है और कार्यदशा प्रगट हो वह साध्य है।

''धर्म खेत नहि ऊपजे, धर्म न हाट बिकाय;
उपजे धर्म विवेकसे, और न कोई उपाय।''

कौनसा धर्म? पुण्य–पापसे आत्माको भिन्न मानना वह विवेक है। विवेकको साधन बनाकर शान्ति प्राप्त करना उसका फल है।

(३५) ''धर्मध्यान साधक है और शुक्लध्यान साध्य है।''

आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है; उसकी अनाकुल शान्तिमें एकाग्रता करना वह धर्मध्यान है। वह धर्मध्यान बदलकर शुक्लध्यान होता है। स्वभाव शुद्ध चिदानन्द सिद्धस्वरूपी है, उसकी अंतर्श्रद्धा एवं एकाग्रतारूपी धर्मध्यान साधन है। उसके परिणाममें शुक्लध्यान होगा। उसके फलमें स्वर्ग या देवकी बात नहीं है। शुक्लध्यान अर्थात् अत्यन्त उज्ज्वलताकी प्राप्ति होना है।

''शुक्लध्यान साधक है और साक्षात् मोक्ष साध्य है।'' शुक्ल ध्यान साधक है। आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावमें एकाग्रताकी अति उज्ज्वलता करना वह शुक्लध्यान है। यहाँ क्षपकश्रेणीके शुक्लध्यानकी बात है। शुक्लध्यानके फलमें मोक्ष होता है।

(३७) ''वीतरागभाव साधक है और कर्म–अबंध साध्य है।'' रागरहित आत्माके परिणाम साधन हैं और कर्मका अभाव होना वह फल है। तीर्थंकरनामकर्मका बंध होता है वह रागके परिणाम से बँधता है, परन्तु वीतरागपरिणामसे नहीं बँधता।

(३८) ''संवर साधक है और निर्जरा साध्य है।'' आत्मामें विकारका रुक जाना और स्वभावके आश्रयसे शुद्धदशाका प्रगट होना वह संवर है। संवर कारण है और शुद्धताकी वृद्धि होना वह उसका फल है। लोग संवर कहते हैं उसकी बात नहीं है, परन्तु शरीर, मन, वाणी से पार आत्मा है उसकी प्रतीति करके अशुद्ध पर्यायका रुकना तथा शुद्ध पर्यायका होना वह संवर है। वह साधक है, उससे शुद्धतामें वृद्धि होती है। शुद्धिकी वृद्धि होती है वह निर्जरा है।

(३९) ''निर्जरा साधक है और मोक्ष साध्य है।'' आत्मामें अकषाय परिणाम होना वह निर्जरा है, उसके फलमें मोक्ष साध्य है। अकाम निर्जराके फलमें पुण्य बँधता है उसकी बात नहीं है, वह धर्मका कारण नहीं है; राग–द्वेषसे जो कर्म बाँधता था उस राग–द्वेषसे रहित होकर आत्माके अंतर्व्यापारमें वृद्धि की, उस निर्जराके फलमें मोक्ष है।

इस ग्रन्थकी रचना करनेवाले श्री दीपचन्दजी गृहस्थ थे।

गृहस्थदशामें रहने पर भी इतना सुन्दर ग्रन्थ बनाया है। आत्माके स्त्री–पुत्र नहीं हैं; ममत्व करे उसके निमित्त है। उस समय ममत्व रहित आत्माकी प्रतीति करे तो धर्म हो। मेरा वर्तमानभाव अनन्तगुणोंके पुंज प्रभुमें आरूढ़ हो वह निर्जरा है, उससे शुद्धिकी वृद्धि होती है; उसके फलमें मोक्ष प्राप्त होता है।

(४०) ''चिद्विकारका अभाव साधक है और शुद्धोपयोग साध्य है।'' ज्ञानमें जो विकार ज्ञात हो उसका अभाव करना वह साधक है। वस्तु ज्ञानानन्द है उसकी पर्यायमें होनेवाले राग–द्वेषमें अटकता है उसका अभाव करना साधक है और पुण्य–पाप रहित शुद्ध उपयोगमें रहना है वह फल है।

(४१) ''द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन साधक है और भावश्रुत साध्य है।'' सर्वज्ञ परमात्माके कहे हुए पदार्थके स्वरूपानुसार मुनि द्वारा रचित शास्त्रका सम्यक्‌रूपसे अवगाहन करना, भलीभाँति समझना वह साधक है। जैसे गहरे समुद्रमें अवगाहन करने पर मोती मिलते हैं वैसे ही शास्त्रमें सम्यक् प्रकारसे प्रवेश करके देखे तो आत्मामें भावश्रुत प्रगट होता है। जो विकल्प उठे उसकी प्रधानता नहीं है। पुण्यके कारण देवगतिमें जाएँगे, और भगवानके पास पहुँचेंगे ऐसे जीवकी बात नहीं है, वैसे जीवको द्रव्यश्रुतमें अवगाहन करना नहीं आया है। अपूर्व रूपसे आत्मामें जागृत हुआ वह वीतरागकी वाणीकी विनय करता है कि— अहा ! आत्माको जगानेवाली वीतरागता देनेवाली एवं केवलज्ञान प्राप्त करानेवाली ऐसी भगवानकी वाणी है, जो उपादानको उपादान, निमित्तको निमित्त, व्यवहारको व्यवहार कहती है। इसप्रकार भगवानकी वाणी स्पष्ट समझाती है। उसके सम्यक् प्रकार अवलोकनसे सम्यक् श्रुतज्ञान प्रगट होता है। विकल्पमें रोकना उसका फल नहीं है। सच्चे शास्त्रोंमें चारों अनुयोग आते हैं। द्रव्य–गुण–पर्यायके स्वरूपका मुख्यरूपसे कथन करनेवाला वह द्रव्यानुयोग, मुख्यरूपसे चारित्रकी विधि कहनेवाला वह चरणानुयोग, कर्म, लोकविभाग, गुणस्थानादिकी स्थिति बतलानेवाला

करणानुयोग और महापुरुषोंके जीवन चरित्र बतानेवाला कथानुयोग—ऐसे चारों अनुयोगका बराबर अवगाहन करे वह भावश्रुतज्ञान है। जो ज्ञान द्वारा आत्माको पकड़े वह भावश्रुतज्ञान है। :—

इस आत्मको श्रुतसे नियत, जो शुद्ध केवल जानते।
ऋषिगण प्रकाशक लोकके, श्रुतकेवली उसको कहें।।९।।

(समयसार)

यहाँ कहा है कि भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्माका अनुभव करे उसे श्रुतकेवली कहते हैं :—

श्रुतज्ञान सब जानें जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहें।
सब ज्ञान सो आत्मा हि है, श्रुतकेवली उससे बनें।।१०।।

(समयसार)

यहाँ कहा है कि भगवानके कहे हुए चारों अनुयोगमें निज शुद्धात्मा ही आदरणीय कहा है वह विचार और विकल्प उठता है, उसका अभाव करके सम्यग्ज्ञान प्रगटता है, इसलिए उस श्रुतज्ञानने भी आत्माको जाना।

जो रागादि परिणाम हों वे वाणीका फल नहीं हैं। सर्वज्ञकी वाणी द्वारा कहे गए तदनुसार कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य आदि आचार्योंने चार अनुयोग बनाए, उनका सार वीतरागी ज्ञान अथवा भावश्रुतज्ञान है। जो जीव शास्त्रोंमें से वीतरागता न निकाले वह शास्त्रोंको समझा ही नहीं।

पराश्रयकी श्रद्धा छोड़कर विकल्परहित होकर आत्माको न पकड़े वह शास्त्रको समझा ही नहीं है। आगम कहते हैं कि तेरा आत्मा ज्ञानज्योति है, दया–दानादिके परिणाम आत्मा नहीं हैं—ऐसा द्रव्यश्रुतके अवगाहनमें निर्णय करे वह भावश्रुतका फल है।

श्री समयसारकी १५वीं गाथामें कहा है कि :—

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्मको।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो।।१५।।

स्वसन्मुख हुए ज्ञानको भावश्रुतज्ञान कहा है।

आत्मा कर्मसे बँधा हुआ नहीं है, कर्मसे स्पर्शित नहीं है, अनन्य है, सामान्य है तथा नियत और असंयुक्त है—ऐसा जो जानता है वह जीव जिनशासनको देखता है। द्रव्यश्रुत और भावश्रुतका सार वीतरागता है। द्रव्यश्रुतमें ऐसा कहा है कि आत्मोन्मुख होना वह कार्यकारी है और भावश्रुतज्ञान स्वयं वीतरागता है। इसमें चौदह पूर्वका सार आ जाता है। दया–दानादि परिणाम सार नहीं है। शास्त्रमें व्यवहारकी लाख बातें हों तथापि वीतरागता ही सार है। तर्क एवं विवाद करे तब भी दूसरा अर्थ नहीं है। आत्मोन्मुख होकर वीतरागता प्रगट करो। जैसे कोई मनुष्य समुद्रमें उतरा तो मोती हाथ आए, परन्तु समुद्रमें मोती थे तो हाथ आए; वैसे ही द्रव्यश्रुतमें वीतरागता लिखी है परन्तु अंतरसे यथार्थता—वीतरागता ग्रहण करे तो वीतरागता प्रगट होती है; वैसे ही उसके अवगाहनसे भावश्रुत होता है।

खारे समुद्रमें मीठा पानी नहीं मिलता, वैसे ही मिथ्या शास्त्रोंमें से वीतरागता नहीं मिलती। कुशास्त्रमें भावश्रुत नहीं कहा है और सच्चे शास्त्रका फल वीतरागता है। राग या विकल्प या भेदसे वीतरागता प्राप्त हो—ऐसा शास्त्रमें नहीं कहा, और जो ऐसा कहें वे सच्चे शास्त्र नहीं हैं। उनसे भावश्रुत ज्ञान प्रगट हो ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन साधक है और भावश्रुत साध्य है।

(४२) ''स्वसन्मुख ऐसा भावश्रुतज्ञान साधक है और केवलज्ञान साध्य है।'' आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, ऐसा अरूपी सम्यक् श्रुतज्ञान होना वह साधक है और केवलज्ञान साध्य है। भावश्रुतज्ञान टलकर संसारदशा मिले ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु केवलज्ञान प्राप्त होगा। वास्तवमें केवलज्ञानका साधन तो द्रव्यस्वभाव है, परन्तु यहाँ पर्यायसे बात लेना है। भावश्रुतज्ञान होनेके पश्चात् लब्धियाँ प्राप्त हों, पुत्र मिलें, देवियोंको नीचे उतारे–वह उसका फल नहीं है। भावश्रुतका फल तो केवलज्ञान है। भावश्रुतज्ञान होने पर क्रमशः चारित्र पूर्ण होता है और केवलज्ञान होता है।

जिसे शास्त्रोंकी खबर नहीं है, आत्मा क्या? द्रव्य क्या? राग क्या? स्वभाव क्या? उसकी खबर नहीं है उसे धर्म नहीं होता। उसके व्रत, तप, शून्यके समान हैं।

(४३) ''चेतनमें चित्त लगाना साधक है, अनुभव साध्य है।'' आत्मामें आनन्दका अनुभव कैसे हो? शान्तिका अनुभव कैसे हो? विवेक द्वारा अपने चित्तको बदलकर ज्ञानमें लीन करे वह साधन है और आनन्दका अनुभव करे वह साध्य है।

(४४) ''अनुभव साधक है और मोक्ष साध्य है।'' आत्माका अनुसरण करके आनन्दका स्वाद लेना साधक है और पूर्णदशा होना उसका फल है, क्योंकि अपूर्ण अनुभवदशा मिटकर मोक्ष होता है।

(४५) ''नयभंगी साधक है और प्रमाणभंगी साध्य है।'' निश्चयनयसे आत्मा त्रिकाल शुद्ध है और व्यवहारनयसे पर्यायमें अशुद्ध है; द्रव्यस्वभाव भूतार्थ है और पर्याय अभूतार्थ है, वह नयभंगी है। उसका फल प्रमाण है, सम्पूर्ण द्रव्यको सिद्ध करना है। कभी अस्तिको मुख्य किया हो और नास्तिको गौण किया हो, तथापि सम्पूर्ण वस्तुको प्रमाण द्वारा ध्यानमें लेना वह फल है।

स्यात्‌अस्ति, स्यात्‌नास्ति, स्यात्‌अस्तिनास्ति, स्यात्‌अवक्तव्य, स्यात्‌अस्तिअवक्तव्य, स्यात्‌नास्तिअवक्तव्य, स्यात्‌अस्तिनास्ति अवक्तव्य—इस सातों भंगोंका फल अखण्ड आत्माको सिद्ध करना है। मात्र नयभंगोंमें रुकना वह नयका प्रयोजन नहीं है।

(४६) ''प्रमाण सप्तभंगी साधक है और वस्तु सिद्ध करना साध्य है।'' श्रुतज्ञानके एक पक्षको नय कहते हैं और सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको प्रमाण कहते हैं। आत्मा अस्तिनयसे अस्ति है और नास्तिनयसे परसे नहीं होनेरूप है। इसप्रकार भंगोंका ज्ञान करवाकर सम्पूर्ण प्रमाणका ज्ञान करवाते हैं।

प्रमाण श्रुतज्ञान साधक है और सम्पूर्ण वस्तुका सिद्ध होना उसका फल है। विवेचन द्वारा वस्तुधर्मको गौण–मुख्य करे वह नयसप्तभंगी है

और गौण–मुख्य न करके अभेदवृत्ति–अभेद उपचारसे कहे वह प्रमाण सप्तभंगी है।

(४७) ''शास्त्रका सम्यक् अवगाहन साधक है और श्रद्धागुणज्ञपना साध्य है।'' शास्त्रका सम्यक् अवगाहन करे और पढ़े तो साधक हो; उसमें से श्रद्धागुणका ज्ञान करना वह साध्य है। पूर्ण चिदानन्दकी प्रतीति करे उसे श्रद्धा कहते हैं। जो आत्माकी श्रद्धा नहीं जानता उसने शास्त्रका अवगाहन नहीं किया है।

यहाँ जो शास्त्रका सम्यक् प्रकारसे अवगाहन करे उसकी बात है। अहो ! त्रिकाल शुद्ध अखण्ड आत्मा मेरी श्रद्धाका विषय है। शास्त्र ऐसा कहना चाहता है ऐसी अपूर्व महिमा लाकर शास्त्रका भाव समझे उसे सच्ची श्रद्धा प्रगट होती है।

श्री समयसारकी ११वीं गाथामें कहा है कि—व्यवहार अभूतार्थ है। भूतार्थके आश्रयसे जीव सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है। इसप्रकार शास्त्रका अवगाहन करना। पर्यायको अभूतार्थ क्यों कहते हैं? पर्याय द्रव्यमें नहीं है, —ऐसा कहकर क्या कहना चाहते हैं? सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तो पर्याय है तब क्या कहना चाहते हैं?

भूतार्थके आश्रयसे सम्यग्दर्शन होता है। पर्यायके निषेधका कारण क्या? अखण्डस्वभावको बतलानेके लिए पर्यायको गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। पर्यायके भेदका लक्ष, भेदका आश्रय छुड़वानेके लिए, त्रैकालिक शुद्ध ज्ञायकमात्र भूतार्थका आश्रय करवानेके लिए ऐसा कहा है। इसप्रकार शास्त्रका बराबर अवगाहन करे तो वह साधन होता है। सम्पूर्ण चैतन्यतत्त्वका विश्वास करवाता है। अनेक प्रकारके भेदोंको गौण करके निकाल दिया, सामान्य और विशेषके भेदोंको जानकर अभेदमें से भेदोंको निकाल दिया।

पर्यायको अभूतार्थ किये बिना स्वभावोन्मुख नहीं हुआ जा सकता, इसलिए पर्याय द्रव्यमें नहीं है ऐसा कह दिया है। पर्यायके आश्रयसे

सम्यग्दर्शन नहीं होता, एकरूप सामान्य द्रव्यके आश्रयसे सम्यग्दर्शन होता है ऐसा बतलाना है। इसप्रकार शास्त्रको बराबर समझे तो श्रद्धाका फल आए और तब शास्त्रका सम्यक् अवगाहन किया कहा जाए; इसलिए शास्त्रका सम्यक् अवगाहन साधक है और श्रद्धागुणज्ञता साध्य है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–३७

माघ कृष्णा १२, सोमवार दि० १२-१-५३

आत्माका आनन्दस्वभाव प्रगट होना वह धर्म है। उसमें साधक–साध्य बोल चलते हैं। शास्त्रका यथार्थरूपसे अभ्यास करना, श्रद्धागुणका जानना वह उसका फल है।

(४८) ''श्रद्धागुण साधक है और परमार्थ प्राप्त करना वह साध्य है।'' आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है ऐसा विश्वास होना वह साधन है और परमार्थ प्राप्त होना वह उसका फल है। आत्मा परिपूर्ण आनन्दस्वरूप है—ऐसा प्रतीति कारण होकर पूर्ण आत्माकी प्राप्ति हो सकती है।

(४९) ''साधु पुरुषकी सेवा साधक है, आत्महित साध्य है।'' मुनिकी सेवा साधक है, उसमें आत्महितका लक्ष है। स्वरूपका रक्षण और विभावका विनाश करे वह यति है, उसकी सेवासे आत्महित होता है। संसारि किसी सांसारिक लाभहेतु साधुकी सेवा करे तो वह साधक नहीं है।

(५०) ''विनय साधक है, विद्यालाभ साध्य है।'' सच्चे देव–गुरुकी विनयकी विनय करना वह साधक है, सर्व गुणोंकी ज्ञाता सुविधाकी प्राप्ति होना वह साध्य है। देव–गुरुका एक वचन सुनकर स्वरूपकी विद्या प्राप्त हो सकती है; इसलिए उनका बहुमान करना वह साधक है।

(५१) ''तत्त्वश्रद्धान साधक है, निश्चयसम्यक्त्व साध्य है।'' नवतत्त्वोंकी श्रद्धाका हेतु निर्विकल्प सम्यक्त्व प्राप्त करना है; उसका हेतु पुण्यबन्ध नहीं है। साधक जीव विचार करता है कि जीव चैतन्यमूर्ति है, पर्यायमें राग है, उन सब विचारोंका फल आत्मामें सम्यग्दर्शन अथवा निर्विकल्प प्रतीति होना है।

(५२) ''देव–शास्त्र–गुरुकी प्रतीति साधक है, तत्त्वकी प्राप्ति वह साध्य है।'' देव–गुरु–शास्त्रकी प्रतीति विकल्परूपसे साधक है और आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेना वह फल है।

(५३) ''तत्त्वामृतका पान करना वह साधक है और संसारतापका विनाश होना वह साध्य है। तत्त्वामृतका रसपान करना साधक है, और उसके पीनेसे संसारका खेद मिट जाना वह उसका फल है।

(५४) ''मोक्षमार्ग साधक है और संसारतापका नाश हो जाना वह साध्य है।'' आत्माकी प्रतीति, स्वसंवेदन ज्ञान और रागरहित परिणतिका फल सांसारिक खेदका मिट जाना है।

(५५) ''मोक्षमार्ग साधक है और मोक्ष साध्य है।'' आत्माकी प्रतीति, ज्ञान एवं रमणता साधक है; अशुद्ध एवं अपूर्ण पर्यायका व्यय होकर पूर्ण शुद्ध पर्यायका प्रगट होना वह उसका फल है।

(५६) ''ध्यान साधक है और मनोविकारका विलय साध्य है।'' आत्माके ज्ञानकी लीनता साधक है और मनका संग छूट जाना उसका फल है। आत्मध्यान करनेसे चित्तका संग छूट जाता है, विकार विलीन हो जाता है। ध्यानका फल कोई लब्धि नहीं है, परन्तु रागका नष्ट हो जाना वह उसका फल है।

(५७) ''ध्यानाभ्यास साधक है और ध्यानसिद्धि साध्य है।'' अखण्ड ज्ञानस्वरूपको लक्षमें लेकर अंतरमें अभ्यास करना वह साधक है। ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी अन्तर्मुख परिणति साधक है और ध्यानकी सिद्धि हो जाना वह उसका फल है।

(५८) ''सूत्र तात्पर्यसाधक है और शास्त्रतात्पर्य साध्य है।'' चारों अनुयोगमें जिस गाथामें कहा हो उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा राग एवं परमाणुसे भिन्न है ऐसा समझना। चाहे जो अनुयोग हो, उसकी प्रत्येक गाथाका सार यह है कि स्वभावसन्मुख जाना और रागको मन्द करना। ''गुरुकी विनय करनेसे ज्ञान होता है, ''ऐसा गाथामें आया हो तो यह

समझना कि ''आत्माके आश्रयसे ज्ञान होता है।'' ''अमुक व्यक्ति मरकर नरकमें गया''—ऐसा कथन आए तो वहाँ अशुभपरिणामके फलमें उस जीवको ऐसा संयोग मिला; परन्तु उसका शास्त्र तात्पर्य यह है कि—वैसे परिणाम जितना मैं नहीं हूँ; किन्तु यह आत्मा नित्य ज्ञानानन्दमय है उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके वीतरागता प्रगट करूँ।

(५९) ''नियम साधक है, निश्चयपद प्राप्ति साध्य है।'' किसी प्रकारका नियम ले उसमें रागरहित होना वह प्रयोजन है। नियमरूप आत्मा साधक है और स्वभावमें स्थिरता होना, निश्चयपद प्राप्त करना वह उसका फल है।

(६०) ''नय, प्रमाण, निक्षेप साधक हैं और न्याय, स्थापना साध्य है।'' शास्त्रकारोंने नय, प्रमाण और निक्षेप कहे हैं; उनमें नय और प्रमाण ज्ञानके भेद हैं और निक्षेप ज्ञेयोंका भेद है; उन सबका फल वीतरागता है।

(६१) ''सम्यक् प्रकारसे हेय-उपादेयका जानना साधक है, निर्विकल्प निजरसका पान करना साध्य है।'' विकार छोड़ने योग्य है और स्वभाव उपादेय है। —ऐसे हेय-उपादेयको सम्यक्रूपसे जानना वह कारण है और विकल्परहित आनन्दका आस्वादन करना वह उसका फल है।

(६२) ''परवस्तु विरक्तता साधक है, निजवस्तु प्राप्ति साध्य है।'' परवस्तुसे विरक्ति करना वह साधक है; परवस्तुको छोड़नेकी बात नहीं है। परवस्तुका निमित्तपना छूटा किसे कहा जाता है? अंतरमें निजवस्तुकी प्राप्ति हुई हो तो परवस्तुका त्याग निमित्त कहा जाता है। लोग कहते हैं कि ''नहाये उतना पुण्य'', परन्तु ऐसा है ही नहीं। परका अभाव वास्तवमें कब किया कहा जाता है? कि निजवस्तुकी प्राप्ति करे तब; परन्तु वह नहीं करे तो निमित्त नहीं कहा जाता।

(६३) ''परकी दया साधक है और व्यवहार धर्म साध्य है।'' परप्राणीको नहीं मारनेका शुभभाव साधक है और उसका फल पुण्य है—

व्यवहार धर्म है। परकी दया पाल सकता है वह बात नहीं है, परन्तु शुभभावकी बात है।

(६४) ''स्वदया साधक है, निजधर्म साध्य है।'' मेरा स्वरूप रागरहित है, वह साधक है। हिंसाके भाव तथा पुण्य–पाप, दया–दानादिके भाव हैं वह अशुद्धभाव हैं, वह निश्चयसे स्वभावकी हिंसा है। उनसे रहित स्वकी दया वह साधक है और निजधर्म साध्य है। परकी दयासे निजधर्म नहीं सधता, किन्तु स्वदयासे निजधर्म सधता है।

(६५) ''संवेगादिक आठ गुण साधक हैं, सम्यक्त्व साध्य है।'' संवेग अर्थात् मोक्ष–अभिलाष, रागसे उदासीनता आदि भाव साधक हैं और सम्यक्त्व साध्य है। यह बोल पंचाध्यायीमें आता है। निर्विकल्प आत्माकी प्रतीति करे तो संवेगादिको निमित्त कहा जाता है।

(६६) ''चेतन भावना साधक है, सहजसुख साध्य है।'' भगवान आत्माकी भावना कारण है। चैतन्यमें एकाग्रता करना वह कारण है और अनाकुल आनन्द आना वह उसका फल है। ''आत्मभावना भानेसे जीव पाए केवलज्ञान''—ऐसे शब्द रट लेनेकी बात नहीं है। आत्माका स्वभाव ज्ञाता–द्रष्टा है ऐसा जाने तो यथार्थ भावना कहलाती है। जाने बिना भावना सच्ची नहीं हो सकती। भावनाके फलमें आनन्द प्रगट होता है।

(६७) ''प्राणायाम साधक है और मनोवशीकरण साध्य है।'' प्राणायाम साधक है, उसके कारण मनकी स्थिरता होती है, आत्माकी स्थिरता नहीं होती।

(६८) ''धारणा साधक है, ध्यान साध्य है।'' आत्मा शुद्ध चिदानन्द है,—ऐसी धारणा करना वह साधक है। ध्यानकी धारणाकी बात है। उसमें से ध्यान होना वह साध्य है। शरीरको जमीनमें गाड़ दे तब भी आह ! न करे वह धारणाका फल नहीं है। अंतरमें एकाग्र होना वह फल है।

(६९) ''ध्यान साधक है और समाधि साध्य है।'' ध्यान साधक

है और आधि, व्याधि, उपाधिरहित आत्माकी समाधि वह फल है।

(७०) ''आत्मरुचि साधक है और अखण्ड सुख साध्य है।'' आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसकी रुचि साधक है और अखण्ड सुख वह साध्य है। अखण्डरूपसे आत्माकी रुचि करे तो खण्ड–खण्ड सांसारिक सुख नष्ट होकर अखण्ड सुखकी प्राप्ति हो। लोग कहते हैं कि—हमें विश्वास है कि हम मरकर भगवानके पास जाएँगे,—वह आत्माके विश्वासका फल नहीं है। आत्माके अखण्ड सुखको प्राप्त करना वह फल है।

(७१) ''नय साधक है और अनेकान्त साध्य है।'' त्रैकालिक स्वभावको जाने वह निश्चयनय है, पर्यायको जाने वह व्यवहारनय है। ऐसा जानकर अनेकान्त सिद्ध करना है। द्रव्यका द्रव्यधर्म है, पर्यायका पर्यायधर्म है। संसार पर्यायमें विकार है और स्वभावमें विकार नहीं है, इसप्रकार साध्य है।

(७२) ''प्रमाण साधक है और वस्तुको प्रसिद्ध करना साध्य है।'' द्रव्य और पर्याय, सामान्य और विशेषको जानना वह प्रमाण साधक है और वस्तुकी प्रसिद्धि होना वह फल है।

(७३) ''वस्तुग्रहण साधक है, सकल कार्यसामर्थ्य साध्य है।'' आत्मामें अनन्त द्रव्य–गुण–पर्यायोंका निवास है, उस वस्तुका ग्रहण साधक है, उससे पूर्ण केवलज्ञानदशा सिद्ध हुए बिना नहीं रहती। इसलिए सकल कार्यसामर्थ्य फल है।

(७४) ''परपरिणति साधक है और भवदुःख साध्य है।'' विकार साधक है, इसलिए भवदुःखका फल मिलता है। दया–दानके शुभभाव अथवा हिंसादिके अशुभभाव वे दोनों भवदुःखके कारण हैं। ज्ञानीको दया–दानादिका किंचित् राग रहे उतना भवदुःख है; अज्ञानीको मात्र भवदुःख है।

(७५) ''निजपरिणति साधक है और स्वरूपानन्द साध्य है।''

आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है, —ऐसी अपनी श्रद्धा, ज्ञान और रमणताकी पद्धति साधक है और स्वरूपानन्द साध्य है।

—इसप्रकार साध्य–साधक हैं। ऐसे साध्य–साधकके अनेक भेद जानकर आत्माका अनुभव करना वह फल है। आत्मस्वरूपका आनन्द प्रगट हो इस हेतु वह सब भेद बतलाए हैं।

जितनी शुभाशुभ वृत्तियाँ उठें वे कृत्रिम हैं, त्रैकालिक वस्तु नहीं हैं। आत्मा वस्तु सहज अनादि सिद्ध है। जितनी कल्पनाएँ होती हैं वे सब कर्मके आश्रयसे होती हैं।

''उपजे मोह विकल्पसे समस्त यह संसार,
अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहिं बार।''

समस्त कल्पनाएँ कर्मजन्य हैं। आत्मा नित्यवस्तु है। आत्मा अनन्त–आनन्दका रूप है, अनन्त गुणोंकी महिमाको धारण करता है। ऐसे आत्माके सन्मुख होकर, रागरहित भावनासे शुद्धउपयोग धारण करके, स्वरूपसमाधिमें लीनता करो। इसप्रकार आत्मानुभव प्रगट करके परमात्मदशा प्रगट करो।

अब, कोई मानों कहता है कि—''स्वरूपकी ऐसी बात कठिन लगती है। आत्मा आनन्दानुभव कर सकता है,'' यह बात बड़ी लगती है—ऐसा कहकर स्वरूपको कठिन कहता है। वर्तमानमें स्वरूपको समझना कठिन कहनेवाला बहिरात्मा है। अपनी ओर वीर्यको उन्मुख करनेका कार्य उससे नहीं होगा। व्रत पालना और साधुपना लेना वह सरल है परन्तु आत्मस्वरूप कठिन है—ऐसा माननेवालेको स्वकी रुचि नहीं है। एक समयके संसारसे पार जो शुद्धस्वरूप है उसे कठिन माननेवाला स्वरूपसन्मुख नहीं जाना चाहता, वह निमित्तके सन्मुख जाना चाहता है। ''आप द्रव्यानुयोगकी बड़ी–बड़ी बातें करते हो, निश्चयदर्शन, ज्ञान, चारित्रकी बात करते हो वह कठिन है। इस काल तो देव–गुरु–शास्त्रकी भक्ति करो, वर्तमानमें इससे अधिक प्राप्त नहीं हो सकता।'' —ऐसा कहनेवाला बहिरात्मा है।

''आत्माके आनन्दकी बात करते हो वह कठिन लगती है।''—ऐसा माननेवालेका वीर्य आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। ''परकी दया पालना, व्रत पालन करना, यह खाना, यह नहीं खाना–पीना आदि सरल लगता है, परन्तु निश्चयकी बात पकड़में नहीं आती।'' ऐसा कहकर स्वरूपको कठिन मानता है। उसने स्वरूपको ओटमें रखा है। ''निश्चय तो सातवें गुणस्थानमें होता है''—ऐसा कितने ही लोग मानते हैं वह भूल है। विकार एक समयका है और स्वभाव तीनोंकाल विकार रहित है। अब यदि विकारमें ही रुक गया तो स्वभावोन्मुख कार्य नहीं करेगा। विकारको जानेगा, मानेगा और वीर्य वहाँ अटक जायगा, इसलिए वह बहिरात्मा है। जिसने अंतर्स्वरूपको कठिन माना उसको उस ओर की भावना या गति नहीं रहती, स्वरूपकी बात सुननेकी अभिलाषा या रुचि नहीं होती। पहले यथार्थ बात रुचिपूर्वक सुन तो सही!.....तुझे एक समयके विकारकी रुचि आती है किन्तु विकाररहित त्रैकालिक स्वभावकी बात सुननेकी इच्छा नहीं होती। वह अज्ञानीजीव बाह्य पदार्थोंमें—लक्ष्मी और रागमें रुक गया है, उसे अंतरमें आना अच्छा नहीं लगता। विपरीत मान्यताकी शल्य लग गई है उसे स्वरूपकी बात सुनना अच्छा नहीं लगता। ''यह तो निश्चयकी बात है''—ऐसा कहकर उसकी ओर दुर्लक्ष करता है। तू है या नहीं? क्या वर्तमानमें अकेला निमित्त है? अकेला राग है?—वर्तमानमें रागरहित त्रैकालिक स्वभाव है या नहीं? कठिन मानकर जो स्वभावोन्मुख नहीं होता उसे स्वकी भावना नहीं है उसे स्वरूपकी चाह मिट गई है। पुण्यकी, व्रतकी और दयाकी बात करो, दानकी और यात्राकी बात करो—इत्यादि बातें रुचती हैं।

पंचमकालका जीव जोकि स्वरूपको कठिन कहता है और अन्तर्मुख होना जिसे महँगा लगता है उससे कहते हैं कि भाई! आजसे अधिक परिग्रह तो चक्रवर्ती आदिको था। उनके ९६००० रानियाँ थीं। चौथे कालमें तो पुण्यका विशेष था, तेरे यहाँ तो ९६००० नलिए भी नहीं हैं; तथापि अंतरकी बात—अंतरकी भावना करनेका तुझे अवकाश नहीं मिलता। तेरी रुचि बाह्यमें है, बाह्य लक्ष्मी आदिका भी ठिकाना नहीं है।

चौथे कालमें पुण्यवंत जीव—तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदिके पास विशाल ऋद्धि थी, तेरे पास तो अल्प ऋद्धि होने पर भी तू उसमें रुक गया है। परिग्रह जबरन्–बलजबरीसे राग नहीं करवाता। परिग्रह चाहे जितना हो वह राग–विकार नहीं करवाता, वह कुछ नहीं कहता, यह जीव व्यर्थ ही दौड़–दौड़कर वहाँ जाता है।

चौथे कालमें गहनों, कपड़ों आदिका पार नहीं था, तथापि आत्माकी प्रतीति करके धर्म करते थे। यहाँ संयोगोंका कोई ठिकाना नहीं है, फिर भी धर्मके लिए समय नहीं मिलता—ऐसा तू कहता है। स्त्री–पुत्र या पैसा जबरन् तो नहीं कहते कि तू हमारी ओर देख, परन्तु अज्ञानी जीव दौड़–दौड़कर संयोगी वृत्तिमें जाता है।

देशकथा, राजकथा आदि कथाएँ करता है, परन्तु स्वरूपकी कथा करे तो कौन रोकता है? कर्मने रोका ऐसी बात नहीं की है। स्त्रीकी कथा कहता है, गहनोंकी कथा सुनता है, विचारता है, परन्तु स्वरूपका विचार करे तो कौन रोकता है? आत्मस्वरूपके परिणाम करे तो रोकता नहीं है; स्त्री–पुत्र भी नहीं रोकते। अज्ञानी कुकथामें लगा रहता है किन्तु आत्मकथामें नहीं लगता। अध्यात्मकी बातको कठिन मानता है, उसकी रुचि विषय–कषायमें रहती है। अवकाश मिले तो विकथा करता है। परपरिणामको सुगम मानता है, स्त्री तथा पुत्र–पौत्रादिके विचार उसे सरल लगते हैं और आत्माके विचारोंको कठिन मानता है। भाई ! एकबार स्वीकार तो कर कि आत्मामें ही सुख है? परन्तु आत्माके परिणामोंको कठिन और विषय–भोगादिको सरल मानता है। देखो, आश्चर्यकी बात ! यह अध्यात्मकी बात सुनकर सिर चकराने लगता है—ऐसा कहता है।

स्वयं देखता है, जानता है, फिर भी देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता—ऐसा कहता है । तेरे–अपने अस्तित्वके बिना दिखता नहीं है, तथापि आत्मा जानने–समझनेमें नहीं आता—ऐसा तू कहता है? ऐसा कहते हुए तुझे शर्म नहीं आती? लज्जित नहीं होता? देखने–जाननेवाला

न हो तो यह सब कैसे जाननेमें आता है? यह सब तो अपने ज्ञानप्रकाशमें ज्ञात होता है।

घट पट आदि जान तू

तेरा ज्ञान कैसा है कि—जिस स्वभावके अस्तित्वमें सब जाना जाता है। जगतके अस्तित्वका ज्ञानने ही निर्णय किया है, तथापि ज्ञान अपना अस्वीकार करता है। हमें आत्मा समझमें नहीं आता—ऐसा कहते हुए तुझे शर्म नहीं आती? सांसारिक बातोंमें तो तू बड़ा चतुर है, परन्तु स्वयंको जाननेमें धृष्टता क्यों? अपनी विपरीतताके कारण तूने हठ पकड़ रखी है। दर्शनमोहनीयकर्म बाधक है वह बात यहाँ नहीं की है। धृष्टता कर-करके तुझे परका व्यसन लग गया है इसलिए, आत्मस्वभावकी रुचि नहीं करता। आत्मस्वभावकी रुचि होना ही धर्म है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–३८

माघ कृष्णा १३, मंगलवार दि० १३-१-५३

आत्मोन्मुख होकर अनाकुल शान्तिका वेदन होना उसे अनुभवप्रकाश कहते हैं। पर्यायमें विभाव होने पर भी त्रैकालिक स्वभाव तो विभावरहित है—ऐसा प्रतीतिके जोरमें अनुभव होना वह धर्म है। आत्मा अनन्त शक्तिका भण्डार है, जितनी पर्यायें निकालना चाहे उतनी निकल सकती हैं—ऐसी प्रतीति करे तो धर्म हो।

अनादिकालसे संसारमें चतुराई की है, परन्तु स्वयंको जाननेमें अज्ञान है। अज्ञानता करके विकारको पकड़ पकड़कर परका व्यसन हो गया है। जैसे अमल (नशा) चढ़े और उसे छोड़ नहीं सके, वैसे ही पुण्य–पापका व्यसन हो गया है। स्वयं पुण्य–पापमें दक्ष हो गया है। कर्मने दक्ष नहीं कराया है। देह–मन्दिरमें विराजमान प्रभु आनन्दमूर्ति है, उसका व्यसन न करके पुण्य–पापका व्यसन हो गया है । ध्रुवस्वभावकी शुद्धिको भूलकर अनेक प्रकारके भव किये हैं। जैसे लैंडी पीपरमें भीतर शक्ति पड़ी है, वैसे ही आत्मामें आनन्द एवं शुद्धता भरी है, उसे भूलकर अनेक भव धारण किए हैं। स्वभावकी शुद्धतामें अंधा होकर विकारमें सर्वस्व मानकर विकारके धंधेमें लग गया है। अज्ञानी जीव बाह्यमें दया–दानादि वृत्तियोंमें सुख मानकर दौड़ रहा है, विकार करूँ तो धर्म होगा—ऐसा मान रहा है।

शास्त्रमें प्रत्येक गुणको व्यापारी कहा है। आत्माका ज्ञानस्वभाव है वह अपनी रीतिको नहीं छोड़ता; अज्ञान एवं राग–द्वेष नहीं करता, इसलिए ज्ञान व्यापारी है। अज्ञानी ज्ञान-व्यापारकी रुचि छोड़कर अंधा होकर पुण्य–पापकी रुचिमें दौड़ता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है उसकी उसे खबर नहीं है।

अब सत्संग प्राप्त हुआ, श्रवण मिला, अपनी ऋद्धि अपनेमें है, बाहरकी रुचि छोड़कर अंतर अवलोकन कर। विकार आत्माका स्वरूप नहीं है। भव प्राप्त करके पुण्य करूँ तो धर्म प्राप्त हो—ऐसी वासना छोड़। स्वयं अपनेसे प्राप्त करता है, परमें स्वयं नहीं है इसलिए परसे प्राप्त नहीं करता। स्वयं ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानलक्षण है और आत्मा लक्ष्य है। इसप्रकार लक्षण द्वारा आत्माको जाने कि ज्ञान ही मैं हूँ, राग, शरीर, मन, वाणी वह मैं नहीं हूँ। शुभाशुभभाव होते अवश्य हैं, परन्तु वे मेरा स्वरूप नहीं हैं। जितनी शक्ति परमात्मामें है उतनी शक्ति मुझमें है—ऐसा चिन्तवन करके अपनी रागरहित दशामें वृद्धि करे, अन्यका चिन्तवन छोड़े और अपना चिन्तवन करे। अपनेमें वीतरागताकी वृद्धि करे इसका नाम अनुभवप्रकाश है।

मैं आत्मा अनाकुल शांत हूँ, मेरा उपभोग मेरे पास है, विकारका उपभोग मेरा सच्चा उपभोग नहीं है—ऐसी रुचि करके विशेष स्थिरता करे तो स्व-रसकी प्राप्ति हो और कर्मबन्धन छूट जाय। इतने तप करे तो कर्म कट जाए ऐसा नहीं कहा है।

ज्ञानकी वर्तमान प्रगट दशा अल्प है, परन्तु अल्पका आधार अल्प नहीं है। त्रैकालिक शक्तिका आधार है। स्वयं भगवान आत्मा है, उसकी रुचि और ज्ञान करे तो स्वरस प्राप्त करे और कर्मबंध कट जाए।

जितने ज्ञान और वीर्य प्रगट हैं उनको अंतर्मुख करे और प्रधान ज्ञानगुण तथा उसकी परिणतिका ध्यान धरे तो सुखकी प्राप्ति हो। विकारको ध्याना नहीं कहा है।

लोग बाह्य उपवासादिमें धर्म मानते हैं, परन्तु उनमें धर्म नहीं है। गुणवान आत्माका भजन करे तो धर्म हो सकता है। आत्माको ध्याये तो राग-द्वेष रहित होकर अंतरस्थिरता हो और स्वरसका रसास्वादन करे, उसको अनुभव कहते हैं उसे दूर कैसे बतलाते हैं? कस्तूरी-मृगकी नाभिमें कस्तूरी होने पर भी वह बाहर ढूँढ़ता है, वैसे ही आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, आनन्दादि शक्तियाँ हैं उन्हें दूर क्यों बतलाते हैं?

ऐसा कहते हुए शर्म नहीं आती? आत्माकी रुचि छोड़कर परकी रुचि करते हैं वह आश्चर्य है ! भीतर चिदानन्दमूर्ति विराजमान है उसकी रुचि करके भवकी भावना घटाए तो इन्द्रियों से, मनसे या विकारसे जाननेमें न आए और ज्ञानसे जाननेमें आए—ऐसे आत्माको पहिचाने। ज्ञान मंत्री है; राज्यमें मंत्री सबको जानता है, वैसे ही ज्ञान–मंत्री राग, निमित्त तथा सर्व गुणोंका पता जानता है। स्वयं अपनेको जाने तो वह अपना रूप दिखलाए बीना न रहे। आत्मा चिदानन्द है, उसका भजन करे तो अविनाशीरसका स्वाद आए–अनुभव हो, जिसका गुणगान भव्य जीव करते हैं। पुण्य–पापरहित चैतन्यकी श्रद्धा–ज्ञानसहित अनुभवके गीत गाते हैं। अहा ! आत्मानन्दके निकट इन्द्रका इन्द्रासन या चक्रवर्तीपद सड़े हुए तिनके के समान है—ऐसा धर्मी जानता है। पुण्य–पापके भाव घुलके समान हैं। योग्य प्राणी आत्माके गीत गाता है। निमित्त, संयोग या विकारादि हैं परन्तु उनके गीत नहीं गाता, निश्चयपदके गीत गाता हैं। जिसकी महिमा अपार है ऐसा भगवान आत्मा देहमन्दिरमें विराजमान है, उसके गीत गानेसे भवका भार मिट सकता है। इसप्रकार समयसार अर्थात् शुद्ध अविकारी आत्माको जान लेना। आत्मा विकाररहित है वह समयसार है; उसे जान लो, उसको जाननेमें आनन्द है।

हे जीवों ! सदैव पुरुषार्थ करो ! आत्मस्वरूपकी रुचि और अनुभव करो जिससे स्वयं अपना द्रोह न हो। शरीरमें, विषयोंमें और लक्ष्मीमें सुख माने, पुण्य–पापमें सुख माने वह द्रोही है। अपूर्णदशामें भक्ति तथा दया–दानके भाव उस–उस कालमें आते हैं, परन्तु उनसे मोक्षमार्ग होगा ऐसा माननेवाला द्रोही है। अपने चिदानन्द आत्माका अवलोकन करो।

घरमें कोई अच्छा गहना आए तो लोग उसे अच्छी तरह देखते हैं। यहाँ कहते हैं कि भीतर अरूपी सुन्दर गहना पड़ा है उसका अवलोकन कर ! उस ओर उपयोग लगाए तो शुद्ध उपयोग होगा और दया–दानादिका तथा निमित्तका वियोग हो जायगा। वस्तु स्वाभाविक है उसे जानना। यह

तो अनादि–अनन्त वस्तुस्वरूपकी बात है। स्वयं तीनलोकका स्वामी है। जो प्रसिद्ध है ऐसे आत्माका स्वामित्व स्वीकारे तो प्रगटरूपसे तीनलोकका स्वामी हो जाए। ब्रह्मा, ईश्वर, शंकर आदि रूपमें स्वयं ही है। उसकी श्रद्धा करे तो प्रगट दशा हो जाए। यह प्रसिद्ध बात है। आत्माका शस्त्रसे छेदन नहीं होता, अग्निसे जलता नहीं है, पवनसे सूक्ष्म है, हाथ द्वारा हाथ आए ऐसा नहीं है, तथापि ज्ञानसे जाना जा सके ऐसा है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूपसे प्रसिद्ध है। अपने स्वरूपका प्रेम करके अपने परिणामको धारण करे तो वीतरागभावका मर्म प्राप्त कर ले। रागके साथकी एकता तोड़नेका अवसर मिला है; तेरी ऋद्धि भीतर पड़ी है। ऐसा उपाय मिलना कठिन है। इन्द्रपद प्राप्त हो जाए, सेठाई मिल जाए, धन–सम्पत्ति मिल जाए, वह सब इसके समक्ष धूल समान है। आत्माकी श्रद्धा–ज्ञान–रमणताका उपाय मिल जाना कठिन है। जो अनन्तकालमें नहीं किया ऐसा कर—इसके बिना भवफन्द नहीं कटेगा; इसलिए जिससे भवफन्द कट जाए ऐसा भाव धारण करो।

अभिमानके खम्भेको उखाड़ दे। हम बहुत बड़े हैं—शरीरमें, रूप–रंगमें, मान–सन्मानमें, पुण्यमें—ऐसे अभिमानको छोड़ दे। चिदानन्द प्रभुको देखनेसे मान गल जाता है। एकबार ज्ञाननेत्रोंको खोल और कुटिलताके जालको जला दे। स्वभावकी अरुचि और परकी रुचिरूप क्रोधाग्निको बुझा दे ! जैसे पानीमें तरंगें उठती हैं उसीप्रकार लोभकी तरंगें उठती हैं। दो लाख रुपये मिल जाएँ तो पाँच लाखका लोभ लग जाता है। उन सब तरंगोंको मिटा दे और स्वभावमें लीनता कर !

वस्तु त्रिकाल है उसे देखनेका प्रयत्न कर। विषय भावनाको मत भा ! हे चिदानन्द राजा ! अपने पदको देख....देख....जिसके प्रकाशमें लोकालोक दृष्टिगोचर होते हैं ऐसा पद देख। अपने पदको ढूँढ़। पर्यायको अन्तरोन्मुख करके देखो कि सम्पूर्ण वस्तुकी सत्ता किस प्रकार है? जो 'है' यह वर्तमान जितना है या त्रैकालिक है? उसका पता लगाओ ! साता–असाता और विकारका उच्छेदन करके स्वाभाविक भावको धारण

करके, अन्तर्वेदन करो। जिसप्रकार गंगा प्रवाहित है वैसे ही आत्मामें ज्ञानधारा बह रही है। ज्ञानके कारण आत्माको ज्ञायक कहा गया है। ऐसे आत्माको देखने पर शान्ति एवं आनन्दका अनुभव होता हैं। ऐसे परमात्माको तुम देखो!

परन्तु अनादिसे विकाररूपी दशामें ललचा रहा है। पुण्य–पापकी वृत्तिमें ललचा गया है। कुमति सखीका संग चार गतियोंमें भ्रमण कराऐगा, इसलिए विकारमें मत ललचाना। हे आत्मा ! अपनी स्वाभाविक निर्मल दशारूपी रानीके वियोगसे तू अत्यन्त दुःखी हुआ है। अब वीतरागी शान्तिका उपभोग कर। अतीन्द्रिय भोगको भोग, अन्यत्र कहीं तृप्ति नहीं मिलेगी। निजपरिणति उपादेय है, वहाँ स्वाभाविक निर्विकल्प रस बरसता है। पर्वतमें से पानीके झरने बहते हैं; वैसे ही आत्मामेंसे अविनाशी शांतरस झरता है, जिससे संसारका आताप मिटता है। अपने स्वभावका आचरण कर।

पानकी पिचकारीमें पद्मरागमणिकी कल्पनासे व्यर्थ ही आनन्द मान रहा है। थूकको मणि मानकर आनन्द मानता है, वैसे ही परमें निजभावकी कल्पनासे व्यर्थ उत्साहित होता है। संसारमें लोग किसी अन्तिम विवाहमें आकांक्षा पूरी होना कहते हैं, वह तो मात्र कषायरस है। आज कल तो आनन्द है—ऐसे कहते हैं। चारों ओर धन खर्च करके आकुलतामें अपने स्वभावकी कल्पना करके इच्छा पूरी होना मानते हैं, परन्तु उसमें तेरी इच्छाकी पूर्ति नहीं होगी।

आकाशमें एक देव है, उसके हाथमें चिन्तामणि है, उसके प्रतिबिम्बको पानीके बर्तनमें देखकर मनमें विचार करता है कि मुझे चिन्तामणि प्राप्त हुआ, परन्तु वह तो प्रतिबिम्ब है। उसे मणि मानकर लाखोंके मकान बनवानेका विचार करे अथवा लाखों रुपयोंका कर्ज कर ले तो वह व्यर्थ है; उसमें कोई सिद्धि नहीं है। अज्ञानी जीव कहता है कि शुभभावसे सुखी होंगे, अथवा बाहुबलसे खूब पैसा कमाया अब आरामसे भोगेंगे—इसप्रकार मौज मानता है। वह चिन्तामणि नहीं है वहाँ

तो आकुलता है। आत्माकी छाया पुण्य–पापमें पड़ी और उसके फलमें संयोग प्राप्त हुए। पुण्यफलके आश्रयसे सुख मानेगा तो दुःखी होगा; उसमें तेरी सिद्धि नहीं है। जिसप्रकार किसीकी ऋद्धि देखकर जीव सुखी नहीं होता, वैसे ही विकारसे तू सुखी नहीं होगा। झूठी कल्पना तुझे ही दुःखदायक है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है; वह सच्चा मणि है। अज्ञानी उसे नहीं देखता। पुण्य–पाप और संयोग प्रतिबिम्बके समान हैं। प्रतिबिम्बमें कुछ भी हाथ नहीं आ सकता, तथा अनित्य वस्तु एवं विकारी भावमें शान्ति खोजने जाऐगा तो नहीं मिलेगी। अखण्ड वस्तु ज्ञान और आनन्दरूप है उसे देखो ! तुम्हारा ब्रह्मसरोवर नित्य आनन्दामृतके रससे परिपूर्ण है। जिसके अनुभवसे अमर हुआ जा सके ऐसे अनुभवरसका पान करो !

प्रवचन–३९

माघ कृष्णा १४, बुधवार दि० १४-१-५३

अनुभव वर्णन

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसका अनुभव करते हुए ज्ञान किस प्रकार कार्य करता है उसका यह वर्णन है। पुद्‌गल कर्मसे पाँच इन्द्रियों एवं मनरूप शरीर हुआ है, उसके प्रमाणमें जीव व्याप्त है, पर्यायमें तद्रूप परिणमित है। शरीरमें व्याप्त होनेसे जीवको भी इन्द्रिय एवं मनसंज्ञा नाम प्राप्त है।

तदनुसार भावेन्द्रिय अर्थात् खण्ड–खण्ड ज्ञानको पाँच भेद तथा पर्यायमें मनन–विचार करता है वह भावमन—ऐसे छह भेद जानने–देखनेके व्यापारमें पड़े हैं। ज्ञान किस प्रकार व्याप्त है उसका वर्णन करते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ और मन जड़ हैं, उनमें आत्मा एक क्षेत्रमें व्याप्त है। उसके उपयोगके छह भेद किए। उनमें एक व्यापार एक समयमें एकको ही जानता–देखता है। आँखका उपयोग देखता है, मनका उपयोग विकल्पको जानता है। मनके व्यापारमें भेद पड़ा वह मनके परिणामकी सीमा है, उसे भावमनका भेद कहा। ''देख सन्त ! इसको एक ज्ञानका नाम लेकर कथन करता हूँ? उस ज्ञानकथनसे दर्शनादि समस्त गुण आ गए।'' अज्ञानी और ज्ञानी किस प्रकार जानते हैं वह बतलाते हैं।

मन और इन्द्रियके निमित्तसे जो ज्ञान कार्य करता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। अपने कारण प्रत्येक ज्ञान अपना–अपना कार्य करता है। मतिज्ञानसे विशेष कार्य करे वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान अपनेमें कार्य करता है। दोनों ज्ञानपर्यायें मिथ्यारूप और सम्यक्‌रूप होती हैं।

जिसकी दृष्टि परके ऊपर है उसके ज्ञानकी पर्याय मिथ्या है, उसे स्व–परकी खबर नहीं है। स्व–परको जाननेवाला ज्ञान अपनेमें व्याप्त रहता

है किन्तु परमें व्याप्त नहीं होता। ऐसा अज्ञानी नहीं जानता। स्वपरका जानना अपना है, तथापि शरीरादि परमें तथा रागमें एक नहीं होता। ज्ञान ज्ञानमें रहकर कार्य करता है, वह परमें व्याप्त नहीं होता तथापि परको जानता है—ऐसी उसे खबर नहीं है। अज्ञानी तप और त्याग करता है परन्तु सच्चे ज्ञानकी प्रतीति नहीं है। ज्ञान परमें, रागमें या मनमें लीन हुए बिना स्व–परको जानता है ऐसी उसे खबर नहीं है। कदाचित् अज्ञानी कहता है कि यह राग है, यह विकार है, यह शरीर है; —ऐसा व्यवहारसे कहे तथापि अपनी जातिको जाने बिना वास्तवमें वह परको नहीं जानता। आत्मा वस्तु है, ज्ञानगुण त्रिकाल है और उसकी पर्याय अपनेमें रहकर कार्य करती है। ऐसा जाने तो राग तथा परमें व्याप्त नहीं होता, किन्तु स्वमें रहकर जान लेता है ऐसा कहा जाता है, परन्तु ज्ञान त्रिकाल शुद्ध है ऐसी मिथ्यात्वीको खबर नहीं है। गुण–गुणी तादात्म्य एकरूप हैं और विकार, शरीर, मन, वाणीसे तन्मय नहीं है। आत्माकी निर्विकल्प प्रतीति नहीं हुई है, इसलिए अज्ञानीका ज्ञान स्वमें तो व्याप्त नहीं होता, परन्तु परमें व्याप्त होता है या नहीं वह भी नहीं जानता। परको वास्तवमें जानता हो तो स्वको भी जानना चाहिए। स्वमें रहकर परमें प्रवेश हुए बिना जान ले ऐसी यथार्थता प्रगट नहीं हुई है। अनन्त विकार किए, विकल्प किए तथापि वस्तु तो ज्योंकी त्यों शुद्ध है। ऐसा जाने बिना जो ज्ञान विकसित हुआ हो वह स्व और परको नहीं जानता।

सम्यग्दृष्टि शरीर तथा रागादिको पर जानता है। अपने ज्ञानके अंतर्अनुभवमें रहकर रागको जानता है, रागमें जाकर रागको नहीं जानता। चौथे गुणस्थानमें रहा हुआ सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा होता है। मिथ्यादृष्टिके अज्ञानके समक्ष सम्यग्दृष्टिके ज्ञानकी बात करते हैं।

मिथ्यादृष्टिको ज्ञानकी जातिकी खबर नहीं है। वह विकारको जानता है ऐसा कहना वह भी कथनमात्र है, वास्तवमें तो उसे भी नहीं जानता। सम्यग्दृष्टि दयादिको जानता है। मेरा ज्ञान मुझमें रहकर परमें मिले बिना जानता है। रागमें तन्मय होकर ज्ञान कार्य नहीं करता। दया–दान कृत्रिम हैं, आत्माका स्वभाव नहीं है। जिसकी ज्ञानपर्याय स्वभावोन्मुख होती है

उसका ज्ञान राग तथा परमें एकमेक होकर परको नहीं जानता, एकमेक होकर जानना वह ज्ञानका स्वभाव नहीं है। ऐसी सम्यग्दृष्टिको खबर है।

अज्ञानी जीव दया, पूजा, भक्तिके भाव करे तो कहता है कि यह दया मैंने पाली, परकी भक्ति मैंने की, दया–दान–व्रतके शुभरागको अपना स्वरूप समझकर अवलम्बन लेता है—शुभभाव आए तब मिथ्यादृष्टि जीव—यह राग मेरा कर्तव्य है—ऐसा मानता है; वह उसमें एकाकार हो जाता है।

धर्मात्मा जीव विकारका और पुण्यका अवलम्बन नहीं लेता, परन्तु स्वभावका अवलम्बन लेता है। वस्तुके अवलम्बनसे चारित्र होता है, परन्तु दया–दानके अवलम्बनसे चारित्र नहीं होता। अज्ञानी दया–दानके भावको चारित्र मानता है।

सम्यक्त्व सविकल्प और निर्विकल्परूपसे दो प्रकारका है।

चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थानवाला जीव रागको तथा महाव्रतको जानता है। उनमें मैं व्याप्त नहीं होता, किन्तु मैं अपनेमें व्याप्त होता हूँ,—ऐसा भी जानता है कि वह सविकल्पता है। रागमें प्रविष्ट हुए बिना जानता है। उसका विस्तार रागमें नहीं है। मेरा स्वरूप ज्ञान है, रागादि विकार पररूप है ऐसा जानकर ज्ञानमें तन्मय रहता है वह सविकल्प सम्यक्ता है। धर्मीको विकल्प उठा है परन्तु उसमें प्रविष्ट हुए बिना उसका ज्ञान रागको जाने उसे सविकल्प सम्यक्ता कहते हैं। एक समयकी ज्ञानपर्याय रागके साथ एकमेक होकर जाने वह सम्यक्ज्ञान नहीं है। साधक ज्ञानीको सर्वथा रागका अभाव नहीं हो गया है। सर्वथा रागका अभाव हो गया हो तो सर्वज्ञ दशा हो, परन्तु अपूर्ण दशामें राग आता है, तब रागको पर ज्ञेयरूप जानकर बुद्धिपूर्वक राग ध्यानमें वर्ते उस दशाके सविकल्प सम्यक्ता कहते हैं।

वस्तु ज्योंकी त्यों शुद्ध है। अनन्तकाल बीत गया और कितनोंको अनन्तकाल बीतेगा तथापि आत्मवस्तु ज्योंकी त्यों है। ज्ञानीको वास्तवमें ज्ञानका ही उत्पाद है। ज्ञानीको युद्धके परिणाम होने पर भी स्व–पर

प्रकाशक ज्ञान द्वेषको जानता अवश्य है परन्तु द्वेषके साथ तन्मय नहीं होता।

निम्नदशावाले जीवको विषयवासनाकी वृत्ति होती है तथापि उस काल भी ज्ञानकी पर्याय ज्ञानके साथ अभेद होकर तथा अशुभ रागके साथ तन्मय हुए बिना रागको जाने वह सम्यक् सविकल्पता है। ऐसी दृष्टिके बिना सच्चा ज्ञान नहीं होगा और चारित्र भी सम्यक् नहीं होगा।

तथा ज्ञान अपने आत्माको जाने और निर्विकल्प अनुभवके समय ज्ञान ज्ञानके अनुभवमें लीन है तब आत्मा व्यापक है और ज्ञानपर्याय व्याप्य है, वह निर्विकल्पमें सम्यक्ता है, वहाँ अबुद्धिपूर्वक रागकी बात गौण है।

अकेले पूर्णानन्द आत्माको सर्व स्वरूपसे जाने और सर्व परको पररूप जाने वहाँ चारित्रकी पूर्ण शुद्धि होती है। एक समयमें अकेले निजानन्दकी पूर्ण लीनता हो गई और परको पररूप जानकर स्वमें सर्वथा स्थिर हो गया तब नितान्त वीतरागता होती है। वहाँ चारित्र परम शुद्ध है।

वस्तु तो वस्तु है, उसके ध्रुवस्वभावी गुण त्रिकाल हैं। मति-श्रुत एवं चारित्रकी पर्याय परिपूर्ण स्थिर हो वह परिपूर्णदशा है। उसमें परका ज्ञान आ जाता है। ऐसा यथार्थ श्रवण करे कि इसके सिवा अन्य कोई मार्ग हो नहीं सकता तो स्वसन्मुख होनेका अवकाश है।

अज्ञानी परमें व्याप्त होकर जानता है ऐसा कहा है उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि अज्ञानी परमें व्याप्त होता है, परन्तु वह मानता है कि मैं परमें व्याप्त होता हूँ, तथापि वह परमें व्याप्त नहीं होता।

एक बार स्वको सम्पूर्ण रीतिसे स्व जाने और परको पर जाने तो वह सर्वथा सम्यक्ता है; अर्थात् वह पूर्णदशा केवलदर्शन और केवलज्ञानमें होती है। निम्नदशामें जो ज्ञेयके प्रति आकर्षित हो उसे जानता है और अन्यको नहीं जानता। निचली भूमिकामें स्व सर्वको सर्वथा प्रकारसे नहीं जानता और सर्व परको नहीं जानता।

विपरीत दृष्टिवालेको या सच्ची दृष्टिवालेको ज्ञेय प्रयोजन ज्ञान तो एक

ही प्रकारका है, परन्तु भेद इतना ही है कि मिथ्यात्वी जितना जानता है उतना अयथार्थरूप साधता है। मेरा यह ज्ञान पुस्तकसे और सुननेसे हुआ है ऐसा वह मानता है। जितने निमित्त और संयोग थे उतने प्रमाणमें ज्ञान हुआ मानता है। मेरी ज्ञानपर्याय अपने स्वभावमेंसे आती है—ऐसा नहीं जानकर अयथार्थ साधता है। शास्त्र पढ़े, दया, व्रत, पूजाके भाव करे, त्यागी होकर राग कम करता है, तब भी अयथार्थ साधता है। राग मन्द हुआ इसलिए ज्ञान निर्मल होगा ऐसा मानता है। स्वभावके अवलम्बनसे ज्ञान होता है, रागके अवलम्बनसे नहीं—ऐसा वह नहीं मानता। मिथ्याज्ञानमें (१) कारणविपरीतता, (२) स्वरूपविपरीतता और (३) भेदाभेद विपरीतता होते हैं। वह जीव कारणको, स्वरूपको तथा भेदाभेदको नहीं समझता। वह मानता है कि कर्मके कारण राग हुआ और रागके कारण ज्ञान हुआ है, परन्तु यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता। ऐसे मिथ्यादृष्टिका सब विकास मिथ्या है।

सम्यग्दृष्टि जीवका ज्ञान सब सच्चा है। राग और निमित्त हैं ऐसा जानता है परन्तु उनसे ज्ञान नहीं होता—ऐसा मानता है। अपने कारण ज्ञान प्रगट होता है, उसमें राग और निमित्त ज्ञात हो जाते हैं। मेरे परिणाम अपने स्वभावका अवलम्बन करते हैं परन्तु निमित्तका नहीं। मेरी ज्ञान, दर्शन, आनन्दकी पर्याय अन्तर्शक्तिका अवलम्बन लेकर उत्पाद–व्ययरूप होती रहती है। इसप्रकार धर्मी जीव वस्तुस्वरूपको यथार्थ साधता है। धर्मीजीवको पुण्य–पापके भाव होते हैं तथापि उनसे बंध नहीं हो सकता, क्योंकि जो भाव हो रहा है उसे वह यथार्थ जानता है। उसे अस्थिरता होती है। चतुर्थ गुणस्थानवालेको आर्त्त–रौद्रध्यान कदाचित् होते हैं, उसे अस्थिरताका राग होता है, परन्तु अपनेमें रहकर जानता है, इसलिए उपयोगकी प्रधानतासे उसे बंध नहीं है—ऐसा कहा है। यथार्थरूपसे साधता होनेसे राग होनेपर भी बंधन नहीं है। अज्ञानी शुभराग करे तब भी किंचित् बंध नहीं रुकता, वह रागरहित ध्रुवस्वभावके उपयोगकी अभेदता वह नहीं जानता। राग और विकारसे आत्मा निर्लेप है—ऐसी दृष्टि होनेके कारण ज्ञानीने बंधपरिणामको कीलित करके रोक दिया है।

ज्ञानोपयोगके परिणामसे आस्रव–बंधकी शक्तिको रोक रखा है। अज्ञानीको स्वभावकी दृष्टि नहीं है, इसलिए बंध किंचित् भी नहीं रुकता। ज्ञानीको यथार्थ श्रद्धा–ज्ञान हैं और रागको यथार्थ साधता है अर्थात् रागमें व्याप्त हुए बिना अपनेमें रहकर रागको जानता है, इसलिए उसे आस्रव–बंध नहीं होते। ऐसी प्रतीतिके बिना जप–तपादि करे तो व्यर्थ है। ज्ञानीको अव्रतके भाव हों तथापि उसने आस्रव–बंधको रोक रखा है। इसप्रकार यहाँ अपेक्षासे कथन किया है। संयोगके कारण रोष नहीं हुआ है, उस समयकी स्थिति वैसे रागकी है और स्व–पर प्रकाशक ज्ञानकी भी ऐसी ही है—ऐसा ज्ञानी जानता है।

ज्ञानकी पर्याय ज्ञानमें व्यापक है या रागमें?—ऐसे भेदकी अज्ञानीको खबर नहीं है। वह चाहे जितने व्रत करे तब भी किंचित् मात्र बंध नहीं रुकता। ज्ञानी युद्धमें हो तथापि राग–द्वेष निमित्तके कारण नहीं हुअे हैं और स्वभावमें राग नहीं है—ऐसा जानता है। तथा उसे अस्थिरताका राग हुआ ही नहीं ऐसा भी नहीं है, परन्तु अपनेमें रहकर अस्थिरताके रागको जानता है। इसप्रकार यथार्थ जानता है, इसलिए उसे निरास्रव कहा है। वस्तुस्वरूपको यथार्थ जाने बिना सब अयथार्थ है। यह सब बात उपयोगके बलकी अपेक्षासे कही है।

अब चारित्रकी बात करते हैं। ज्ञान अकेले ज्ञानमें व्याप्त–व्यापक होकर अकेले ज्ञानको देखने–जानने लगा और अवस्थामें राग नहीं रहा, इसलिए वीतराग हो गया तब प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया। पहले रागमें अटककर जानता था उतना परोक्षज्ञान था; अब राग मिट जाने से सर्वथा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट हो गया।

चारित्रके परिणामसे अपना स्व अर्थ सिद्ध करते हैं। निचली दशामें उपयोग यथार्थता सिद्ध करता था, परन्तु चारित्र सर्वथा यथार्थ नहीं था। अब सर्वथा स्थिर हुआ तब चारित्र सर्वथा प्रकारसे निज–अर्थरूप हुआ। इसप्रकार शुद्ध वीतरागमग्नरूप प्रवर्ते उसीको चारित्रपरिणामजन्य निजार्थ होता है।

❀ ❀ ❀

प्रवचन–४०

माघ कृष्णा ३०, गुरुवार दि० १५-१-५३

स्वानुभवदशाकी महिमा और बीचके बाधकभावका वर्णन :—

यह आत्माके अनुभवकी बात चलती है। आत्मा ज्ञान–आनन्दादि अनन्त शक्तियोंका पिण्ड है। उसके ज्ञान–दर्शनका उपयोग स्वोन्मुख होने पर भीतर आत्माको जानने–देखनेकी क्रिया होती है, तथा उसमें चारित्रकी स्थिरता होने पर आनन्दका अनुभव होता है। ज्ञान–दर्शन स्वमें व्याप्य–व्यापक होकर जाने वहाँ रागका भी ज्ञान हो जाता है, परन्तु ज्ञान उस रागमें व्याप्त नहीं होता। सम्यग्दृष्टिको स्वका जानना, स्वका देखना और स्वमें स्थिरता—ऐसे परिणाम द्वारा निज आनन्दका स्वाद आता है। ऐसी निज स्वाददशाका नाम स्वानुभव है।

आत्माकी शक्तिमें जो आनन्द और शान्ति है उसकी श्रद्धा–ज्ञान करके उसमें एकाग्रता द्वारा उस आनन्दका प्रगट अनुभव हो—उसका नाम स्वानुभवदशा है। वह स्वानुभव होने पर निर्विकल्प सम्यक्ता उत्पन्न होती है। अंतरमें वस्तु अनन्त गुणका पिण्ड है, वह स्वयं अपनेमें अंतर्व्यापार करे वहाँ सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र होते हैं और वस्तुको भूलकर मात्र परमें ज्ञान–दर्शनका व्यापार करे तो वह मिथ्या है। स्वानुभव कहो या निर्विकल्प दशा कहो—दोनों एक ही हैं।

प्रश्न :—स्वानुभव और निर्विकल्प दशा—ऐसे दो पृथक् नाम क्यों पड़े?

उत्तर :—अंतरमें स्वसन्मुख अनुभवकी अपेक्षासे उसे स्वानुभव कहा और वहाँ बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं रहा उस अपेक्षासे उसे निर्विकल्पदशा कहा। तथा उसमें ज्ञान–दर्शन अंतरमें स्वसन्मुख हुए हैं,

इसलिए उसे आत्मसन्मुख उपयोग कहा जाता है, तथा उसीको भावमति और भावश्रुत भी कहते हैं, अथवा उसीको स्वसंवेदन कहो और वही वस्तुमें मग्नतारूप भाव है। द्रव्यसंग्रहमें अनेक नामोंका वर्णन किया था, उसीको स्व-आचरण कहा जाता है। दया-भक्ति आदि रागपरिणाम वह पर-आचरण है, और उपयोग अंतरमें एकाग्र हुआ वह स्व-आचरण है, वही स्थिरता है, वही विश्राम है। राग तो अस्थिर और अविश्रामरूप है। तथा स्वसुख कहो या इन्द्रिय-मनातीत ऐसा अतीन्द्रियभाव कहो, शुद्धोपयोग कहो अथवा स्वरूपमग्नभाव कहो—वही निश्चयभाव है, रागादि व्यवहारभावका उसमें अभाव है। वह स्वरससाम्यभाव है, वही समाधिभाव है, वही वीतरागभाव है। स्वभावसन्मुखभावमें रागादिका अभाव है, रागादि तो असमाधि है, पररस है और स्वसन्मुखभावमें वीतरागता, स्वरस एवं समाधि है।

तथा वही अद्वैत ऐसे आत्मस्वभावका अवलम्बन लेनेवाला भाव है, वही चित्तनिरोधरूप भाव है, वही निजधर्मरूप भाव है और वही यथास्वादरूपभाव है। उसमें जैसा स्वभाव है वैसा स्वाद आया। इसप्रकार स्वानुभवदशाके अनेक नाम हैं।

धर्मकी विधि क्या है? वह पहले समझना चाहिए। अंतरमें चिदानन्दस्वभावकी रुचि और निर्णय करना वह मार्ग है। कठिन मानकर आकुलित नहीं होना चाहिए। आत्माकी स्वानुभवदशाके अनेक नाम हैं, परन्तु उनमें एक स्व-आस्वादरूप अनुभवदशा वह मुख्य नाम है। सुखका रसिक जीव परकी उन्मुखताके बदले स्वोन्मुख होकर अनुभव करे तो आत्माके आनन्दका स्वाद आए, इसलिए उसे स्वादरूप अनुभव दशा—ऐसा नाम दिया है। आनन्दके अनुभवकी मुख्यता है उसका नाम धर्म है। वह प्रगट होनेका साधन क्या? चाहे जैसे संयोग या विकल्पकी वृत्ति हो परन्तु वह कोई धर्मका साधन नहीं है। धर्मका साधन तो अंतरमें अद्वैत चैतन्यस्वभावका अवलम्बन करना ही है।

चतुर्थ गुणस्थानमें स्थित अविरतसम्यग्दृष्टिको निर्विकल्प

स्वानुभवदशाका काल अल्प है। निर्विकल्प शुद्धोपयोग अल्पकाल—लघु अंतर्मुहूर्त ही रहता है, और वह अनुभव दीर्घकालमें होता है। उसकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानवाले सच्चे श्रावकको निर्विकल्प अनुभवका काल अधिक है। उसके दो कषाय मिट गए हैं, इसलिए स्थिरता भी बढ़ी है और निर्विकल्प उपयोगके कालमें भी वृद्धि हुई है।

प्रश्न :—चतुर्थ गुणस्थानवाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो तो?

उत्तर :—उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। चतुर्थवाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो और पंचम गुणस्थानवाला क्षयोपशम सम्यक्त्वी हो तथापि उसको स्थिरता अधिक है और उसे बारम्बार निर्विकल्प उपयोग होता है।

तथा वह पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावककी अपेक्षा भी सर्वविरति मुनिराजको स्वानुभव दीर्घकाल तक रहता है। बारम्बार सप्तमगुणस्थान आता ही रहता है। भोजनके कालमें भी बीचमें निर्विकल्पदशा हो जाती है। भावलिंगी संतोंको ध्यानमें स्वानुभव तथा निर्विकल्प आनन्दका अनुभव होता है।

चतुर्थ गुणस्थानमें आत्माका निर्विकल्प आनन्द भी थोड़ा और काल भी अल्प; पंचममें उससे विशेष और मुनिको उससे भी विशेष होता है। पंचमहाव्रतके परिणाम होते हैं वह भी राग है। उस रागसे भी हटकर अंतरकी निर्विकल्प दशा बढ़ती जाती है।

ज्यों–ज्यों आगे बढ़ते जाएँ त्यों–त्यों नवीन–नवीन विशेष निर्मल परिणाम होनेसे आनन्दके अनुभवमें वृद्धि होती जाती है। कर्मधारासे निकलकर अर्थात् रागको तोड़ते और स्थिरता बढ़ाते हुए ज्यों–ज्यों आगे बढ़ता है त्यों–त्यों आनन्दमें वृद्धि होती जाती है। इसप्रकार क्षीणमोह दशा तक समझना।

हे भव्य! तू एक दूसरी बात सुन! यह स्वानुभवदशा वह स्वसमयरूप सुख है, वह शान्ति–विश्रामरूप है, वह स्थिररूप है, उसमें निजकल्याण है, उसमें आराम और तृप्ति है, उसमें समभाव है, वही मुख्य

मोक्षपंथ है। इसके सिवा विकल्प और राग वह पर समय है, वह अविश्रामभाव है, वह अस्थिररूप है, उसमें कल्याण नहीं है।

श्री समयसारकी २०६वीं गाथामें भी कहा है कि—

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।।२०६।।

''इतना ही सत्य आत्मा है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रमें ही सदा रति प्राप्त कर; इतना ही सत्य कल्याण है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा सन्तोष प्राप्त कर; इतना ही सत्य अनुभवनीय है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही सदा संतोष प्राप्त कर; इतना ही सत्य अनुभवनीय है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही सदा तृप्ति प्राप्त कर। इसप्रकार सदा आत्मामें रत, आत्मासे संतुष्ट और आत्मासे तृप्त ऐसे तुझको वचनसे अगोचर ऐसा सुख होगा; और उस सुखको उसी क्षण तू स्वयमेव देखेगा, दूसरोंसे मत पूछ।''

निर्विकल्प शुद्ध उपयोग और विकल्प—उन दोनोंकी बात करना है, इसलिए यहाँ ऐसा कहा कि—''तुझे एक दूसरी बात कहता हूँ।'' आत्माकी निर्विकल्प अनुभवदशाकी तो बात कही; परन्तु बीचमें सम्यक् सविकल्पदशामें ज्ञान–दर्शन तो निर्मल होने पर भी अस्थिरतासे राग और विकल्प आता है, वह परावलम्बी, अशुद्ध और चंचल है। चैतन्यके अनुभवमें से हटकर भक्ति आदिका राग हो वह भी मोक्षका पंथ नहीं है, परन्तु सम्यग्दृष्टिको उस कालमें अंतरमें श्रद्धा–ज्ञान शुद्ध हैं; वह मोक्षका पंथ है। राग तो परावलम्बी–अशुद्ध–मलिन–चंचल–परसमयरूप और दुःख है, वह मोक्षका मार्ग नहीं है। निर्विकल्प श्रद्धा–ज्ञान–रमणता हुए वह तो स्वसमय सुखरूप भाव है और बीचमें राग–विकल्प हो वह चंचलता परसमय है, दुःख है। पूर्ण स्वावलम्बी भाव होने पर वीतरागता हो जाती है। अपूर्ण दशामें बीचमें सम्यग्दृष्टिको राग होता है, परन्तु उस काल उसके श्रद्धा–ज्ञानमें निर्मलता है। पहले यथार्थ बात श्रवण करके

रुचि भी नहीं करे तो उसे ऐसा अनुभव नहीं हो सकता। ''सम्यक् सविकल्पदशा'' अर्थात् राग होने पर भी अंतरमें आत्माकी प्रतीति है, वह रागसे धर्म नहीं मानता उसकी बात है, परन्तु रागसे धर्म मानता है वह तो मिथ्यादृष्टि है।

अंतरंग अवलोकन दशाकी जाति ही भिन्न है; इसलिए कहते हैं कि हे भव्य ! तू यह बात सुन ! चिदानन्दवस्तुमें रुचि, ज्ञान एवं रमणता वह तो शुद्धोपयोग है और वह स्वसमय, सुख तथा मोक्षका मार्ग है। वह साधकपनेमें बीचमें बाधकपना भी है, इसलिए उसकी बात भी समझाई है। बीचमें राग हो वह चंचलभाव है, इसलिए वह सविकल्पदशा दुःखरूप है। छठवें–सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए संतको भी छठवें गुणस्थानमें शुभविकल्प उठे वह दुःखरूप है, उसमें आकुलता है। सम्यग्दृष्टि संत स्वयं तो रागको आकुलतारूप और दुःखरूप जानते हैं। उस रागमें तृष्णाके कारण चंचलता है। अंतरकी स्वानुभवदशा तो शांत–निराकुलतारूप है। सम्यग्दर्शनके आठ व्यवहार–आचारका भाव, ज्ञानके आठ व्यवहार–आचारका भाव, अथवा तेरह प्रकारके व्यवहार चारित्रका भाव उठे वे सब चंचलभाव हैं। पुण्य–पापका कलाप है; तथा स्वरूपानन्दकी लीनता से हटकर बीचमें जितनी रागकी वृत्ति उठे उसमें उद्वेगता है। वह असंतोषरूप है। इसप्रकार साधकपनेके साथ जो बाधक भाव है उसका भी ज्ञान कराया। आत्मानुभवकी ओरका जो भाव है उसमें शान्ति और सन्तोष है और परकी ओरके भावमें दुःख तथा असंतोष है। इसप्रकार वह सब पराश्रित रागभाव विलापरूप है, शुभाशुभ वृत्तियाँ उठें वे सब विलापरूप हैं, उनमें आनन्द नहीं है। चैतन्यके अनुभवमें ही शान्ति है, उसीमें सन्तोष है और वही धर्म है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके चारित्रपरिणामकी दोनों अवस्थाएँ बतलाकर अब उनका सार कहते हैं। निर्विकल्प स्वानुभवदशामें सुख है और बीचमें विकल्पकी वृत्ति उठे वह दुःख है। ऐसा जानकर हे भव्य ! तू स्वानुभवरूप रहनेका उद्यम कर ! चारित्रकी स्थिरताके तथा अस्थिरताके

परिणाम यह दोनों अवस्थाएँ तुझमें ही हैं, उन दोनोंको जानकर तू स्वानुभवरूप रहनेका उद्यम कर ! दोनों अवस्थाएँ अपने ही परिणामों से होती हैं, किसी परके कारण नहीं होती। इसलिए हे भव्य ! तेरे लिए भला यही है कि ज्ञानानन्दमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करता रह। शुभराग आए उसका प्रयत्न करनेको नहीं कहा, परन्तु स्वानुभवमें ही रहनेका प्रयत्न करनेको कहा है। ज्ञानस्वरूप वस्तुको पकड़कर उसमें एकाग्रताका उद्यम करते रहो। इसप्रकार हमारे वचन व्यवहारसे उपदेश हैं।

गुणस्थानके अनुसार जितनी-जितनी शुद्धता बढ़ती है उतनी-उतनी सुखके अनुभवमें वृद्धि होती है और तदनुसार स्वानुभवमें वृद्धि होते-होते तथा कषाय टलते-टलते बारहवें गुणस्थान तक स्थिरतामें वृद्धि होकर वहाँ मति-श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशम से स्वसंवेदन बढ़ता है। इसप्रकार स्वसंवेदन स्थिरता द्वारा जो रसास्वादका अनुभव उत्पन्न हुआ वही अनन्त सुखका मूल है। बाकी रागादिभाव तो सब दुःखके मूल हैं।

जिसे ऐसे स्वानुभवकी मूसलधार धारा प्रवाहित हुई उसे बाह्यमें चाहे जितनी प्रतिकूलताके पहाड़ हों तब भी दुःखदावानलका रंचमात्र अनुभव नहीं होता। भववासरूपी जो घनघोर बादल उन्हें बिखेर देनेके लिए मुनिजन इस स्वानुभवको परम प्रचण्ड पवन कहते हैं। वीतरागी संत-मुनि इस स्वानुभवको ही भववास मिटानेका उपाय कहते हैं। वीतरागमूर्ति आत्माका स्वानुभव करना ही भवनाशका प्रचण्ड उपाय है। अभी तक अनन्तानन्त संत-मुनि ऐसे स्वानुभवरूपी अमृतका पान कर-करके ही अजर-अमर हुए हैं। महाविदेहमें आज भी संत-मुनि ऐसे अनुभवरसका पान कर-करके मुक्ति प्राप्त कर रहे हैं। अनुभवरसके प्याले पी-पीकर मुनिजन अजर-अमर मोक्षपदकी साधना कर रहे हैं। केवलज्ञानदशा, मुनिदशा, सच्ची श्रावकदशा अथवा सम्यग्दृष्टि दशा—वे सर्व पूज्यदशाएँ आत्मानुभवसे ही प्राप्त होती हैं। उस अनुभवके बिना समस्त वेद-पुराण भी निष्फल हैं। सर्वज्ञके श्रीमुखसे निकले हुए शास्त्र पढ़े, परन्तु आत्मानुभवके बिना वे सब निरर्थक हैं। स्मृति वह विस्मृति है।

अनेक वर्ष पूर्वकी बात याद आए उसकी महिमा नहीं है। चैतन्यस्वभावके बिना वह सब स्मरण निरर्थक है। अहो ! आत्मपदार्थ शांतरससे भरपूर है, उसके अनुभव बिना अन्य परकी चाहे जितनी बातें याद आए वह सर्व स्मृति भी विस्मृति है, क्योंकि अपना तो विस्मरण ही है।

तथा चिदानन्द आत्माके स्वानुभव बिना शास्त्रार्थ भी व्यर्थ है। शास्त्रोंके अर्थ करके बड़े वाद–विवादमें जीत जाये तो वह भी आत्मानुभवके बिना व्यर्थ है, और पूजा तो मोहभजन है। सर्वज्ञकी पूजा करके उस रागमें धर्म माना उसने मोहका भजन किया है। आत्मा रागरहित है, उसके अनुभव बिना वेद–पुराण, स्मृति एवं शास्त्रार्थ वह सब व्यर्थ है। चैतन्यके भजन बिना मात्र परका भजन वह मोह है।

चैतन्यके अनुभव बिना बाह्य निर्विघ्न कार्य भी विघ्न ही हैं। स्वयं अपनेमें स्वानुभवसे निर्विघ्नता प्रगट नहीं की तो उसे फिर पापबंध होगा और सांसारिक विघ्न आएँगे। इसलिए आत्माका यथार्थ स्वानुभव करना ही निर्विघ्न कार्य है। अब स्वानुभवकी विशेष महिमा कहेंगे।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–४१

माघ शुक्ला १, शुक्रवार दि० १६-१-५३

स्वानुभवकी महिमा

यह अनुभवप्रकाशका अधिकार है। आत्मा आनन्दस्वभावी वस्तु है, उसकी प्रतीति और ज्ञान करके उसमें एकाग्रता द्वारा उसका अनुभव होता है, उस अनुभवकी महिमाका यह वर्णन चलता है। अपने ध्रुवस्वभावके अवलम्बन बिना अन्य किसी उपायसे धर्म नहीं होता। आत्मा बाहरी लोकसे भिन्न ही है। आत्माका स्वभाव ज्ञान–दर्शन–आनन्द आदि अनन्तगुणमय है, वह उसका लोक है। उससे यह बाहरका लोक पृथक् ही है। ऐसे आत्माके श्रद्धा–ज्ञान करके उसका अनुभव करना वह धर्म है। बाह्य संयोग–वियोग तो उनके अपने कारण अपने कालमें होते रहते हैं, उनके आधारसे धर्म नहीं हैं। अंतर् स्वभावोन्मुख होकर उसका अनुभव करना ही धर्म और मोक्षमार्ग है।

आत्मानुभवसे रहित समस्त कार्य विघ्नसमान ही हैं। चिदानन्द स्वभाव स्वयं निर्विघ्न है; उसका जिसे अनुभव नहीं है उसको अपनेमें विघ्नभाव है। भले ही बाह्य कार्य विघ्नरहित सम्पन्न हो जाए तथापि वे विघ्न ही हैं। बाह्य कार्य तो यथायोग्य होंगे, परन्तु अंतरमें अपने स्वभावका अवलोकन किए बिना आत्माका विघ्न दूर नहीं होता। ज्ञान–आनन्दस्वभावके संवेदन बिना परमेश्वरकी कथा भी झूठी है। परमेश्वर तो अपना आत्मा है, उसे जाने बिना–उसकी प्रतीति बिना बाह्यमें जितने विकल्प उठते हैं वे सब मिथ्या हैं, वे आत्माको उपकारी नहीं हैं। तथा चैतन्यके अंतर्वेदन बिना बारह प्रकारके तप भी झूठे हैं, तथा तीर्थसेवन भी अंतर्‌अनुभवके बिना झूठा है। अंतरमें निर्मल गुणोंसे आत्माका वास है ही; उसके अंतरमें जब देखो तब अपना स्वभाव ऐसा ही है। ऐसे

स्वभावकी अंतर्मुखताके बिना बाहरके तीर्थोंकी यात्रा भी झूठी है। अरे भगवान् ! तेरी अपनी वस्तुमें अन्तर्मुख दशाके बिना समस्त बाह्य कार्य झूठे हैं। तर्क, पुराण और व्याकरणमें बुद्धि लगाता है, परन्तु ज्ञानानन्द आत्माके अंतर्वेदनमें बुद्धि न लगाए तो उसको तर्क, पुराण और व्याकरण—सब खेदका कारण हैं। अंतर्स्वभावका वेदन करना वह खेदके नाशका उपाय है। भगवानकी मूर्तिके सामने अथवा शास्त्रोंके सामने देखता रहे, परन्तु अंतरमें आत्माके सन्मुख देखे बिना वह सब खेद है। जिन्हें चैतन्यका अनुभव नहीं है वे जीव ऐसे हैं जैसे गाँवमें कुत्ते और गायें आदि घूमते रहते हैं। जिस समय अंतर्मुख होकर आत्माकी प्रतीति की वह समय अपना है, फिर भले ही व्रतादिकी शुभ वृत्ति उठे या अशुभवृत्ति आए वह सब गौण है। जिसका चैतन्यमें प्रवेश नहीं है और बाहर भटकते हैं वे जीव गाँवमें भटकते पशु समान और जंगलमें भटकते हुए हिरन आदि पशु समान हैं। साधु बनकर वनमें निवास करे तथापि आत्मानुभवके बिना वह हिरन जैसा अज्ञानी तपस्वी है। शुभाशुभ वृत्तियाँ दुःखदायक हैं, अनाकुल शांत आत्मा उनसे रहित है। उसकी जिसको प्रतीति नहीं है, वह भले ही २८ मूलगुणोंका पालन करे और जंगलमें रहे तथापि वह हिरनादि पशुओं जैसा है, और जिसे चैतन्यका अनुभव है वह जीव कहीं भी रहे तथापि अनुभवके प्रसादसे पूज्य है; तथा कहते हैं कि परमेश्वरके जितने विशेषण हैं वे सब भी इस अनुभवसे ही सिद्ध होते हैं।

अनुभवमें आनन्द है, अनुभवमें ही धर्म है। अनुभवसे ही परमपद प्राप्त होता है। अनंतगुणोंके रसका सागर उस अनुभवमें समा जाता है। अनुभवकी पर्यायमें अनन्तगुणोंका स्वाद समा जाता है। अनुभवसे ही सिद्धपद प्राप्त होता है। अनुभवके बिना किसी बाह्यकारणसे ऐसे परमेश्वरपदकी प्राप्ति नहीं होती। अहो ! जिसकी एक ज्ञानपर्यायमें लोकालोक भासित होता है—ऐसे आत्माको क्या उपमा दें ? ऐसे आत्माके अनुभवसे ही केवलज्ञानरूप अमित तेज प्रगट होता है। परमात्मदशामें ऐसे सर्व विशेषण प्रगट होते हैं और वह परमात्मदशा आत्मानुभवसे ही प्राप्त होती है। तथा परमात्मदशा अखण्ड है, अचल है,

रागरहित अमलपद भी उसके अनुभवसे ही प्राप्त होता है। स्वरूपकी विश्रान्तिका धाम अनुभवसे ही प्राप्त होता है। अतुल परमात्मदशा अनुभवसे ही प्राप्त होती है। अहा ! उस अनुभवकी महिमा अपार है ! ! उसके समक्ष इन्द्रका इन्द्रासन भी सड़े हुए तृण समान है।

अबाधित दशा अनुभवसे प्राप्त होती है। अरूप ऐसी परमात्मदशा भी उसीसे प्राप्त होती है। अजर अर्थात् सिद्धदशा भी उसीसे प्राप्त होती है। शरीरमें तो जरा लागू होती है, परन्तु परमात्मदशा प्रगट हुई उसमें जरा अर्थात् वृद्धावस्था कभी लागू नहीं होती। ऐसी दशा अनुभवसे ही प्राप्त होती है। तथा वह अमर एवं अविनाशी है और परमात्मदशा अलख है; वह इन्द्रियोंसे लक्षगोचर नहीं होती; अच्छेद्य है, किसी शस्त्र आदिसे उसका छेदन नहीं होता तथा वज्र आदिसे भेदन, इसलिए अभेद्य है। चक्रवर्तीकी तलवार वज्रके स्तंभको काट देती है परन्तु आत्माका स्पर्श नहीं कर सकती। तथा आत्मा अक्रिय है अर्थात् परकी या रागकी क्रिया उसमें नहीं है; अपने अनुभवकी क्रिया है; तथा वह अमूर्तिक है और स्वरूपका अनुभव करते–करते रागादिका अकर्ता तथा अभोक्ता हो जाता है। तथा परमात्मदशा अविगत है, इसलिए कभी विशेषरूपसे उसका नाश नहीं हो जाता; तथा आनन्दमय एवं चिदानन्द इत्यादि अनन्त विशेषणोंयुक्त ऐसी परमेश्वर दशा है। वह सर्व अनुभवसे ही सिद्ध होता है। आत्माके अनुभवसे ही ऐसे महिमावान परमेश्वरपदकी प्राप्ति होती है, इसलिए अनुभव वह सार है। आत्माका अनुभव ही उत्तममें उत्तम वस्तु है।

शास्त्रमें व्यवहारके विधान दिए हों, उनसे पार सर्व विधानोंका शिरोमणि यह अनुभव है। इस अनुभवमें धर्मके सर्व विधि–विधान समा जाते हैं। ऐसा अनुभव मोक्षका निदान और सुखका निधान है। मुनिजन आदि अनुभवी जनोंके चरणोंकी सेवा इन्द्रादि भी करते हैं, इसलिए अनुभव करो। अनुभवकी प्रशंसा सर्व ग्रन्थोंमें की है। अनुभवके बिना साध्यकी सिद्धि नहीं होती। अनन्त चेतनारूप अनन्तगुणोंसे शोभित, अनन्त शक्तिधारक ऐसे आत्मपदका रसास्वाद वह अनुभव है।

सर्व ग्रन्थोंका सार यह अविकार अनुभव है। ग्रन्थोंमें बारम्बार यही कहा है। वीतरागता कहो या अनुभव कहो, क्योंकि आत्माके अनुभवसे ही वीतरागता प्राप्त होती है। चारों अनुयोगके सर्व ग्रन्थोंका सार तथा समस्त विधानोंका सार यह है कि अन्तरमें आत्माका अनुभव करके आनन्दका स्वाद लेना। अनुभव वह शाश्वत चिन्तामणि है। जितना एकाग्र हो उतना आनन्दका स्वाद आता है। बाहरी चिन्तामणि रत्न तो पत्थर है, वह तो पुण्य हो तो मिलता है और पुण्य अल्प होनेपर चला जाता है। अनुभव अर्थात् स्वभावका अनुसरण करनेसे होना; रागके अथवा परके अनुसरणसे नहीं किन्तु अपने ध्रुवस्वभावका अनुसरण करके अनुभव करना वह शाश्वत चिन्तामणि है। अनुभव ही अविनाशी रसका कूप है। अन्तरके अविनाशी आनन्दका रस तो अनुभवमें है। इसलिए अनुभव ही रसका विशाल कूप है, साधक दशाका प्रारम्भ भी अनुभवसे ही होता है और पूर्ण मुक्तदशा भी अनुभवसे होती है; इसलिए मोक्षरूप भी अनुभव है। आत्माके पूर्णानन्दका अनुभव वही मोक्ष है, इसके सिवा अन्य कोई मोक्ष नहीं है; नवों तत्त्वोंका सार अनुभवमें है। जगदुद्धारक भी अनुभव ही है। अनुभवकी अपेक्षा कोई अन्य उच्चपद नहीं है। इसलिए कारणपरमात्मा शक्तिरूप भगवानका अनुभव करो। अहा! अनुभवकी क्या महिमा कहें? स्वरूपका अनुभव करो। आठ कर्म तो जड़ हैं और जो विकार हुआ वह जीवका है, परन्तु अन्तर्स्वभावोन्मुख वेदनमें वह विकार नहीं है। आत्मामें उस प्रकारकी योग्यता लेकर पुण्य–पापभावरूप विकारका स्वांग जीवने धारण किया है वह जीवकी पर्याय है। १४८ तो जड़कर्मकी प्रकृतियाँ हैं। आत्मा स्वको चूककर अशुद्धतारूप रंजकभाव करता है वह शुद्धभाव विरुद्धभाव है। वह अशुद्धताका चमचमाता उत्पाद पर निमित्तके अवलम्बनसे मैल हुआ है। जीवने किया इसलिए जीवका है, जड़का नहीं है, जड़कर्मने नहीं करवाया, किसीकी प्रेरणासे नहीं हुआ है। अशुद्धपनेकी योग्यता जीवकी है परन्तु वह उसका त्रैकालिक स्वभाव नहीं है। बादल लाल–काले होते हैं, परन्तु आकाश वैसा नहीं होता, वैसे ही क्षणिक योग्यतारूप जीवकी पर्यायमें अशुद्धताके प्रकार होते हैं, तथापि

चैतन्य तो अनादि–अनन्त ज्योंका त्यों निर्मल है। जैसे रत्न पर मिट्टीका लेप हो तो उससे कहीं रत्नका प्रकाश नहीं गया है, भीतर रत्नकी प्रकाशशक्ति ज्योंकी त्यों है; वैसे ही पर्यायकी क्षणिक मलिनताने त्रैकालिक द्रव्यस्वभावका नाश कदापि नहीं किया है और मलिनताको नष्ट करनेका स्वभाव कभी गया नहीं है। अनंत चैतन्य आनन्दमय सर्वशक्ति ज्योंकी त्यों है। ऐसे नित्यानन्द चिदानन्द भगवान आत्माका अनुभव करना वही धर्म है। दया, दान, व्रत, पूजादिके विकल्प उठें वह पुण्य है, धर्म नहीं है—लाभदायक नहीं हैं। पुण्य–पापके व्यवहार–विकल्परहित मात्र अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दका वेदन होना वह धर्म है।

पर–पुद्गलका नाटक खूब बना है, उसे जड़का खेल जानो; वह आत्माका खेल नहीं है ऐसा मानो।

दस प्रकारका परिग्रह—क्षेत्र, बाग, नगर, कुआँ, तालाब, नदी आदि पुद्गल हैं, जीव उनको नहीं कर सकता। माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री आदि स्वजन, सर्प, सिंह, हाथी आदि आत्माके नहीं हैं। इष्ट अक्षर, शब्द, अनक्षर शब्दादि आत्मा नहीं कर सकता। बोल नहीं सकता, स्नान, भोग, संयोग–वियोग क्रिया आत्माके आधीन नहीं है; क्योंकि उनका कर्ता जड़–पुद्गल है, जीव उन्हें नहीं कर सकता। कर्मके एक रजकणमें आत्मा किंचित् फेरफार नहीं कर सकता। जीव शुभाशुभभाव कर सकता है और उसके भावानुसार फल है। परको भोग नहीं सकता, धनादि किसी वस्तुको प्राप्त नहीं कर सकता, दे नहीं सकता, नष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि वे सब पुद्गलकी पर्यायें हैं। दारिद्र्यादि क्रियाएँ जड़के कारण हैं, जीवके कारण नहीं हैं। चलना, बैठना, बोलना वे सब जीवकी क्रियाएँ नहीं हैं, जीवकी इच्छानुसार नहीं होतीं, जीव उनका प्रेरक नहीं है। शुभ–अशुभ इच्छा करना वह त्रैकालिक स्वभावका कार्य नहीं है, क्षणिक विकारका कार्य है। ज्ञातामात्रपनेको भूलकर 'मैं शरीर हूँ, कर्ता–भोक्ता हूँ'—ऐसा अज्ञानी मानता है। कायोत्सर्ग करके शरीरको स्थिर रख सकता हूँ—ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है।

परसे पृथक्त्वका ज्ञान करके, मात्र ज्ञाता रहकर अंतरमें आनन्द करना वह धर्मकी क्रिया है और पुण्य–पाप, राग–द्वेषके भाव करना, परका कर्तृत्व–भोक्तृत्व मानना वह अज्ञानका कार्य है। आत्मा वह कर सकता है परन्तु परका कुछ नहीं कर सकता। देखो, इसमें स्पष्ट कहा है कि बोलना, चलना, लड़ना, चढ़ना, उतरना—यह आत्मा नहीं कर सकता, परन्तु वह जड़की पर्याय है, उसे जड़–पुद्गल करता है।

खेलना, गाना–बजाना आदि जितनी क्रियाएँ हैं उन सबको पुद्गलका खेल जानो, राग–द्वेषमय पुण्य–पापके विकल्प वह अधर्मकी क्रिया जानो और शरीरादिसे तथा क्षणिक विकारसे भिन्न त्रिकाल ज्ञानानन्द हूँ—ऐसा जानना और आनन्दका वेदन करना वह एक धर्मकी क्रिया है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–४२

माघ शुक्ला २, शनिवार दि० १७-१-५३

यह अनुभवप्रकाश है; इसमें पुद्‌गलका खेल आत्मासे भिन्न है—उसका वर्णन करते हैं। नर–नारक–तिर्यंच और देव, ऐसी चार गतियाँ तथा उनका वैभव वह सब पुद्‌गल है। जड़ वैभवका उपभोग भी आत्माको नहीं है, वह सब पुद्‌गलका अखाड़ा है। चैतन्यसे च्युत होकर अज्ञानी जीव उसमें रंजित होता है और पुद्‌गलकी क्रियाको अपनी मानता है, इसीलिए उसको संसार है। अपना अनन्त गुणोंका अखाड़ा है—उसकी बात अब करते हैं। अनन्त गुणोंरूपी अखाड़ा है और उसमें नाचनेवाले पात्रोंकी भाँति अनन्तगुणोंकी परिणति है। विकार और शरीर तो पुद्‌गलके नाटकमें जाते हैं और गुणोंकी निर्मल परिणति वह चैतन्यके अखाड़ेके पात्र हैं। वे स्वरूपका रस उत्पन्न करते हैं। उस अनन्त गुणरूप द्रव्यका वेदन होने पर सर्व भावोंका वेदन आ जाता है। चैतन्यद्रव्यकी सत्ता वह मृदंग अर्थात् तबले हैं और प्रमेय वह ताल है—यह सब आत्माका अखाड़ा है। ऐसे अपने अनन्त गुणरूप निज अखाड़ेमें रंजित न होते हुए परका ममत्व करके जीव जन्म–मरणका दुःख भोगता है।

आत्मामें पुद्‌गलसे भिन्न और विकार रहित अपने अनन्त गुणोंके स्वादका वेदन होना उसका नाम अनुभव है। अपनी सत्ताका वेदन करते हुए अनन्त आनन्दका वेदन होता है; इसलिए कहते हैं कि—हे जीव ! तू अपने अनन्त गुणोंके अखाड़ेमें रंजन कर। शरीरादिकी क्रिया तो जड़–पुद्‌गलका अखाड़ा है, उसमें रंजित न हो। पुद्‌गलके अवलम्बनसे हुआ विकार भी पुद्‌गलके अखाड़ेमें है; तेरा भूतार्थ स्वभाव उससे भिन्न है। अनन्त गुणरूप तेरा अखाड़ा है, उसमें दृष्टि लगाकर आनन्दका अनुभव कर। चैतन्यकी सत्ताको चूककर परके अखाड़ेमें ममत्व किया, इसलिए जीव जन्म–मरणके दुःख भोगता है। इसलिए कहते हैं कि हे

जीव ! तू अपने स्वरूपका सहज स्वादी हो। पर्यायबुद्धि–देहबुद्धि छोड़कर अनन्तगुणके पिण्ड चिदानन्द स्वभावमें बुद्धि लगा। उसका नाम धर्म है। परका प्रेम मिटाकर चेतना प्रकाशके विलासरूप अतीन्द्रिय भोगको भोग। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप स्वभावको निर्विकल्प आनन्दका भोग कर। अरे ! विकारी परिणाममें और जड़में झूठा आनन्द क्यों माना है? जड़में अपनत्व मानना वह मिथ्या है। जड़ पदार्थ तुझसे शून्य हैं, उनमें तेरा सुख नहीं है। परद्रव्यकी अनुकूलतामें शान्ति मानता है वह मिथ्या है और परद्रव्य मुझे दुःख देते हैं—ऐसा कहे वह भी झूठ है, क्योंकि परद्रव्यमें तुझे दुःख देनेकी शक्ति नहीं है। जड़कर्ममें ऐसी शक्ति नहीं है कि तुझे दुःखी कर सके। तू अपने झूठे चिंतवनसे ही दुःख भोगता है, परन्तु परद्रव्य तुझे किंचित् भी दुःख नहीं देता, व्यर्थ ही दूसरेके सिर पर झूठा आरोप लगाता है कि मुझे मोहकर्मने दुःख दिया, परन्तु परकी भूल नहीं है तू अपनी ही भूलसे दुःखी हुआ है। द्रव्य–गुण शुद्ध हैं और पर्यायमें अशुद्धता कहाँसे आई? कर्मने अशुद्धता कराई—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु स्वयं अपनी हरामजदगीको नहीं देखता। स्वयं ही अपने अपराधसे अशुद्ध और दुःखी होता है और दोष परको लगाता है वह हरामखोरी है। अपराध अपना है और दूसरेके सिर पर मढ़ता है वह अज्ञानी है। अचेतन द्रव्यको राग–द्वेषका निमित्त बनाकर नचाता है। जड़ तो जड़के कारण नाचता है, परन्तु अज्ञानी विकार करके उसे परनिमित्तका आरोप लगाता है।

जैसे कोई मूर्ख जीव अचेतन–मुर्देके साथ विवाह करनेकी बात करे तो वह निन्दनीय है; तब चेतनकी सगाई जड़के साथ करना मानता है उसमें तुझे लाज–शरम नहीं आती?। तू तो अनन्त ज्ञानका धारी चिदानन्द है और शरीरादि पुद्गल तो जड़–अचेतन मुर्दे समान हैं, उनमें अपनापन मानते हुए तुझे लाज भी नहीं आती? जड़कर्म जीवको हैरान करते हैं—ऐसा माननेवाला जड़को ही आत्मा मानता है। अरे जीव ! जड़में अपनत्व माननेकी अनादि मिथ्या बिटम्बना अब छोड़ ! पराचरणके कारण ही तुझे अपने ज्ञान–दर्शनका लाभ नहीं हुआ है। स्वभावसे च्युत होकर परको

अपना माना इसलिए तुझे हानि हुई है। तेरा स्वभाव ज्ञाता–द्रष्टा है वह कहीं बंधका कारण नहीं है। यदि जानने–देखनेसे ही बंध होता हो तब तो सिद्ध भगवन्त लोकालोकको जानते–देखते हैं उनको भी बंधन होता ! किन्तु उनको बंधन नहीं होता, इसलिए ज्ञान–दर्शन परिणाममें तन्मयता वह कोई बंधका कारण नहीं है, परन्तु रागके साथ तन्मय परिणाम ही बंधका कारण है। सिद्ध भगवान लोकालोकको जानते हैं परन्तु परिणाम परमें तन्मय नहीं हैं, इसलिए उनको बंधन नहीं होता। परिणामसे ही संसार और परिणामसे ही मोक्ष है। कर्मके उदयसे संसार और कर्मके अभावसे मोक्ष—यह बात छोड़ दे। तेरे स्वभावके परिणामसे मोक्ष है और तेरे परकी ओरके औदयिक भावसे संसार है। श्री तत्त्वार्थसूत्रमें औदयिकभावको भी स्वतत्त्व कहा है, वह कर्मके कारण नहीं होता परन्तु अपने अपराधसे ही होता है, वही संसार है। संसार कोई दूसरी वस्तु नहीं है, किन्तु तेरे ही विकारी परिणाम हैं।

संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष—यह तीनों तेरे परिणामसे ही होते हैं। राग–द्वेष–मोह भी तेरे परिणामसे ही होते हैं और स्वभावकी प्रतीति करके सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग भी तेरे परिणामसे ही होता है और मोक्ष भी तेरे परिणामों से ही होता है। तेरा ज्ञान–दर्शनस्वभाव है, वे ज्ञान–दर्शन तो देखने–जाननेरूप ही हैं। उन ज्ञान–दर्शनके परिणामोंसे राग–द्वेष नहीं हैं। रागके कालमें राग होता है परन्तु ज्ञान उसे करने या रखनेवाला नहीं है। स्वभावदृष्टिसे आत्मा उसका ज्ञाता ही है, उसका कर्त्ता-हर्ता नहीं है। पहले रागादिको अपने परिणामरूप बतलाया और फिर उसे ज्ञानके ज्ञेयरूपमें बतलाया। ऐसा समझे उसे स्वच्छंद नहीं होगा किन्तु भेदज्ञान होकर राग अत्यन्त अल्प हो जायगा। राग मेरे अपराधसे होता है ऐसा जाने वह व्यवहारनय है और ज्ञान दर्शन स्वभाव है उसे जानना वह निश्चयनय है। ज्ञान ज्ञानको जाने वह निश्चय और ज्ञान रागको जाने वह व्यवहार; ज्ञानमें ऐसा स्व–पर प्रकाशक सामर्थ्य है कि अपनेको भी जानता है और रागको भी जानता है। निश्चय ज्ञेय तो स्वको बनाया और रागको व्यवहार ज्ञेय बनाया—ऐसी साधकदशा है। अज्ञानी रागादिमें

तन्मय होकर जानता है, ज्ञानी ज्ञाता मात्र स्वभावमें तन्मय और रागमें अतन्मय होकर जानता है।

देखना–जानना यदि राग–द्वेष–मोहसे हो तो बँधता है, राग–द्वेष–मोह से न हो तो नहीं बँधता। यह मैंने किया, यह तूने किया—ऐसा अज्ञानमय जानना वह बंधनका कारण है। राग–द्वेष–मोहरहित ज्ञातृत्व बंधका कारण नहीं होता। ऐसी परिणाम शुद्धता अभव्यको नहीं होती। ज्ञान परसे होता है, ऐसा वह मानता है, इसलिए उसके ज्ञान–दर्शन कभी शुद्ध नहीं होते। भव्यको स्वरूपाचरणरूप शुद्धपरिणाम होते हैं, इसलिए ज्ञान–दर्शन शुद्ध होते हैं।

श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें कहा है कि—सम्यक् चारित्रसे शुद्ध ऐसा सम्यग्दर्शन–ज्ञान प्रगट करनेवालेको पुनः संसारमें जन्म नहीं होता, जैसे सूर्योदय होनेपर रात्रिका अंधकार कैसे रहेगा?

कोई प्रश्न करे कि—वस्तु देखे–जाने बिना उसमें परिणाम कैसे करें?

उत्तर :—परको देखता है–जानता है; उस परको देखनेवाला तो उपयोग है इसलिए देखता है, और ज्ञान है तो जानता है। उपयोग क्या रिक्त–खाली हो गया? नास्तिरूप है? रागादि से तो रिक्त है परन्तु स्वसे भरा हुआ है। यह उपयोगको ज्ञाता–द्रष्टास्वरूप है उसे ग्रहण कर और उसीमें परिणाम लगाकर स्थिरता–आचरण कर। यह पुरुषार्थ कर, यही कर्म तुझे करना है। परिणामरूप वस्तुका वेदन कर, स्वरूप–लाभ ले, वह धर्म है।

अपने परिणाम वीतराग स्वरूपकी ओर ले जा, तो गुणकी परिणति उसमें विश्राम करती है। उत्पाद–व्यय–ध्रुव परिणाममें आते हैं। उत्पाद–व्यय–ध्रुवमें सत् आया और सत्में पूर्ण स्वरूप आया; इसलिए परिणामशुद्धतामें सर्वशुद्धता आ गई। जब परिणामस्वभावधारी यह जीव शुभ अथवा अशुभ परिणामोंसे परिणमता है तब वह जीव शुभ या अशुभ होता है, और जब शुद्ध परिणामोंसे परिणमता है तब जीव शुद्ध होता है।

सर्व परिणाम स्व-स्वरूपके हैं। पराचरणके दो भेद हैं—द्रव्यपराचरण तथा भावपराचरण। नोकर्म उपचार द्रव्यपराचरण है। परम्परासे अनादि उपचार है। जीव उसका कुछ नहीं कर सकता, मात्र निमित्तका कथन है। देह धारण सादि उपचार है, वह भी निमित्तका उपचार है। द्रव्यकर्म जोग भी अनादि निमित्तका उपचार है। भावकर्म अशुद्ध निश्चयनयसे है। भावपराचरण राग-द्वेष मोह है, वह जीवका भावपराचरण है।

प्रश्न :—रागादि जीवके भाव हैं और परभाव स्पर्शादिक हैं, फिर रागादिको पर भाव क्यों कहते हो?

उत्तर :—शुद्ध निश्चयनयसे रागादि जीवके नहीं हैं, क्योंकि त्रैकालिक शुद्ध स्वभावमें तादाम्यताकी दृष्टिसे विकारका अभाव है, तथा वे रागादि आत्माके गुणमें तन्मय नहीं हैं। स्वभावमें संसार तन्मय नहीं है। यदि तन्मय हो तो मोक्ष नहीं हो सकता, संसार एक समयमात्रकी पर्याय है। उत्पाद-व्यय प्रतिसमय नवीन पर्याय है, अन्य-अन्य भाव है। रागादि विकारभाव है वह जीवकी वर्तमानपर्याय है, वह पर्यायसे अन्य नहीं है; परन्तु त्रैकालिक स्वभावसे विकारपर्याय तन्मय नहीं है, इसलिए पृथक् है, —ऐसा जाने उसे भावकर्मके नाशसे मुक्ति है।

प्रवचन–४३

माघ शुक्ला ३–४, रविवार दि० १८-१-५३

आत्माके अनुभवमें क्या प्रगट होता है और क्या छूट जाता है उसकी बात चलती है। रागादि वह आत्मासे पर हैं, इसलिए आत्माके अनुभवमें वह छूट जाते हैं। जब जीव शुद्ध आत्माकी प्रतीति करके रागादिको निजस्वरूप नहीं माने तब भवपद्धति छूटती है। रागरहित शुद्ध दर्शन–ज्ञान–चारित्रको निजस्वरूप जानकर ग्रहण करे वह मुक्तिका मूल है। परिणामोंको जिस ओर लगाए वैसे होते हैं। यदि स्वभावोन्मुख करे तो उन परिणामोंमें धर्म होता है और रागादि परमें लगाए तो विकार होता है। स्वभाव वस्तु विद्यमान है उसमें अंतर्मुख अवलोकन करे तो मुक्ति होती है और परोन्मुख हो तो संसार होता है। स्वयं जिस ओर परिणाम लगाऐ वैसी दशा होती है। स्वयं स्वतंत्र है, इसलिए परको छोड़कर निजस्वरूपमें परिणाम लगाओ। उत्पाद–व्यय–ध्रुव, षट्गुणवृद्धिहानि, अर्थक्रियाकारीपना परिणामसे ही साध्य है, अपने परिणाम अपने आधीन हैं, इसलिए परिणामोंको स्वभावोन्मुख करो—ऐसा कहते हैं।

इसप्रकार अनुभवका वर्णन पूर्ण किया। अब देव अधिकार कहते हैं।

आत्माके अनुभवकी बात करनेवाले सर्वज्ञदेव हैं। अपने परिणामोंको स्वोन्मुख कर तो मुक्ति होगी और परोन्मुख करेगा तो संसार होगा—ऐसा कहनेवाले सर्वज्ञ परमात्मा वे देव हैं। उन सर्वज्ञको जाननेसे परम मंगलरूप निजानुभवकी प्राप्ति होती है। निमित्तरूपसे ऐसा कहा है कि देवसे परम मंगलरूप निज अनुभवकी प्राप्ति होती है; परन्तु वास्तवमें तो स्वयं ज्ञानस्वभावको जानकर अंतर्मुख होकर निजअनुभव करता है। सर्वज्ञपरमात्माको जो जानता है उसे आत्माकी पहिचान हुए बिना नहीं

रहती। ऐसी सर्वज्ञदशा मुझे अपने ज्ञानस्वभावके अवलम्बनसे प्रगट होगी—ऐसे निश्चयसे जिसने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति की उसे व्यवहारसे सर्वज्ञदेवकी प्रतीति होती ही है। रागकी या परकी रुचिसे सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती परन्तु ज्ञानशक्तिके अवलम्बनसे ही सर्वज्ञता प्रगट होती है। ऐसी रुचिके बिना वास्तवमें सर्वज्ञकी प्रतीति नहीं होती। सर्वज्ञकी प्रतीति करनेवाला रागके अवलम्बनसे लाभ नहीं मानता, क्योंकि सर्वज्ञको राग नहीं है। सर्वज्ञदेवने वह दशा कहाँसे प्रगट की? विकारमेंसे, निमित्तमेंसे अथवा पूर्वकी पर्यायमेंसे वह सर्वज्ञता प्रगट नहीं की है, परन्तु अंतरकी पूर्ण शक्तिमेंसे वह सर्वज्ञदशा प्रगट की है और मैं अपने स्वभावकी पूर्ण शक्तिके अवलम्बनसे सर्वज्ञदशा प्रगट करनेवाला हूँ। —इसप्रकार स्वभावसन्मुख होकर जिसने प्रतीति की उसीने वास्तवमें सर्वज्ञको माना है और उसे सर्वज्ञदेव उपकारी हैं,—ऐसा निमित्तसे कहा जाता है। नैमित्तिकभाव स्वयं प्रगट किया तब परको निमित्त कहा है ना? नैमित्तिकभाव बिना निमित्त किसका कहोगे? देव तो पर हैं, परके कारण वास्तवमें निज–अनुभव नहीं होता। यदि परके कारण हो तो सबको होना चाहिए, परन्तु अज्ञानीको सर्वज्ञकी प्रतीति ही नहीं है। जिसे अपने ज्ञानस्वभावकी खबर नहीं है, सर्वज्ञदेवने सर्वज्ञता कैसे प्राप्त की—उसकी प्रतीति नहीं है, उसके लिए तो सर्वज्ञभगवान वास्तवमें 'देव' ही नहीं हैं, क्योंकि उसके ज्ञानमें सर्वज्ञदेवकी प्रतीति नहीं है, इसलिए उसे तो सर्वज्ञदेव अनुभवमें निमित्त भी नहीं है। यथार्थ पहिचान करके जिसने आत्माका अनुभव किया उसे देव उपकारी हैं। सर्वज्ञदेव परमात्मा हैं; उनमें श्री अरिहंतपरमात्मा शरीरसहित होनेसे साकार हैं और सिद्धपरमात्मा शरीररहित होनेसे निराकार हैं। वास्तवमें तो अरिहंतदेवका आत्मा भी शरीररहित ही है, परन्तु शरीर–संयोगकी अपेक्षासे उन्हें साकार कहा जाता है और सिद्धभगवानको शरीरका संयोग नहीं है उस अपेक्षासे निराकार कहा है, परन्तु आत्माका आकार अन्तिम शरीरसे किंचित् न्यून है, उस अपेक्षासे उनको साकार भी कहा जाता है।

अरिहंत परमात्माको चार अघातिकर्मोंका संयोग होनेसे चार गुण

अभी व्यक्तरूप प्रगट नहीं हुए हैं, परन्तु केवलज्ञानमें तो वे प्रगट ज्ञात हो गये हैं। किस समय चार अघातिकर्मोंका नाश होगा और चार गुण प्रगट होंगे—उसका ज्ञान तो वर्तमानमें ही हो गया है। नामकर्मके निमित्तसे मनुष्यगति है, इसलिए सूक्ष्मत्व गुण वर्तमानमें प्रगट नहीं है, परन्तु केवलज्ञानमें तो वह सब ज्ञात हो गया है कि वह सूक्ष्मत्व गुण कब प्रगट होगा; इसलिए केवलज्ञानकी अपेक्षासे उसे सूक्ष्मत्वको भी व्यक्त कहा जाता है। सूक्ष्मत्व गुण अटक रहा है वह अपनी पर्यायकी वैसी योग्यता है—ऐसा भी जानते हैं और भविष्यमें अल्पकाल पश्चात् सादि–अनन्त सूक्ष्मत्वस्वभाव व्यक्त हो जायगा—यह भी ज्ञानमें आ गया है। देखो, यह केवली भगवानकी पहिचान !

वेदनीयकर्मके निमित्तसे अभी अव्याबाधपना व्यक्त नहीं हुआ है, परन्तु वैसी योग्यता ज्ञानमें ज्ञात होती है और अल्पकालमें वेदनीय हटकर सादि–अनन्त अव्याबाधदशा प्रगट होगी—उसका ज्ञान वर्तमानमें हो गया है। वर्तमान अव्यक्त होनेपर भी व्यक्तपनेका ख्याल भी ज्ञानमें आ गया है—ऐसा केवलज्ञानका सामर्थ्य है। देखो, अपनेको वर्तमान अल्पज्ञता होनेपर भी जिसने सर्वज्ञशक्तिकी अंतरप्रतीति की है ऐसा साधक जीव केवलीकी इसप्रकार प्रतीति करता है। वर्तमान पर्यायमें पूर्ण शुद्धता व्यक्त न होनेपर भी श्रद्धामें पूर्ण शुद्धता आ गई है, ज्ञानमें आ गई है और अल्पकालमें चारित्रादि की भी पूर्ण शुद्धता प्रगट हो जाएगी।—इसप्रकार वर्तमानमें श्रद्धा–ज्ञान हो गए हैं। जैसे सर्वज्ञ अरिहंतदेवको सूक्ष्मत्वादि चार गुण अव्यक्त होनेपर भी उसकी सादि–अनंत व्यक्ति केवलज्ञानमें ज्ञात हो गई है, वैसे ही उन सर्वज्ञकी प्रतीति करनेवाला साधक भी कहता है कि—हे नाथ ! मुझे रागादि पर्याय वर्तमानमें व्यक्तरूप है और पूर्ण गुणोंकी व्यक्तदशा नहीं है परन्तु स्वभावके अवलम्बनसे पूर्ण शुद्धता प्रतीतिमें तथा ज्ञानमें आ गई है और अल्पकालमें रागादिका अभाव होकर सादि–अनन्त पूर्ण शुद्धता व्यक्त हो जाएगी।

अरिहंतको अभी अवगाहपना व्यक्त नहीं हुआ है, शरीरका निमित्त

अभी है और आयुकर्म निमित्त है, परन्तु ज्ञानमें तो सादि-अनन्त अवगाहनत्व व्यक्त हो गया है।

गोत्रकर्मके निमित्तसे अभी अगुरुलघु स्वभाव व्यक्त नहीं हुआ है, परन्तु ज्ञानमें उसकी सादि–अनन्त स्वभावदशा व्यक्तरूपसे ज्ञात हो गई है। ऐसे सर्वज्ञकी प्रतीति करनेवाला कहता है कि हे नाथ ! जैसे तुम्हारे प्रतिजीवी गुणोंकी विपरीतदशा वर्तमानमें होनेपर भी तुम्हारे ज्ञानमें वह शुद्ध व्यक्तरूपसे ज्ञात हो गई है और वह अल्पकालमें व्यक्त हो जाएँगी, वैसे ही मुझमें पूर्ण ज्ञानादि दशा अभी व्यक्त नहीं हुई है, परन्तु पूर्णस्वभाव प्रतीतिमें आ गया है, उसके अवलम्बनसे अल्पकालमें पूर्ण व्यक्त हो जाएँगी। इसप्रकार सर्वज्ञकी पहिचान कराके सर्वज्ञके ज्ञान–अपेक्षासे उनको चारों प्रतिजीवी गुण व्यक्त कहे, परन्तु अभी परिणमनमें व्यक्त नहीं हुए हैं।

अब कहते हैं कि—ऐसे सर्वज्ञदेव चारों निक्षेपसे पूज्य हैं। किस प्रकार? वह कहते हैं। निर्विकल्प चिदानन्द निजपदमें जो नमता है—परिणमता है, जो पूर्ण स्वभावका सत्कार करनेवाला है उस धर्मी जीवको अरिहंतपदका नाम भी परमपदकी प्राप्तिका कारण है।

जिन सुमरो जिन चिन्तवो जिन ध्यावो सुमनेन।
जिन ध्यायंतहि परमपद, लहिये एक क्षणेन।।

वीतरागका स्मरण सच्चा कब कहा जाता है? कि राग–विकल्पकी क्रिया आदरणीय नहीं है, भगवानकी ओरका शुभराग भी सहायक नही है, शरीरकी क्रिया मैं नहीं कर सकता, ज्ञातामात्र हूँ, इसप्रकार अपने अकेले वीतराग ज्ञायकस्वरूपके श्रद्धा–ज्ञान करके मैं त्रिकाल ऐसा ही हूँ—इस प्रकार निजपदकी धारणा करता है उसे परमात्मस्वरूपका स्मरण सच्चा है, अन्यका स्मरण भी झूठा है।

एक क्षणमें शुद्ध परमपद–मुक्ति प्राप्त करता है वह किस प्रकार? स्वावलंबी स्थिरता द्वारा अखण्डानन्दके उग्र आलम्बनरूप शुक्लध्यान द्वारा

अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान और मोक्षदशा प्राप्त होती है।

निष्क्रिय निरालम्बकी प्रतीति है उसे सर्वज्ञ–वीतरागदेवकी प्रतिमा निमित्त कही जाती है। मात्र प्रतिमाके वंदन–पूजन करनेसे आत्मलाभ नहीं है। ऐसा तो अनन्तबार किया है, उसे निमित्त भी कब कहा जाएँगा? कि अपनेमें सच्ची दृष्टि–ज्ञान चारित्ररूप नैमित्तिक पर्याय प्रगट करे तो निमित्तको निमित्तरूपसे जाननेरूप व्यवहार कहा जाता है।

प्रतिमा स्थापना निक्षेपमें है। निक्षेप ज्ञेयरूप विषयके भेद हैं। श्रुतज्ञानप्रमाणरूप सच्चे ज्ञानके बिना ज्ञेयके भेदको यथार्थ नहीं जान सकता, इसलिए सम्यग्ज्ञानीको ही स्थापनाका सच्चा ज्ञान कहा जाता है। अज्ञानी तो मानता है कि ज्ञेयसे मुझे ज्ञान हुआ है, उसे चारमेंसे एक भी निक्षेपका ज्ञान सच्चा नहीं है। स्थापनाके कारण ज्ञान नहीं है, राग नहीं है, लाभ नहीं है—ऐसा माने उसे जिनेश्वरकी स्थापना निमित्त कही जाती है। पहले जिस मनुष्यका रूप देखा हो वह उसका स्मरण करेगा न! वैसे ही सर्वज्ञदेवका स्मरण कौन करेगा? –कि जिसने ज्ञानानन्द पूर्ण परमात्मस्वरूप आत्माकी प्रतीति की हो और ऐसा जाना हो कि राग–निमित्तसे लाभ नहीं है वह वीतरागस्वरूपका स्मरण कर सकता है।

जिनस्थापनासे सालम्बन ध्यान द्वारा निरालम्बी पद प्राप्त करता है। कैसी है स्थापना? कहा है कि :—

‘‘हे भव्य! यदि तुझे मोक्षसुखकी पिपासा है, उसे प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा है, तो तुझे जैनमूर्तिकी उपासना करनी चाहिए। क्या वह मूर्ति ब्रह्मस्वरूप है? क्या उत्सवमय है? श्रेयरूप है? क्या ज्ञानानन्दमय है? क्या उन्नतरूप है? और क्या सर्वशोभासे सम्पन्न है? परन्तु ऐसे अनेक विकल्पोंसे क्या? ध्यानके प्रसादसे आपकी मूर्तिको देखनेवाले भव्योंको क्या वह सर्वोत्तम तेजको दिखलाती है? हाँ, अवश्य दिखलाती ही है। और जो मूर्ति मोहरूपी प्रचण्ड दावानलको शांत करनेके लिए मेघवृष्टि समान है, जो इच्छित कार्यको प्राप्त करनेके लिए नदीके झरनेके समान है, जो सज्जनोंके लिए कल्पेन्द्रबेल समान है, कल्पवृक्षके समान

इष्ट फलदाता है और संसाररूपी प्रबल अंधकारका नाश करनेके लिए प्रचण्ड सूर्यप्रकाश है, इसलिए हे भव्य ! ऐसी उस वीतरागमूर्तिकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।''

हे भव्य ! यदि तुझे मोक्षसुखकी आकांक्षा है, वह पूर्णपद प्रगट करनेकी उत्कट अभिलाषा है, तो तुझे अक्रियबिम्ब–जैनमूर्ति जो कि शांत वीतरागस्वरूप है उसकी उपासना करनी चाहिए। भक्ति, पूजाके शुभरागसे शुद्ध नहीं हुआ जाता, परन्तु रागके अभावरूप स्वभावके अवलम्बनसे ही शुद्धता होती है। वीतरागजिनप्रतिमा चैतन्य–आनन्दकी मूर्ति है, वह निश्चयसे यह आत्मा स्वयं है—ऐसी प्रतीति सहित विकल्प उठा है, वहाँ पूर्ण वीतरागताका बहुमान लाकर उत्साह बढ़ाता है कि अहो ! यह जिनप्रतिमा कैसी परमानन्द ब्रह्म अक्रियज्ञानकी मूर्ति है ! क्या अनुपम उत्सवमय है ! निश्चयरूपसे तो अपने ज्ञानका सच्चा ज्ञेय तू स्वयं है। अपनेको जान तो व्यवहार ज्ञेय जिनप्रतिमाका अवलम्बन कहा जाएँगा। श्रेयरूप, ज्ञानानन्दमय, उन्नतरूप क्या है ? वास्तवमें तो सर्वोत्कृष्ट उन्नत महिमावान मेरा स्वरूप है।—ऐसी अंतरमें निश्चयस्थापना है। ऐसे ज्ञानसहित बहुमान लाकर वीतरागताकी महिमा करता है। जगतमें सर्व शोभासे अनुपम सर्वोत्तमता सहित क्या है ? परन्तु ऐसे अनेक विकल्पोंसे क्या ? विकल्प गौण हैं। स्वसन्मुखतारूप ध्यानके प्रसादसे हे भगवान ! आपकी मूर्तिके दर्शन करनेवाले भव्योंको क्या वह सर्वोत्तम महिमारूप तेजको दिखलाती है ? अंतर–अवलोकन करके देखनेवालेको ही वह दृष्टिगोचर होती है। तथा वह मोहरूपी प्रचण्ड दावानलको शांत करनेके लिए मेघवृष्टि समान है। अंतरमें वीतरागी प्रसन्नताके शांत झरने बहानेवाली है । सज्जनोंको कल्पेन्द्रबेलके समान इष्टफल दाता है, संसाररूपी प्रबल अंधकार नाशक प्रचण्ड सूर्यप्रकाश है। इसलिए हे भव्य ! ऐसी वीतरागमूर्तिकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।

स्वभावकी प्रतीति करके ऐसी भक्ति ज्ञानीको अवश्य आती है।

❋ ❋ ❋

प्रवचन–४४

माघ शुक्ला ५, सोमवार दि० १९-१-५३

आत्माका आनन्दस्वभाव त्रिकाल ध्रुवस्वरूप है। उसकी दृष्टि करके उसमें लीनता करना वह अनुभव है और वह मोक्षका मार्ग है। आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है, उसकी रुचि करके तथा रागकी व्यवहारकी रुचि छोड़कर जिस क्षण आत्माके आनन्दका अनुभव हो वह निश्चयरत्नत्रय है। बीचमें शुभराग आने पर भगवानकी प्रतिमाका बहुमान-भक्ति आते हैं। क्योंकि स्वसंवेदनरूप वीतरागमुद्रा देखकर अपने स्वसंवेदनभावरूप स्वरूपका विचार करता है। मेरा आत्मा रागसे या परसे अनुभवमें आए ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञानसे ही स्वसंवेदनमें आए ऐसा है—ऐसी प्रतीति सहित भगवानकी वीतरागी मुद्रा देखकर स्वयं उसका विचार करता है। अहो ! इस स्वसंवेदन द्वारा राग को हटाकर भगवान चिदबिम्ब–जिनबिम्ब अक्रिय वीतराग हुए, मेरा स्वरूप भी वैसा ही है। वीतराग भगवान हुए वे भी पूर्वकालमें रागी थे, पश्चात् स्वरूपमें लीनता द्वारा उस रागको दूर करके वीतरागी हुए । जो सर्वज्ञ हुए वे भी पूर्वमें अज्ञानी और रागी थे, पश्चात् आत्माकी प्रतीतिपूर्वक स्वसंवेदन द्वारा उस रागको हटाकर वीतराग-सर्वज्ञ हुए। वैसे ही मैं वर्तमानमें सराग हूँ, परन्तु राग मेरा स्वरूप नहीं है। अपने स्वरूपके संवेदन द्वारा उस रागको मिटाकर मैं वीतरागी बनूँगा। व्यवहाररत्नत्रयका भाव वह राग है, चिदानन्दस्वरूपमें लीनता द्वारा सर्व राग मिटने पर मैं अपने वीतराग पदको प्राप्त करूँगा। वीतरागता वह कोई बाहरकी वस्तु नहीं है, परन्तु अपना पद है, जिसे ऐसा ज्ञान हो उस जीवको प्रतिमामें स्थापनाकी यथार्थ प्रतीति होती है।

श्री समन्तभद्राचार्य भगवानकी स्तुतिमें कहते हैं कि—हे नाथ ! आप ज्ञानियोंको ही पूज्य हैं; अज्ञानी सचमुच आपको नहीं पहिचान

सकते। निश्चयसे तो हे नाथ ! मेरा स्वभाव भी आप जैसा ही वीतराग है। मेरा स्वभाव त्रिकालपदकी उपेक्षावाला है। मैं चैतन्यप्रतिमा हूँ, परन्तु वर्तमानपर्यायमें राग है उसे स्वभावके अवलम्बन द्वारा छोड़कर मैं वीतराग होऊँ—ऐसी प्रतीतिपूर्वक ज्ञानी प्रतिमामें भगवानकी यथार्थ स्थापना मानता है। देखो, अरिहंतदेवकी वीतरागी मुद्रा !! वह पत्थरमें उत्कीर्ण होनेपर भी वास्तवमें वीतरागमार्ग प्रदर्शित करती है। परन्तु किसे? कि जिसे अंतरंगप्रतीति हुई है उसे। अहो ! शांत–शांत वीतराग मुद्रा ! समस्त जगतको जानती है। छ माह और एक समयमें छसौ आठ जीव मोक्ष प्राप्त करें उनको भी जानती है और जगतमें युद्ध हो उसे भी जानती है—इसप्रकार लोकालोकको जानती या देखती हो—ऐसी वीतरागी जिनबिम्बकी मुद्रा होती है। वह मुद्रा मार्ग दर्शाती है कि अहो जीवो ! स्थिर होओ ! स्थिर होओ ! ज्ञायक चिदानन्द तुम्हारा स्वरूप है। ऐसे स्वरूपको जो पहिचाने उसे भगवानकी स्थापना निमित्त है। अहो ! शांत...शांत....शांत वीतराग मुद्राकी स्थापनाके निमित्तसे तीनों कालमें भव्यजीव धर्मकी साधना करते हैं। भगवानकी प्रतिमा कुछ देती–लेती नहीं है, परन्तु जो जीव यथार्थ श्रद्धा करता है उसे वह प्रतिमा निमित्तरूपसे वीतरागमार्ग दिखलाती है।

अरे जीवो ! स्थिर हो जाओ !.....उपशमरसमें निमग्न हो जाओ ! —इसप्रकार मानों भगवानकी प्रतिमा उपदेशती हो ! इसलिए स्थापना भी परमपूज्य है। तीनलोकमें शाश्वत वीतरागमुद्रित जिनप्रतिमाएँ हैं। जिसप्रकार लोक अनादि अकृत्रिम है, लोकमें सर्वज्ञ भी अनादिसे हैं, वैसे ही लोकमें सर्वज्ञकी वीतराग प्रतिमा भी अनादिसे अकृत्रिम शाश्वत है। जिन्होंने ऐसी प्रतिमाओंकी स्थापनाको उड़ाया है वे धर्मको समझे नहीं हैं। धर्मी जीवको भी भगवानके जिनबिम्बके प्रति भक्तिका भाव आता है।—इसप्रकार स्थापना निक्षेपकी बात कही। अब द्रव्यनिक्षेपकी बात करते हैं।

जो जीव भविष्यमें तीर्थंकर होनेवाला है वह जीव द्रव्यनिक्षेपसे तीर्थंकरकी भाँति पूज्य है। अभी तीर्थंकर नहीं हुए हैं परन्तु भविष्यमें होनेवाले हैं—वे भी द्रव्यनिक्षेपसे पूज्य हैं, अथवा अन्य रीतिसे द्रव्यनिक्षेप

इसप्रकार भी है कि तीन कल्याणक तक तीर्थंकरका आत्मा द्रव्यजिन है, वह द्रव्यनिक्षेपसे पूज्य है। गर्भ, जन्म और तपकल्याणक तक भगवानका आत्मा द्रव्यजिन है, वह भी पूज्य है। भगवानका जन्म हो वहाँ इन्द्र आकर पूजा और भक्ति करते हैं।

अब, भावजिनकी बात करते हैं—भावजिन अर्थात् जिनको आत्मशक्तिका विकास होकर केवलज्ञान हो गया है और दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देकर भव्य जीवोंको तारते हैं। ज्ञानकीकला ऐसी है कि मतिज्ञानकलामें केवलज्ञानका निर्णय आ जाता है। अनन्तचतुष्टयसहित अरिहंतपरमात्मा समवसरणमें विराजते हैं और दिव्यध्वनिमें साक्षात् मोक्षमार्गकी वर्षा करते हैं—तू चिदानन्दघन अनन्त गुणका सागर है, तू भगवान है, तू परमात्मा है, तेरे द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें प्रभुत्व व्याप्त है, उसे जानकर उसमें स्थिर हो ! इसप्रकार दिव्यध्वनिमें साक्षात् मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। देखो, साक्षात् मोक्षमार्गके उपदेशकी बात कही, अर्थात् भगवानने स्वभावोन्मुखतारूप वीतरागभावको ही मोक्षमार्ग कहा है। बीचमें राग आए वह मोक्षमार्ग नहीं है। तू व्यवहार और निमित्तकी उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख हो। इसप्रकार भगवानकी वाणीमें स्वभावसन्मुखताका उपदेश आया है। भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो। अपने भूतार्थस्वभावके आश्रयसे ही जीवको सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र होता है, इसके सिवा व्यवहारके आश्रयसे मोक्षमार्ग नहीं है। स्वभावकी सन्मुखतासे शान्ति द्वारा कषायाग्नि बुझती है। वर्षामें अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही भगवानने स्वसन्मुखी मोक्षमार्गकी वर्षा की, वही संसाररूपी दावानल बुझानेका साधन है। अंतर्स्वभावकी सन्मुखता होनेपर शान्तिरूपी जलकी वर्षा द्वारा अनादिकालीन दावानल शांत होता है।

देखो, इसप्रकार सर्वज्ञकी पहिचान कराई। रागसे या परावलम्बनसे जो धर्म मनवाए वह भगवानका उपदेश नहीं है।

अब, सिद्धदेवका वर्णन करते हैं।

सिद्ध निराकार परमात्मा हैं। उनके शरीरका आकार नहीं है, परन्तु

आत्माका असंख्यप्रदेशी आकार है। अरिहंतदेवको चार प्रतिजीवी गुण व्यक्त नहीं है परन्तु ज्ञानमें व्यक्त हैं—ऐसा कहा था। यहाँ कहते हैं कि सिद्धको अनन्तगुण व्यक्त हुए, अपने अनन्तसुखका पर्याय द्वारा वेदन करते हैं, अनन्त गुणोंका पूर्ण विकास हुआ उनके साथ अपने द्रव्य–गुणको भोगते हैं। भोगते तो पर्यायको हैं, क्योंकि द्रव्य–गुण तो ध्रुव–त्रिकाल हैं, उनको नहीं भोगा जाता, परन्तु ज्ञानकी एक पर्यायमें पूर्णस्वरूप ज्ञात हो गया है। तथा वे लोकशिखर पर विराजते हैं। भार रहित वस्तु ऊपर रहती है, तदनुसार आत्माकी पूर्णानन्ददशा व्यक्त होनेसे सर्वश्रेष्ठ हुए वे लोकाग्रमें रहते हैं।

षट्गुण हानि–वृद्धिरूप शुद्ध अर्थपर्याय है और अन्तिम शरीरसे किंचित् न्यून पुरुषाकाररूप आत्मप्रदेशोंका आकार तद्रूप व्यंजनपर्यायसहित सिद्ध भगवान विराजते हैं। जैसे चौकठेमें मोम भरा हो, पश्चात् चौकठा निकल जाने पर मोम पुरुषाकार रह जाय वैसे ही शरीररहित अतीन्द्रिय ज्ञानमय पुरुषाकाररूप सिद्धभगवान रहते हैं।

'श्री प्रवचनसार'में कहा है कि—

जो जानता अरहंतको, गुण, द्रव्य, पर्यायरूपसे,
वह जीव जाने आत्माको, अरु मोह नष्ट अवश्य हो ।।८०।।

जो आत्मा स्वसन्मुख होकर श्री अरिहंतके द्रव्य–गुण–पर्यायको जानता है वह निश्चयसे अपने आत्माको जानता है और उसके दर्शनमोहका क्षय होता है।

श्री अरिहंत–सिद्धदेवका स्वरूप बराबर जानता है उसे स्वरूपमें भ्रान्ति नहीं रहती। इसलिए देवका स्वरूप कहा।

ज्ञान अधिकार

ज्ञान लोकालोक सर्व ज्ञेयको जानता है। प्रत्येक जीवका स्वभाव जाननेका है। किसीको करता नहीं है, बिगाड़ता नहीं है; किसीका लेता नहीं है, किसीको कुछ दे नहीं सकता। लोकालोकको जाने ऐसा ज्ञानका

सामर्थ्य है। रागको हटाना अथवा रखना ऐसी शक्ति ज्ञानकी नहीं है, परन्तु जानना ही ज्ञानकी शक्ति है। ज्ञाता रहे वहाँ राग मिट जाता है, रागको मिटाना नहीं पड़ता।

प्रत्येक शरीरका आत्मा सदा ज्ञानका पिण्ड है। सर्वज्ञस्वभावी है तथापि वर्तमान संसार अवस्थामें अपने अपराधसे अज्ञानरूप हो रहा है। तब भी तीनकाल–तीनलोकको जाननेकी उसकी शक्ति कहीं जाती नहीं है। दूसरोंकी महिमा करे, परन्तु यह चिदानन्द पूर्णस्वभाव किसीके द्वारा नष्ट नहीं होता—ऐसी शक्ति निरन्तर है, उसकी महिमा तो कर! जिसप्रकार बादलों द्वारा सूर्यको ढँक लेने पर भी सूर्यका प्रकाश कही चला नहीं जाता, वैसे ही ज्ञानावरणसे ज्ञान कहीं जाता नहीं है—नष्ट नहीं होता। ज्ञानका ज्ञानरूप होना वह अनुभव है।

श्री समयसारमें कहा है कि :—

ज्ञानका ज्ञानरूप होना वह सम्यग्ज्ञान है,
ज्ञानका सम्यक्त्वरूप होना वह सम्यग्दर्शन है,
ज्ञानका स्थिररूप होना वह सम्यक्–चारित्र है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है उसके श्रद्धा–ज्ञान–रमणता कर, उसमें सभी समाधान आ जाते हैं। तेरी चैतन्यशक्ति विद्यमान है उसमें एकाग्र होकर उसे खोल। देखो, ज्ञानकी शक्ति ऐसी है कि अनन्त गुणोंको व्यक्त जाने। ज्ञानके बिना ज्ञेय ज्ञात नहीं होते। चैतन्यके प्रकाशमें ही समस्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं। ''हम हैं'' ऐसे अपने अस्तित्वकी प्रतीति जड़को नहीं है, उसे प्रकाशित करनेवाला तो ज्ञान है, ज्ञान जाननेवाला है और ज्ञेय ज्ञात होने योग्य है। ज्ञानके बिना ज्ञेयोंको जानेगा कौन? इसलिए ज्ञानकी प्रधानता कही है। आत्मा अनन्तगुण स्वरूप वस्तु है, परन्तु उसका ज्ञानगुण असाधारण है इसलिए ज्ञानमात्र कहा है। ज्ञानके बिना आत्माका निर्णय कौन करता? समयसारादि ग्रन्थोंमें आत्माको ज्ञानमात्र ही कहा है :—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
पर भावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

भगवान आत्मा ज्ञान है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान अनन्त गुणोंमें व्याप्त हो रहा है। ऐसे ज्ञानस्वरूप लक्षण द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि होती है, इसलिए आत्माको ज्ञानमात्र कहकर उसकी पहिचान कराई है। जैसे मन्दिरको ''श्वेतमन्दिर''—ऐसा कहकर उसकी पहिचान कराई जाती है। अब वहाँ मन्दिरमें दूसरे रंग भी हैं, परन्तु दूरसे श्वेत रंगकी मुख्यता भासित होनेसे उसे श्वेत रंगकी प्रधानतासे मन्दिरकी पहिचान कराते हैं। वैसे ही आत्मामें अनन्त गुण हैं, परन्तु उनमें ज्ञानगुण द्वारा आत्माकी पहिचान होती है, इसलिए आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। भगवान आत्मा ज्ञान द्वारा स्वयं अपनेसे ज्ञात होता है। ज्ञानप्रसिद्ध है, इसलिए उसके द्वारा आत्माकी पहिचान कराई है।

तथा एक-एक गुणमें अनन्त शक्ति है। एक गुण दूसरे अनन्तगुणोंमें व्यापक है। ज्ञानस्वरूपका निश्चय करना उसका नाम धर्म है। एक समयमें तीनकाल-तीनलोकको जाननेकी शक्ति है, उसे प्रतीतिमें लेकर एकाग्र होनेसे एकसमयमें तीनकाल-तीनलोकको जाने ऐसी शक्ति पर्यायमें विकसित हो जाती है।

वस्तुका जैसा स्वभाव हो वैसा ज्ञान जानता है, परन्तु वहाँ ''मैं यह करता हूँ''—ऐसा भ्रमसे अज्ञानी मानता है। दाहिनेके बाद बायाँ पैर उठेगा ऐसा ज्ञान जानता है, परन्तु ''मैंने पैर उठाया''—ऐसा अज्ञानी भ्रमसे मानता है, क्योंकि वह ज्ञानके स्वभावको नहीं जानता। आत्मामें अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुणकी अनन्त शक्तियाँ हैं, गुणकी पर्यायें अनेक हैं—उन सबको ज्ञान जानता है। सामान्यरूपसे वस्तु एक है और उसके गुण-पर्याय अनेक हैं—इसप्रकार ज्ञान सबको जानता है ऐसी उसकी शक्ति है। श्रद्धाका स्वभाव प्रतीति करनेका, चारित्रका स्वभाव स्थिर होनेका, ज्ञानका स्वभाव जाननेका, अग्निका स्वभाव उष्ण,—ऐसा ज्ञान जानता है। ऐसे ज्ञानस्वभावका निर्णय करे तो उसे अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा।

प्रवचन–४५

माघ शुक्ला ६, मंगलवार दि० २०-१-५३

ज्ञानकी प्रधानतासे आत्माका वर्णन ''ज्ञायक''रूप से किया है। आत्मा ज्ञायक है, ज्ञान सबको जाननेवाला है। ज्ञान सर्व वस्तुस्वरूपका निर्णय करता है। श्रद्धा तो निर्विकल्प प्रतीतिरूप है। उसे जाननेवाला ज्ञान है। इस प्रकार अनन्त गुणोंमें ज्ञानगुणकी प्रधानता है। ज्ञान द्वारा स्वसंवेदन होता है। आत्माका स्वसंवेदन होनेसे प्रथम ज्ञानका अंश शुद्ध हुआ। चौथे गुणस्थानमें ज्ञानका स्वसंवेदन प्रगट हुआ वह सम्यक् मति–श्रुतज्ञान है, वह अंश है और उसका पूर्ण विकास होनेपर सर्व लोकालोकको जाने ऐसा सामर्थ्य प्रगट होता है। स्वानुभवकी ओर जो अंश चला वह बढ़कर केवलज्ञान होता है, रागके द्वारा केवलज्ञान नहीं होता। परज्ञेय हैं इसलिए ज्ञान उन्हें जानता है—ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञानपर्याय स्वयं वैसे ज्ञेयाकाररूप होती है। परज्ञेय कहीं ज्ञानमें नहीं आते, शब्दादि परज्ञेयोंके कारण ज्ञानपर्याय नहीं होती। मति–श्रुत ज्ञान हो अथवा केवलज्ञान पर्याय हो, वह प्रत्येक ज्ञान अपनी ज्ञानपर्यायसे ही है, परके कारण वह ज्ञान नहीं है।

ज्ञेय नष्ट होनेपर ज्ञान नष्ट हो जाए ऐसा नहीं है। राग हुआ, रागका ज्ञान हुआ, तथापि ज्ञानकी पर्यायमें रागका ख्याल और राग वह मैं नहीं हूँ—ऐसा ज्ञानका ख्याल रहता है, इसलिए ज्ञेयके कारण ज्ञान नहीं है।

जितने ज्ञेय जाननेमें आते हैं उतने भेद ज्ञानकी पर्यायमें पड़ते हैं वह ज्ञानके कारण हैं। राग और पर ज्ञेय जाननेमें आते हैं वह ज्ञानका अस्तित्व नहीं है, ज्ञान तो ज्ञानस्वभावसे ही होता है। अनेक ज्ञेय हैं इसलिए ज्ञान अनेक भेदरूप नहीं हुआ है। स्व–पर प्रकाशक स्वभावके अस्तित्वसे ही ज्ञान अनेक प्रकारको जानता है। दया, दान, भक्ति, व्यवहाररत्नत्रयके विकल्प आदि अनेक प्रकारको जाननेरूप ज्ञानकी

अवस्था होती है, वह ज्ञानके कारण है, रागके कारण (अनेक प्रकार) नहीं हैं। कर्मोदयके कारण अनेक प्रकार नहीं हैं।

जड़कर्म परिभ्रमणका कारण नहीं हैं, राग भी भवभ्रमणका मूल कारण नहीं है, परन्तु राग और ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानकी एकत्वबुद्धि ही संसार और संसारका कारण हैं। भावकर्म–रागद्वेष होते हैं वह एक समयकी अशुद्ध पर्याय है। इतना ही मैं हूँ, उसके आधारसे लाभ होता है, शुभरागके आधारसे ज्ञान विकसित होता है ऐसी पर्यायबुद्धि ही संसार है। रागसे–ज्ञेयसे ज्ञान नहीं है, त्रैकालिक ज्ञानस्वभावसे ही मेरा सर्वस्व है, स्वाश्रय ज्ञातापना ही धर्म है। मेरा स्वभाव जाननेका ही है। परकी हिंसा या दया, शरीरकी क्रिया, भाषा आदि मेरे आधीन नहीं है। ज्ञायक मात्रपनेमें श्रद्धा, ज्ञान और लीनता वह धर्म है। शुभाशुभरागका मैं ज्ञाता हूँ, ज्ञानस्वभावमें भव और भवभ्रमणकी शक्ति नहीं है, मैं तो नित्य ज्ञाता स्वभावी ही हूँ—ऐसा दृढ निश्चय वह भवरहितकी श्रद्धा है और भव–विकाररहितका ज्ञान ही सम्यक्‌मति–श्रुतज्ञान है।

मेरे ज्ञानकी पर्याय मेचक–अनेक प्रकारको जानती है, वह मेरा निश्चय स्वसामर्थ्य है। ज्ञान परको जानता है ऐसा कहना वह उपचार है। अपने मति–श्रुतज्ञानमें रहकर जानता हूँ, वह निश्चय है। लोकालोकको जानता है वह उपचार है। केवलीको भी इसप्रकार निश्चय–व्यवहार जानना।

ज्ञेय बदले, शरीरका नाश हो—वियोग हो उससे कहीं मेरी ज्ञानवस्तुका नाश नहीं होता। ज्ञान किसको मारता या किसे जीवित रखता है? ज्ञान तो मात्र जानता है। निश्चयसे ज्ञान अपनी ज्ञानपर्यायको जानता है। परका ज्ञाता हूँ—ऐसा कहना वह उपचार है। परको मारे या बचाये, आहार–पानी ले या दे, ऐसा व्यवहार ज्ञानमें नहीं है। क्योंकि परकी पर्यायमें स्वका अत्यन्त अभाव है; इसलिए किसीके कारण किसीका सत् है ऐसा नहीं है। जिस समय जैसा होता है वैसा ज्ञान तो अपनी पर्यायके कारण उसे जानता है, परके कारण ज्ञानका अस्तित्व नहीं है, और ज्ञेय

पलटनेसे ज्ञानीका विनाश हो जाए—ऐसा नहीं है। पर जीव मरा उसके कारण ज्ञानमें कोई हानि हो गई–ऐसा नहीं है। ज्ञान तो उसको जाननेवाला है। ज्ञान त्रिकाल है, वह सत् है और ज्ञानकी पर्याय भी अपनेसे ही सत् है। आहार–जल आए या जाए—उसके कारण ज्ञानमें कोई लाभ–हानि नहीं है, परज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात होते हैं वह भी उपचारसे है, वास्तवमें पर द्रव्य ज्ञानमें आ नहीं जाते, राग और निमित्तके अवलम्बन बिना स्वयं अपनेसे ही जाननेका ज्ञानका स्वभाव है।

लोकालोक आत्मामें नहीं हैं, इसलिए लोकालोकका ज्ञान उपचारसे कहा, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि केवली भगवानको लोकालोकका ज्ञान ही नहीं है।

कोई प्रश्न करे कि—लोकालोकका ज्ञान उपचारसे कहा, तो सर्वज्ञपद भी उपचारसे हुआ। तो क्या सर्वज्ञपद झूठ है उपचार तो असत्य है और आप कहते हैं कि लोकालोकका ज्ञान तो उपचारसे है, तो क्या सर्वज्ञपद भी उपचारसे है?

समाधान :—अरे भाई ! जिसके ज्ञानसामर्थ्यमें उपचारमात्रसे भी लोकालोक भासित हुआ, उस ज्ञानका सामर्थ्य कितना !! जिसका व्यवहारसामर्थ्य भी ईतना, उसके निश्चयसामर्थ्यका तो कहना ही क्या? परज्ञेय आत्मामें नहीं है, इसलिए उनका ज्ञान उपचारसे कहा है, परन्तु ज्ञानका सामर्थ्य है वह कहीं उपचारसे नहीं है। लोकालोककी अपेक्षा अनंतगुना जाननेकी ज्ञानकी अपार शक्ति है। परमात्मप्रकाशमें कहा है कि—जैसे मण्डप तक बेल फैलती है, परन्तु उसमें अभी अधिक फैलनेकी शक्ति है, वैसे ही यह ज्ञान लोकालोकके मण्डप तक फैल चुका है, परन्तु इतना ही जाननेकी ज्ञानकी शक्ति है ऐसा नहीं है। अनन्त लोकालोक होते तो उनको भी जान लेनेकी ज्ञानकी शक्ति है, वह तो ज्ञानका स्वतः स्वभाव है। देखो, यह ज्ञानका सामर्थ्य?

आत्मा लोकालोकको जानता है और स्वयं अपनेको नहीं जानता—ऐसा कोई व्यवहारनयसे कहे तो उसमें क्या दोष है? अर्थात् कोई दोष

नहीं है, परन्तु वहाँ उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि लोकालोकको जाननेका सामर्थ्य ज्ञानमें नहीं है। लोकालोकको व्यवहारसे जानता है और स्वयं अपनेको तो निश्चयसे जानता है। यदि निश्चयसे लोकालोकको जाने तो वह परके साथ एकमेक हो जाए ! और यदि व्यवहारसे अपनेको जाने तो वह स्वयं अपने से भिन्न सिद्ध हो; इसलिको कहा है कि निश्चयसे आत्मा अपनेको ही तन्मयरूपसे जानता है, लोकालोकको नहीं। परन्तु आत्मामें सर्वज्ञशक्ति है वह कहीं उपचारसे नहीं है, वह तो वास्तविक स्वरूप है।

जिनको तन्मय हुए बिना लोकालोक उपचारसे भासित हुआ उनके निश्चय ज्ञानकी महिमाका क्या कहना? सर्वज्ञता को नहीं माननेवाले एक पण्डित तत्त्वार्थवृत्तिकी प्रस्तावनामें लिखते हैं कि—''भगवान महावीर तो विशिष्ट तत्त्वविचारक थे,'' तो उन्हें वस्तुस्वभावकी श्रद्धा नहीं है।

ज्ञानकी शक्ति लोकालोकको उपचारसे जाननेकी है, परन्तु अनन्त लोकालोक हों तो उनको भी ज्ञान जान ले ऐसा उसका सामर्थ्य है। यह ज्ञान स्वसंवेदनरूप होता हुआ सर्वको जाने ऐसा सहजस्वभाववाला है। किसी निमित्तका वेदन अथवा पुण्य-पापके विकल्पका वेदन करे और सर्वको जाने ऐसा नहीं है।

देखो, धर्म तो अंतरकी वस्तु है। वस्तुका स्वभाव ज्ञायक है। परमें एकमेक हुए बिना स्वभाव स्वसंवेदनसे सर्वको जानता है। निश्चय क्या? ऐसा न जाने उसका परको जानना भी सच्चा नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी व्यवहार श्रद्धाका जानना व्यवहारसे सच्चा कब होता है? कि-जब निश्चयसे स्वसंवेदनरूप स्वको जाने तब।

परकी अपेक्षा स्व है, स्वकी अपेक्षा पर है। परस्पर अभावरूप स्वतंत्र अस्तित्व है। स्वमें अथवा स्वके कारण पर नहीं, परके कारण स्व नहीं। निश्चयसे परके वेदन बिना पूर्ण स्वरूपको जानता है तथापि परको जाननेरूप उपचार भी है—ऐसी विवक्षासे वस्तुसिद्धि है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञानसे स्वरूप-अनुभव होता है।

❋

प्रवचन–४६

माघ शुक्ला ७, बुधवार दि० २१-१-५३

ज्ञेय अधिकार

यह अनुभवप्रकाश है। आत्माका स्वभाव त्रिकाल ज्ञान–आनन्द है। वह परमें तथा विकारमें अटककर पर्यायमें विकारका अनुभव करता है वह उसका सच्चा स्वरूप नहीं है। त्रिकाली स्वभावकी प्रतीति और पहिचान करके आनन्दका अनुभव करना वह धर्म और मोक्षमार्ग है। आत्माके ज्ञानानन्द स्वरूपका अनुभव किसे होता है? कि आत्मा ज्ञान है, वह स्व–परका ज्ञाता है और आत्मा तथा अनंत पदार्थ वे ज्ञेय हैं, परपदार्थ ज्ञानका ज्ञेय हैं और आत्मा उसका ज्ञाता है। ''ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं'' अर्थात् ज्ञात होने योग्य पदार्थ वे ज्ञेय हैं। इससे आगे बढ़कर दूसरा कोई सम्बन्ध माने तो वह अज्ञानी है। परवस्तुएँ ज्ञानमें ज्ञात होती हैं, परन्तु परवस्तुएँ आत्माको कहीं लाभ–हानि नहीं करती और आत्मा उन ज्ञेयोंको जानता है, परन्तु उन्हें दूर या निकट करे ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

ज्ञेय पदार्थ कैसा है? उसका विशेष वर्णन करते हैं। पदार्थकी तीन अवस्थाएँ–दशाएँ–प्रकार हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। इन द्रव्य–गुण–पर्यायमें समस्त ज्ञेयपदार्थोंका समावेश हो जाता है, इसके सिवा चौथी कोई वस्तु जगतमें नहीं है। द्रव्य कहा उसमें आत्मा स्वयं भी आ जाता है, आत्मा स्वयं भी ज्ञेय है। अपने तथा परके द्रव्य–गुण–पर्यायको जाने ऐसा ज्ञानका स्वभाव है, परन्तु परकी अवस्थाको करता नहीं है, भोगता नहीं है, ग्रहता नहीं है, छोड़ता नहीं है। त्रिकाली द्रव्यको, अनन्तगुणोंको तथा पर्यायको ज्ञान जानता है। राग पर्यायको भी जानता है; परन्तु रागको करूँ या छोड़ूँ—ऐसा ज्ञानका स्वभाव नहीं है। ज्ञान तो जाननेवाला ही है, ऐसी प्रतीति कर उसे भेदज्ञान होकर आत्माका अनुभव होता है। यहाँ

त्रैकालिक द्रव्यको 'द्रव्यअवस्था' कहा है, क्योंकि द्रव्य भी त्रिकाल द्रव्यरूप अवस्थित रहता है, इसलिए उसे भी अवस्था कहा जाता है। वस्तुके द्रव्य–गुण–पर्याय इन तीनोंको यहाँ अवस्था कहा है।

द्रव्यका द्रव्यरूपसे टिका रहना, गुणका गुणरूपसे टिका रहना और प्रत्येक अवस्थाका अपने–अपनेरूप रहना—इसप्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय यह तीनों ज्ञानके ज्ञेय हैं, परन्तु वहाँ ज्ञानके कारण ज्ञेय नहीं है और ज्ञेयके कारण ज्ञान नहीं है। ऐसा जाने तो परज्ञेयका स्वामी न बने और स्वज्ञेयका स्वामी रहकर धर्म करे।

वस्तु है, जो वस्तु है वह स्वयंसिद्ध है, उसमें ज्ञेय होनेका धर्म है और आत्मामें जाननेका धर्म है। उसके बदले परके साथ कर्त्ता–कर्मपना माने तो उसे अधर्म और मिथ्यात्व होता है। आत्माके सिवा शरीर, लक्ष्मी आदि जड़पदार्थ हैं, वे ज्ञानका ज्ञेय हैं। परन्तु उन पदार्थोंमें आत्माका सुख नहीं है। वे पदार्थ मुझे सुखरूप या दुःखरूप हैं—ऐसा माने तो वह भ्रमणा है। परद्रव्यमें ऐसी शक्ति नहीं है कि इस आत्माको वे सुख–दुःख दे सकें। हाँ, उनमें ज्ञानका ज्ञेय होनेकी शक्ति है। ऐसा समझनेसे ज्ञान तटस्थ रह गया और परमें इष्ट–अनिष्टपनेकी मान्यता नहीं रही। इसलिए वीतरागभावरूप शान्ति रही। उसका नाम धर्म और सुख है।

यह लकड़ी ऊपर उठी वह उसके परमाणुओंका पर्यायधर्म है। वह हाथके कारण ऊपर नहीं उठी है, उसीप्रकार ज्ञानके कारण या रागके कारण भी अन्यका कार्य नहीं होता। ज्ञानका उसे जाननेका धर्म है; वहाँ ऐसा माने कि मेरे कारण यह लकड़ी ऊपर उठी, तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसे परसे भिन्न होकर ज्ञानस्वरूपका अनुभव नहीं होता।

आत्माके अनन्तगुणोंमें ज्ञानगुणकी प्रधानता है। वह ज्ञान समस्त पदार्थोंका निर्णय करनेके स्वभाववाला है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं। ऐसा समझे उसे परसे भिन्नता होकर आत्माका अनुभव होता है।

द्रव्य अवस्था मुख्य है। मूलवस्तु न हो तो उसके शक्तिरूप गुण और उसकी पर्यायका निर्णय नहीं होगा। यदि आत्मा, परमाणु आदि

पदार्थ स्वशक्तिवानपना धारण न करे तो गुण–पर्यायपना सिद्ध नहीं होगा। मिठास हो और उसे धारण करनेवाले पदार्थकी सत्ता न हो तो उसका वस्तुपना नहीं हो सकता। द्रव्य अवस्थारूप नित्यवस्तुके बिना (आधाररूप वस्तुके बिना) गुण नहीं होता। ज्ञानस्वभावका सामर्थ्य ही ऐसा है कि यथावत् स्व–पर ज्ञेयका द्रव्य–गुण–पर्याययसे अवस्थितपना जाने। वस्तु है वह अपन ही गुण–पर्यायमें व्याप्त होनेवाली है, वह किसी अन्यके कारण नहीं है। ज्ञान स्व–पर ज्ञेयको जानता है और ज्ञेयमें ज्ञात होनेकी योग्यता है। वस्तु है वह अपने गुण–पर्यायमें व्यापक है। रागपर्याय है उसका आधार सम्पूर्ण गुण वह चारित्र है। पर्यायरूप रागअंशका उस चारित्र गुणमें व्याप्त होना है, किसी कर्म या निमित्तका उसमें व्याप्त होना नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक गुणकी स्वतंत्रता है। इस प्रकार प्रत्येकका स्वतंत्रपना है। जो भी संसारपर्याय निमित्तसे हुई मानता है उसने आत्माका अपने गुण–पर्यायमें स्वतंत्ररूपसे व्याप्त होना नहीं माना है।

केवली भगवानके समीप क्षायिक सम्यक्त्वकी पर्याय उदित हो, वहाँ ज्ञानी जानता है कि अपने श्रद्धागुणकी पर्यायमें मेरी व्याप्ति है, अन्यसे उसकी व्याप्ति नहीं हुई है। शरीरकी नग्नदशा हुई उसे ज्ञान जानता है कि उस शरीरकी पर्यायका आधार–कारण वह परमाणु द्रव्य है, इसलिए परमाणु ही उस पर्यायका कर्ता और व्यापक है। परवस्तु तो ज्ञानका ज्ञेयमात्र है; वह अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि ऐसा पदार्थका स्वभाव ही नहीं है। जो परवस्तुसे सुख–दुःख या राग–द्वेष होना मानता है वह मूढ़ है। जो भी पदार्थ है उसमें उसके गुण–पर्याय व्याप्त हैं, उसको जाननेके सिवा ज्ञानकी अन्य कोई शक्ति नहीं है। किसी ज्ञेयमें इष्ट–अनिष्टपनेकी छाप नहीं लगी है, परन्तु वह मात्र ज्ञात होने योग्य है।

द्रव्यका निर्णय करनेके पश्चात् गुणकी दशाके अस्तित्वका निर्णय होता है। स्वभाववान है तो उसका स्वभाव क्या है ऐसा जाना जा सकता है। गुणके बिना गुणी नहीं होता। दूसरे से पृथक्ताका निर्णय गुण द्वारा–स्वभाव द्वारा होता है।

प्रत्येक पदार्थ गुणोंका समुदाय है। है वह किसी परसे नहीं हो सकता। है उसका कोई ईश्वर–उत्पादक, रक्षक या नाशक नहीं है। प्रत्येक पदार्थ पृथक्–पृथक् है। निमित्त है वह भिन्न वस्तु ज्ञेयरूप है। निमित्त है तो मुझे ज्ञान या राग होता है—ऐसा माननेवालेने वस्तुस्थितिको नहीं जाना है। ज्ञानी कहते हैं कि—''निमित्तसे लाभ–हानि नहीं हो ऐसा स्वभाव है,'' वहाँ अज्ञानी कहता है कि ''आप निमित्तको नहीं मानते, निमित्तसे लाभ–हानि होते हैं ऐसा मानो तो आपने निमित्तको माना कहा जाएँगा !'' परन्तु यह बात झूठी है।

वस्तुमें पर्यायधर्म है, इसलिए उसमें प्रतिसमय परिणमन होता है। यदि पर्याय–अवस्था नहीं हो तो वस्तु परिणमित कैसे होगी? वस्तु स्वयं अपने पर्यायधर्म से ही परिणमती है, परके कारण परिणमन नहीं होता—ऐसी तत्त्वकी मर्यादा है। अरे जीव ! तू धैर्य रख, धैर्य रखकर तत्त्वकी मर्यादाको जान, तभी शान्ति होगी और दुःख मिटेगा। इसके सिवा अन्य उपायसे शान्ति हो ऐसा नहीं है। वस्तुमें पर्याय होनेका धर्म है। संसार पर्याय होनेकी योग्यता जीवमें है। यदि जीवमें वह योग्यता न हो तो कर्म क्या करवा देगा? और शिष्यमें वह योग्यता न हो तो क्या गुरु उसे दे देंगे? किसीके कारण किसीकी पर्याय नहीं होती; शिष्य अपने पर्यायधर्म से ही ज्ञानरूप है, और जीव अपनी पर्यायसे ही संसार या मोक्षरूप परिणमता है। तथा निर्दोष आहारके कारण जीवका मुनिपना बना रहता है ऐसा भी नहीं।

प्रतिक्षण नवीन–नवीन पर्यायरूप होना वह भी पदार्थका अवस्था धर्म है; किसी अन्य वस्तुके कारण नहीं। मिट्टीसे घड़ा बनता है, वहाँ मिट्टीमें वैसी पर्याय–अवस्था है। कुम्हार उस अवस्थाको परिणमित नहीं करता। उस–उस पर्यायमें बना रहना ऐसा वस्तुका अवस्थाधर्म है। अव=निश्चयरूप; स्थ=बना रहना; जिस समयकी जो पर्याय है वह निश्चित ही है; द्रव्य उस समय निश्चयसे उस अवस्थारूप परिणमित होनेवाला है; ऐसा उसका अवस्थाधर्म है, वह ज्ञेय है और आत्माका स्वभाव उसे जानने

का है। उसके बदले उल्टा–सीधा करना जो मानता है उसने ज्ञानका अनादर किया है, वह मिथ्यादृष्टि होकर अनन्तसंसारमें भटकता है। आत्माके रागसे शरीर नहीं चलता और शरीरके चलनेसे राग नहीं होता। सब अपनी–अपनी अवस्थामें परिणमित होते हैं। निमित्त आया इसलिए वह अवस्था हुई—ऐसा नहीं है। भगवान ! तुझे शान्ति चाहिए हो तो ज्ञेयोंको यथावत् जान। विपरीतरूपसे जानेगा उसे शान्ति प्राप्ति नहीं होगी; जो पदार्थको यथार्थ जानेगा उसे सम्यग्ज्ञान होकर शान्ति प्रगट हुए बिना नहीं रहेगी। अहो ! एक सिद्धान्तमें तो तीनकाल–तीनलोकके पदार्थोंका पृथक्करण कर दिया। पर्यायमें पर्यायधर्म न हो तो वह परिणमित कैसे होगा ? प्रत्येक पदार्थ अपने पर्यायधर्मसे ही परिणमता है, वह ज्ञानका ज्ञेय है। अन्य किसीके कारण पदार्थ परिणमता है—ऐसा माने वह मूढ़ है। इसलिए पदार्थ द्रव्य–गुण–पर्यायस्वरूप है—ऐसा ज्ञेय है। लकड़ी ऊपर उठी वह अपने पर्यायधर्मसे उठी है; हाथके कारण, रागके कारण अथवा जीवके कारण नहीं उठी है; यदि उनके कारण उठी हो तो आकाश क्यों ऊपर नहीं उठता ? क्योंकि उसमें वैसा पर्यायधर्म नहीं है। इसलिए सब अपने–अपने पर्यायधर्मसे ही परिणमते हैं। ऐसी वस्तुस्वरूपकी मर्यादा है। ऐसे वस्तुस्वरूपको जानना वह सम्यग्ज्ञान है।

प्रवचन–४७

माघ शुक्ला ८, गुरुवार दि० २२-१-५३

आत्माके आनन्दका अनुभव कैसे हो उसकी यह बात है। यदि प्रत्येक वस्तु द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंकी स्वतंत्रता स्वीकार करे तो द्रव्यकी दृष्टिपूर्वक पर्यायबुद्धि छूटे और अनुभव हो। पर्याय अवस्था न हो तो वस्तुको परिणमित कौन करे? किसी द्रव्यमें अन्य द्रव्यको पलटनेकी शक्ति नहीं है। द्रव्य–गुण सत् हैं और प्रत्येक समयकी पर्याय भी सत् है। पर्याय एक–एक समयकी है, इसलिए उसे सत् नहीं कहा जाता—ऐसा नहीं है। द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों सत् हैं—यह बात श्री प्रवचनसारमें कही है। निमित्तसे परिणमन होता है—यह बात नहीं रहती, क्योंकि वस्तुमें पर्याय भी सत् है; पर्याय धर्मके बिना वस्तुमें उत्पाद–व्यय सिद्ध नहीं होंगे। ''उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत्'' अर्थात् नवीन पर्यायका उत्पाद, पुरानी पर्यायका व्यय और वस्तुरूपसे ध्रुवता—यह तीनों मिलकर सत् हैं। यदि पर्याय न हो तो उत्पाद–व्यय–ध्रुवकी सिद्धि ही नहीं होगी और एक समयमें षट् गुण हानि–वृद्धि भी नहीं होगी।

१–अनन्तगुणवृद्धि	१–अनन्तगुणहानि
२–असंख्यगुणवृद्धि	२–असंख्यगुणहानि
३–संख्यातगुणवृद्धि	३–संख्यातगुणहानि
४–संख्यातभागवृद्धि	४–संख्यातभागहानि
५–असंख्यातभागवृद्धि	५–असंख्यातभागहानि
६–अनन्तभागवृद्धि	६–अनन्तभागहानि

—इसप्रकार षट् गुणवृद्धिहानि पर्यायके बिना नहीं हो सकती।

निमित्त आए तो पर्याय हो—ऐसा नहीं है। आत्मामें परिणमित

होनेकी शक्ति है, इसीलिए वह सम्यग्दर्शनादिरूप या रागादिरूप परिणमता है। देव–गुरु–शास्त्रके कारण सम्यग्दर्शनरूप परिणमित होता है ऐसा नहीं है, तथा कर्मोदयके कारण रागरूप परिणमता है ऐसा भी नहीं है। इसप्रकार स्वतंत्र द्रव्य–गुण–पर्यायको समझने पर स्वयं द्रव्यके आश्रयसे सम्यग्दर्शनरूप परिणमता है। सम्यग्दर्शन कहो या आत्मानुभव कहो अथवा धर्म कहो—वह सब एक ही है। यदि वस्तुमें स्वयंसिद्ध पर्याय न होती हो तो वस्तुकी अर्थपर्यायका अर्थात् प्रयोजनभूत क्रियाका अभाव हो जाए। मोटर चली वह अपनी पर्यायसे चली है—पेट्रोलसे नहीं। पानी गर्म हुआ वह अपने पर्यायधर्मसे हुआ है, अग्निसे नहीं हुआ। प्रत्येक पदार्थमें यदि स्वतंत्र अवस्था नहीं होती हो तो वस्तुका ही अभाव हो जाए। इसलिए पर्यायसे सर्वसिद्ध है। संसार, मोक्षमार्ग या मोक्ष—वह सब आत्माकी पर्यायमें है। पर्याय न हो तो उस किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए मोक्षकी सिद्धि पर्यायसे ही है। पुद्गलमें भी पुस्तक, भाषा, लकड़ी और मोटर—सब पर्यायें ही हैं, पर्यायके बिना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। प्रत्येक द्रव्यका परिणमन स्वतंत्र अपने पर्यायधर्मसे होता है। ऐसा वस्तुस्वरूप जाने तो सम्यग्ज्ञान हो।

परमात्मा अपनी पूर्णदशाका अनुभव करता है, मोक्षमार्गी अपनी अवस्थाका अनुभव करता है और संसारी अपनी पर्यायका अनुभव करता है। सब अपनी–अपनी पर्यायका अनुभव करते हैं, परके साथ किसीका सम्बन्ध नहीं है।

द्रव्य अपने गुण–पर्यायोंमें व्याप्त है। घड़ेमें मिट्टी–द्रव्य व्याप्त है, कुम्हार नहीं। सम्यग्दर्शनादि पर्यायें होती हैं उनमें आत्मद्रव्य व्याप्त है, शरीरकी पर्यायमें आत्मा नहीं व्यापता। कर्मोदयके अनुसार राग–द्वेष करना पड़ते हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु भाई ! कर्म कहाँ तेरी पर्यायमें व्याप्त है? तू ही अपनी राग–द्वेष पर्यायमें व्याप्त है। देखो, यह समझने पर परसे भेदज्ञान हो जाता है। विकारी पर्याय हो या अविकारी हो—उनके आत्मा ही व्यापक है। विकार है वह स्वभाव नहीं है, इसलिए उसमें पर निमित्तका आश्रय होता है और स्वभावके आश्रयसे विकार छूट

जाता है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि निमित्तके कारण विकार होता है। यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है कि द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्यायमें व्याप्त होता है—फैलता है। शुद्ध द्रव्यकी दृष्टि करानेके लिए समयसारमें ऐसा कहा है कि–विकारका स्वामी जड़ है, परन्तु वहाँ कर्मके कारण राग करना पड़ता है—ऐसा नहीं है। निमित्तप्रधान कथन किया है, इसलिए कहीं निमित्तकी प्रधानतासे राग करना पड़ता है ऐसा नहीं है। रागपर्यायरूप भी जीव स्वयं परिणमता है। रागपर्यायमें कौन व्याप्त हुआ? जीव स्वयं उसमें व्याप्त है। अपने गुण-पर्यायमें द्रव्य व्याप्त होता है; और पर्याय गुण–द्रव्यमें व्याप्त होती है। ज्ञानपर्याय हुई उसमें अपना ज्ञानगुण व्याप्त है; उसमें शास्त्र या गुरु व्याप्त नहीं हैं। चारित्रकी निर्मलपर्याय हो या रागरूप विपरीत पर्याय हो—उनमें चारित्रगुण व्याप्त है। विपरीत श्रद्धा करे या सम्यक् श्रद्धा करे उनमें अपना श्रद्धागुण व्याप्त है। आनन्द गुण त्रैकालिक द्रव्यमें व्याप्त है, तथा दुःख या सुखरूप पर्यायमें भी वह व्याप्त है। इसप्रकार समस्त गुण द्रव्यमें तथा पर्यायमें स्वतंत्ररूपसे व्याप्त होते हैं, इसलिए परके कारण अवस्था होती है यह बात नहीं रहती। निमित्तके कारण पर्याय होती है—ऐसा जो मानता है वह पर्यायमें व्यापक ऐसे द्रव्य–गुणको उड़ाता है, और निमित्तके द्रव्य–गुण–पर्याय स्वतंत्र हैं, उन्हें भी उड़ाता है।

अग्निसे वस्त्र नहीं जलता, क्योंकि उष्णपर्याय अग्निमें व्याप्त है। परस्पर अभावरूप सत्ताके कारण दोनों भिन्न ही हैं, इसलिए जो भिन्न है वह भिन्नका क्या करेगा? —कुछ नहीं कर सकता।

प्रश्न :—पंचमकाल है इसलिए केवलज्ञान नहीं है?

उत्तर :—नहीं, जीवकी स्वतंत्र योग्यता ही वैसी है। उसमें जीव और जीवके गुण व्याप्त हैं। धर्म या अधर्ममें अपने गुणकी व्याप्ति है, परसे उसका अस्तित्व नहीं है। —इसप्रकार प्रत्येककी स्वतंत्रता जानना वह धर्म है।

पर्याय द्रव्य–गुणमें व्याप्त है। घट पर्याय मिट्टीरूप परमाणुके

द्रव्य–गुणमें व्याप्त है, कुम्हारमें नहीं। विकार स्वतंत्ररूपसे जीवके द्रव्य–गुणमें व्याप्त है, परमें नहीं। ऐसा जाने, पश्चात् क्षणिक विकार स्वभावमें नहीं है, इसलिए उसे अभूतार्थ कहा जाता है। आत्मा और पुद्गलादिमें द्रव्य–गुण–पर्यायका त्रिकाल स्वतंत्रपना है। जहाँ देखो वहाँ सिद्धमें या निगोद पर्यायमें उनके अपने–अपने द्रव्य–गुणकी व्याप्ति है। किसी पदार्थकी पर्याय परमें व्याप्त नहीं होती, —परसे फैलती नहीं है।

द्रव्य अपनी पर्यायका भी स्पर्श नहीं करता, क्योंकि पर्याय पर्याय सत् से है। इसप्रकार प्रथम निरपेक्ष पर्याय सत् सिद्ध करनेके पश्चात् पर्याय किसकी? तो कहेंगे कि सामान्य द्रव्य–गुणकी। पर्याय सत् है, वह द्रव्य–गुणसे अनालीढ है। यदि एकमेक हो जाए तब तो उसकी सत्ता नहीं रहेगी, इसलिए द्रव्य–गुण–पर्यायरूप तीनों अवस्थाएँ पदार्थकी हैं।

प्रत्येक आत्मा और परमाणु आदि अपने द्रव्य–क्षेत्र–कालभावसे अस्ति है। गुण–पर्यायका पिण्ड वह द्रव्य। असंख्यात आदि प्रदेश स्वआकाररूप हैं वह क्षेत्र, वर्तमान अवस्था वह काल और शक्तिरूप गुण हैं वह भाव। उस स्वचतुष्टयसे आत्मा आदिका अस्तिपना है और परसे नास्तिपना–अभाव है। अग्निने शरीरका स्पर्श ही नहीं किया, क्योंकि परसे नास्तिपने पूर्वक स्वचतुष्टयसे उसका अस्तिपना है।

वस्त्रोंको छोड़ना या ग्रहण करना वह जीवकी इच्छा अथवा ज्ञानके आधीन नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ सर्वत्र सर्वकाल अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावमें है, परके चतुष्टयमें वह नहीं है। इस एक महा नियमका निर्णय करे तो तीनकाल–तीनलोकवर्ती सर्व पदार्थोंकी यथार्थ प्रतीति हो जाए और स्वतंत्र ज्ञानानन्दस्वभावसन्मुख होनेकी रुचि और स्थिरता हो यही सुखी होनेका उपाय है।

ज्ञेयरूप द्रव्य–गुण–पर्यायकी स्वतंत्र अवस्थाको यथार्थरूपसे जानना वह वस्तुस्वभावरूप धर्म है। कुम्हारसे मिट्टी नहीं है, इसलिए घड़ा कुम्हारसे नहीं हुआ है, क्योंकि परस्पर नास्तिपना है।

प्रश्न :—मुनिको आहारदान देना हो तो शुद्ध आहार-जल आदि लाना या नहीं?

उत्तर :—विकल्प आता है परन्तु परवस्तुको जीव ला नहीं सकता। मैं आहारादि परवस्तुको ला सकता हूँ—ऐसा माने वह अज्ञानी है। सामनेवाले पदार्थ उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे ही परिणमित हो रहे हैं; उनका परिणमन अन्यसे माने वह परका कर्ता होना चाहता है। दो द्रव्य भिन्न हैं—स्वतंत्र हैं ऐसा वह नहीं मानता।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सामान्य हैं और स्वकालरूप वर्तमान अवस्था वह उसका विशेष है। सामान्यके कारण विशेष होता है, दूसरेसे नहीं। उसे जाननेवाला मैं हूँ, इसप्रकार ज्ञातापनेकी श्रद्धा, ज्ञातापनेका ज्ञान और अनुभव वह धर्म है।

आत्मामें कर्मका त्रिकाल अभाव है, इसलिए कोई आत्मा कर्मके कारण परिभ्रमण नहीं करता, अपनी भूलसे भटकता है। त्रैकालिक द्रव्य या गुणका अनुभव नहीं होता, अनुभव-कार्य तो पर्यायमें होता है। प्रत्येक द्रव्य वस्तुरूपसे एक है। प्रत्येक द्रव्यमें गुणादि भेदों द्वारा भेद है, गुण अवस्था वह अनेक है, भेदरूप है।

प्रश्न :—मिट्टी है वह तो कुम्हारके कारण विलक्षणरूप होती है?

उत्तर :—नहीं, क्योंकि उसका एक-अनेकपना वह द्रव्यका ही स्वभाव है। प्रत्येकका स्वभाव स्वसे है, परसे नहीं। इसप्रकार सदा स्वतंत्र दृष्टि करे तो स्वसन्मुख ज्ञाता रहनेरूप धर्म हो।

प्रवचन–४८

माघ शुक्ला ९, शुक्रवार दि० २३-१-५३

यह ज्ञेयका अधिकार है। ''ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं'' अर्थात् ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य पदार्थ वे ज्ञेय हैं। ज्ञेयोंका यथार्थ ज्ञान होनेपर परसे भिन्न आत्माका अनुभव होता है। पदार्थ द्रव्य–गुण–पर्याय स्वरूप है। तथा प्रत्येक वस्तु गुणरूपसे अनेक है और वस्तुरूपसे एक है। तथा गुणभेद द्वारा भेदरूप है और अभेद वस्तुरूपसे अभेदरूप है। ऐसा भेद–अभेदपना वह पदार्थका स्वरूप है, वह किसी परके कारण नहीं है।

पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य है और पर्यायरूपसे अनित्य है। ऐसा नित्य–अनित्यपना वह पदार्थका स्वरूप है—ऐसा ज्ञान जानता है। संयोगके कारण अनित्यता है ऐसा नहीं है, परन्तु अपने ही कारण वस्तुमें अनित्यता है, इसलिए पर्यायका परिवर्तित होना उसका स्वभाव है, वह परके कारण नहीं है। ऐसा ज्ञेयका स्वरूप जानना वह सम्यग्ज्ञानका कारण है। पदार्थकी पर्याय परके कारण होती है—ऐसा माने तो उसने ज्ञेयके स्वरूपको नहीं जाना है, वह मिथ्याज्ञान है। शुद्ध निश्चयसे वस्तु शुद्ध है। वस्तु सामान्य–विशेषरूप है। त्रैकालिक द्रव्य–गुण सामान्य हैं और पर्याय वह उनका विशेष है, वह वस्तुके ही कारण है, परके कारण नहीं है।

वस्तुरूपसे नित्य सामान्य और पर्याय अपेक्षासे विशेषरूप है। विशेष अवस्था किसी परके कारण हो यह बात नहीं रहती। उपादान–निमित्तका स्पष्टीकरण भी इसमें आ जाता है। निमित्त आए तो कार्य हो, तब फिर वस्तुका विशेष कहाँ रहा? वस्तु स्वयं ही सामान्य–विशेषरूप है, तब परके कारण विशेष हो—यह बात कहाँ रही? विशेष अर्थात् अवस्था, वह पदार्थका स्वरूप है। संसार–मोक्षमार्ग–मोक्ष–निगोद, सिद्ध, सोना–विष्टा वे सब पदार्थोंकी अवस्थाएँ हैं, वह पदार्थका ही विशेष स्वभाव है। परके कारण वे अवस्थाएँ नहीं होतीं। ऐसा वस्तुस्वरूप वह

सम्यग्ज्ञानका ज्ञेय है। जिसमें गुण–पर्यायका वास हो उसका नाम वस्तु। वस्तु अपने गुण–पर्यायमें निवास करती है, परन्तु परके गुण–पर्यायमें नहीं रहती। उसीप्रकार वस्तुके गुण–पर्याय वस्तुमें ही रहते हैं, परमें नहीं रहते; इसलिए पर्याय किसी परके कारण नहीं होती, परन्तु अपने कारण ही होती है। सामान्य–विशेष स्वरूपसे वस्तुका वस्तुत्व है।

द्रव्यके भावको धारण करता है, इसलिए द्रव्यत्व है। द्रव्यका द्रव्यत्व अपने भावको धारण करता है और परमाणु परमाणुके भावको धारण करता है। वस्तु अपने द्रव्यत्वभावको धारण करती है, इसलिए उसमें द्रव्यत्व है। निमित्त और उपादान दोनों पृथक् रहकर स्वतंत्ररूपसे अपने–अपने द्रव्यके भावको धारण करते हैं, अन्यके भावको धारण नहीं करते,—ऐसा ही द्रव्यत्व प्रत्येक द्रव्यका है। तीनकाल–तीनलोकमें आत्मा, परमाणु इत्यादि सर्व द्रव्य अपने ही भावको धरते हैं—ऐसा नियम है।

प्रमेयके भावको धारण करे, प्रमाणज्ञानमें ज्ञात होनेकी योग्यता धरे वह प्रमेयरूप है। राग, पुण्य, पाप, दयादिके भाव होते हैं वे भी ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य प्रमेयपना धरते हैं, परन्तु ज्ञान उसे उत्पन्न करे, नष्ट करे या धरे—ऐसा ज्ञानका कार्य नहीं है। यह निमित्त है, यह व्यवहाररत्नत्रयका शुभराग है—ऐसा ज्ञान जानता है, परन्तु उससे ज्ञान हो अथवा निश्चयमोक्षमार्ग हो—ऐसा नहीं है।

कोई कहे कि—प्रथम व्यवहार चाहिए फिर निश्चय होता है, परन्तु अनादिरूढ़ पराश्रयरूप व्यवहार तो है, वह कोई नया–अपूर्व नहीं है, इसलिए उससे धर्मका प्रारम्भ कदापि नहीं हो सकता। व्यवहार, राग, निमित्त यह सर्व वस्तुएँ प्रमेयपना धरती हैं परन्तु निश्चयको धरे ऐसा व्यवहारका स्वभाव नहीं है। जो भी क्रियापर्याय है उसके द्रव्य–गुण–पर्यायरूप प्रमेयपनेको धरते हैं और ज्ञान उसे तदनुसार जानता ही है। इसका नाम धर्म है। प्रमेयत्व प्रत्येक वस्तुके द्रव्य–गुण–पर्यायमें व्याप्त है। इच्छा वह ज्ञानमें प्रमेय होनेके भावको धारण करती है, परन्तु उससे ज्ञान हुआ अथवा परमें क्रिया हुई ऐसा वह बतलानेवाली नहीं है।

अगुरुलघुके भावको धारण करे वह अगुरुलघु अवस्था है। अगुरुलघु नामका गुण द्रव्य–गुण–पर्यायमें व्याप्त है। केवलज्ञानकी अपेक्षासे मतिज्ञान पर्यायको अल्प कहा जाता है, परन्तु वह पर्याय स्वयं अपनेसे अगुरुलघुरूप है। अन्य पर्यायकी अपेक्षा न लो तो प्रत्येक समयकी पर्याय अगुरुलघुस्वभावरूप है। विकारी–अविकारी पर्याय भी उस अवस्थारूपसे बराबर कार्य करे ऐसी अगुरुलघु है, परसे उसका कार्य नहीं है। जहाँ–जहाँ जो पदार्थ है वहाँ उसके द्रव्य–गुण–पर्याय अगुरुलघुके भावको व्यवस्थितरूपसे धारण कर रखते हैं और उस प्रकार ज्ञान उन्हें ज्योंका त्यों—यथावत् जानता है परन्तु उनमें कुछ आगे–पीछे कर दे ऐसा ज्ञानमें नहीं है। बाह्यक्रिया तो आत्मा नहीं कर सकता, परन्तु अपनी पर्यायका परिवर्तन भी वह नहीं कर सकता।

निगोद अवस्था हो या केवलज्ञानरूप अवस्था हो, परन्तु भीतर अनन्त गुण हैं उनमें अल्पता अथवा अधिकता नहीं हो जाती। जघन्य मति–श्रुतज्ञान हो या उत्कृष्ट केवलज्ञान पर्याय हो, परन्तु भीतर ज्ञानगुणमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। परमाणुमें वर्णगुण त्रिकाल है, उसकी अवस्थामें कमी–वृद्धि दिखती है तथापि वर्णगुणमें कभी–किसी काल फेरफार नहीं होता, क्योंकि द्रव्य–गुणका स्वभाव त्रिकाल अगुरुलघुभावको धारण करता है और पर्याय भी उस काल सत् है। जिस समय जो पर्याय वर्ते वह अगुरुलघुरूपसे वर्तती है, उसमें कोई फेर नहीं पड़ता—ऐसा पर्याय सत्का अगुरुलघुपना धारण करनेका धर्म है, उसमें कोई परिवर्तन कर सके, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण हैं, और वे उनके जितने प्रदेश हैं उनको धारण करते हैं। प्रत्येक द्रव्यका आकार है, परके कारण जीवका संकोच–विस्तार नहीं है, परन्तु वह अपने प्रदेशत्वगुणकी योग्यतासे है।

अन्यत्वगुणका लक्षण अनन्तगुणोंसे अन्यत्व है परन्तु प्रदेश भेद नहीं है। एक परमाणुमें अनन्तगुण हैं। जिसमें जितने गुण हैं वे त्रिकाल स्वतंत्र है, कभी एक गुण कम नहीं होता। आत्मामें अनन्त गुण हैं, उनमें ज्ञान

वह दर्शन नहीं है, चारित्र वह वीर्य नहीं है। इसप्रकार यदि गुणोंमें अनोखापन नहीं हो तो अनन्तगुण सिद्ध नहीं होंगे।

तथा स्वद्रव्य परद्रव्यसे अन्य है; पहले गुणोंमें अन्यपना कहा और फिर द्रव्यमें अन्यत्वकी बात कही। ऐसा अन्यपना है वह ज्ञेय है और ज्ञानका स्वभाव उसे जाननेका है। प्रत्येक वस्तु भिन्न है—ऐसा अन्यत्व है। किसीके कारण दूसरा नहीं है। पृथक् पदार्थोंमें परस्पर भिन्नता है, सर्व पदार्थ एकत्रित होकर तीनकालमें एकमेक नहीं होते। सिद्धमें भी अनन्त जीवोंको विभिन्नता है। सिद्धमें सर्व जीव एकमेक नहीं हो जाते।

तथा वस्तुमें द्रव्यत्व और पर्यायत्व है। द्रव्यत्व वह ज्ञेय है और पर्यायत्व भी ज्ञेय है। वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप है, द्रव्य भी सत् है और पर्यायरूपसे पर्याय भी सत् है। पर्याय त्रिकाली नहीं है परन्तु एक समयपर्यन्त वह सत् है। यदि उसे सत् न माने तो उसने द्रव्यको जाना ही नहीं है, और पर्यायको सत् माने तो परके कारण पर्याय हो वह बात नहीं रहती। निमित्तके कारण पर्याय होती है—ऐसा माने तो उसने पर्यायको सत् नहीं जाना है, इसलिए वस्तुके पर्याय धर्मको नहीं जाना। प्रवचनसार गाथा १०७में कहा है कि सत् द्रव्य, सत् पर्याय और सत् गुण है।—ऐसा सत् वह ज्ञानका ज्ञेय है।

वस्तुओंमें आकाशादि पदार्थ सर्वगत हैं और कालाणु आदि एकप्रदेशी हैं, वे असर्वगत हैं। धर्मास्ति-अधर्मास्ति भी लोककी अपेक्षासे सर्वगत हैं। ऐसा भी ज्ञेय है।

तथा पदार्थोंमें कोई मूर्त्त है और कोई अमूर्त्त है। वह अपने स्वभावसे ही है और वह ज्ञानका ज्ञेय है आत्मा अमूर्त्तरूपसे ज्ञेय है और पुद्‌गल द्रव्य मूर्त्तस्वरूपसे ज्ञेय है। आत्माको कर्मके निमित्तसे मूर्त्त कहना वह उपचार है। आत्मा त्रिकाल अमूर्त्त है, वह कभी मूर्त्त नहीं हो जाता। परमाणु सूक्ष्म होनेसे उसे कईबार अमूर्त्त कह देते हैं, परन्तु वास्तवमें तो वह मूर्त्त ही है और आत्मा अमूर्त्त ही है।

तथा कोई ज्ञेयपदार्थ अक्रिय है और कोई सक्रिय है। जीव-

पुद्गलमें गमनादि सक्रियता है, वह उसके अपने कारण है। ध्वजा पवनके कारण नहीं लहराती, परन्तु उसमें वैसा सक्रिय धर्म है। घोड़े पर बैठे हुए मनुष्यकी गति होती है वह घोड़ेके कारण नहीं होती परन्तु वैसा गतिधर्म उस मनुष्यका अपना है। धर्मास्ति आदि द्रव्य अक्रिय स्वभाववाले हैं। सक्रियपना किसी परके कारण नहीं है। शरीरकी सक्रियता आत्माके कारण नहीं है। उस सक्रियताको परके कारण माने तो उसने पदार्थके सक्रियधर्मको नहीं जाना, अर्थात् वैसे ज्ञेयको नहीं जाना है।

धूपमें मनुष्य चले वहाँ उसकी परछाईं पीछे–पीछे चलती दिखाईं देती है, परन्तु वास्तवमें परछाईं नहीं चलती, परन्तु उस–उस स्थानके परमाणु श्वेतमेंसे काली अवस्थारूप (छायारूप) परिणमते हैं। एक स्थानके परमाणु दूसरी जगह नहीं जाते, परन्तु दूसरे स्थान पर रहे हुए परमाणु छायारूप परिणमित होते हैं। वह परिणमन मनुष्यके शरीरके कारण नहीं होता, परन्तु उनकी अपनी अर्थपर्यायका वैसा धर्म है।

जगतमें कोई ज्ञेय सचेतन हैं और कोई ज्ञेय अचेतन हैं। जगतमें जीव ही हैं और अजीव हैं ही नहीं—ऐसा माने तो उसके ज्ञान मिथ्या है। अनंत अचेतन पदार्थ भी जगतमें हैं और अनंत चेतन द्रव्य भी है। वे दोनों प्रकारके पदार्थ वे ज्ञानके ज्ञेय हैं। तथा जीव और अजीवमें कर्तृत्व है। वह उनका धर्म है। जीव या जड़ अपने–अपने कर्तृत्वरूप परिणमते हैं—ऐसा ज्ञानका ज्ञेय है, परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको करे—ऐसा ज्ञानका ज्ञेय नहीं है। रागादिभावरूप परिणमता है उसमें जीवका कर्तृत्व है—ऐसा मानना मोक्षमार्गप्रकाशकमें कहा है। वहाँ ऐसा बतलाना है कि वह जीवका कर्तृत्व है, वे रागादि कहीं जड़का कर्तृत्व नहीं है। इसप्रकार भिन्न–भिन्न कर्तृत्व जानकर सम्यग्ज्ञान द्वारा परसे भिन्न आत्माका अनुभव करना वह धर्म है।

प्रवचन–४९

माघ शुक्ला १०, शनिवार दि० २४-१-५३

यह ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेयोंके स्वरूपका वर्णन चलता है।

आत्मामें और सर्व द्रव्योंमें कर्तृत्व नामका गुण है इसलिए प्रत्येक द्रव्य अपना–अपना कार्य करता है ऐसा उसका स्वभाव है, वह ज्ञानका ज्ञेय है। परद्रव्यको छोड़े या ग्रहण करे–ऐसा गुण आत्मामें नहीं है। चरणानुयोगमें निमित्तसे कथन आता है, परन्तु उससे कहीं चरणानुयोगमें आत्मा परका ग्रहण–त्याग कर सके ऐसा नहीं कहा है। अधःकर्मी आहार हो या उद्देशिक हो—उस आहारका छूटना वह तो जड़की क्रिया है। उस समय मुनिको उस आहारके त्यागकी वृत्ति उठे, वहाँ मुनिने सदोष आहारका त्याग कर दिया ऐसा उपचारसे कहा जाता है, परन्तु जड़का कर्तृत्व जड़में है और आत्माका कर्तृत्व आत्मामें ही है। आहारका छूटना वह जड़की क्रिया है। उसके बदले जो ऐसा मानता है कि आहार छोड़नेकी क्रिया मैंने की,—ऐसा जो मानता है उसके मुनिपना नहीं होता और सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता। मुनिको सदोष आहारके ग्रहणकी वृत्ति ही नहीं आती। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा यथावत् जानना वह सम्यग्ज्ञान है।

दो पदार्थ भिन्न हैं तो उनका कर्तृत्व भी भिन्न है। दो पदार्थोंकी एक क्रिया नहीं होती और एक पदार्थकी दो क्रियाएँ नहीं होती। ''मैं ज्ञायक हूँ''—यह बात अंतरमें बैठनेके पश्चात् अल्प राग हो उसे धर्मी जानता है कि इतना मेरी पर्यायका कर्तृत्व है, यह राग होता है वह मेरा परिणमन है, परके कारण राग नहीं होता। सर्व द्रव्योंका परिणमन स्वतंत्र है, ज्ञाता उसका जाननेवाला है। सर्व द्रव्योंको निज–निज परिणामका कर्तृत्व है और परका अकर्तृत्व है। इसप्रकार ज्ञान ज्ञेयोंको जानता है। मैं अपने परिणामका कर्ता और अनन्त परद्रव्योंके परिणामका अकर्ता हूँ।

मुझमें भी अकर्तृत्व है, परद्रव्य मेरे परिणामको नहीं करता और मैं पर द्रव्यके परिणामको नहीं करता। इसप्रकार एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अकर्तृत्व है।

पुद्गलका कर्ता जीव नहीं है तथा एक पुद्गलका कर्ता दूसरा पुद्गल नहीं है, प्रत्येक द्रव्यका कर्तृत्व अपने–अपनेमें है, परमें तो अकर्तृत्व है।

तथा भोक्तृत्व अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने–अपने परिणामका भोक्ता है। रागादि परिणाम करे उसे आत्मा स्वयं भोगता है, परन्तु जड़कर्मको आत्मा नहीं भोगता। व्यवहारसे आत्मा आहार ग्रहण कर सकता है—ऐसा भी नहीं है। कोई कहे कि यदि आत्मा नहीं खाता हो तो क्या मुर्दा खाता है? अरे भाई! खानेका अर्थ क्या? वह पुद्गलकी क्रिया है। जड़ पदार्थोंको आत्मा खाता नहीं है। आत्माने खाया ऐसा कथन व्यवहारसे किया जाता है, परन्तु आत्मा उन जड़ वस्तुओंको खाता है—ऐसा नहीं है।

अभी तो आत्मा आहार ग्रहण करता है और जड़को भोगता है—ऐसा जो मानता है उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं है, तब फिर उसे व्रतादि कैसे होंगे? नहीं हो सकते। जड़का भोक्ता जड़ है अर्थात् उसकी एक पर्यायका व्यय होकर नवीन पर्याय होती है। आत्मा अपने रागादि परिणामोंको भोगता है, परन्तु जड़का भोक्ता आत्मा नहीं है। जड़कर्मका भोक्ता भी आत्मा नहीं है। कर्मका विपाक कर्ममें है, आत्मामें कर्मका विपाक नहीं है। ''विपाको अनुभवः'' ऐसा कहा है, वहाँ आत्मा कर्मके विपाकका अनुभव करता है। —ऐसा निमित्तसे कहा है, परन्तु वहाँ वास्तवमें आत्मा उस निमित्तकी ओर झुकाववाले अपने भावकर्मका अनुभव करता है। जड़कर्मका विपाक तो निमित्त है, इसलिए निमित्तरूपसे कर्मके विपाकका अनुभव कहा जाता है, परन्तु वास्तवमें आत्मा परद्रव्यको करे या भोगे वह मान्यता मूढ़ जीवोंको व्यवहार है।

यथार्थ वस्तुस्वरूप ऐसा है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्यका भोक्ता

नहीं है। ऐसा ज्ञेय है, उसका यथार्थ ज्ञान करना वह अनुभवका कारण है। जगतमें जितने नाम हैं वे किसी न किसी पदार्थको बतलाते हैं, इसलिए वे ज्ञेय हैं। तथा उपलक्षण भी ज्ञानका ज्ञेय हैं। ''ध्यान रखना ! बिल्ली दूध न पी जाय''—ऐसा कहा वहाँ बिल्ली कहने पर उपलक्षणसे कुत्ते आदि भी आ गए। तथा काल और स्थिति भी ज्ञानके ज्ञेय हैं। काल भी पदार्थ है, वह ज्ञानका ज्ञेय है। उसे न माने तो ज्ञानस्वभावकी खबर नहीं है। तथा संस्थान अर्थात् आकार, प्रत्येक पदार्थको अपना-अपना आकार होता है, वह भी ज्ञानका ज्ञेय है। मूलवस्तुका यथार्थ ज्ञान हुए बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। नवतत्त्व क्या है ? जीव-अजीव क्या है ? देव-गुरु-शास्त्र क्या है ? वह सब जानना चाहिए। विपरीतता रहित निर्णय करके सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको जाने और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रको छोड़े; तब गृहीत मिथ्यात्व छूटता है। जिस तत्त्वका जैसा स्वरूप हो तद्नुसार जानना चाहिए। तथा पदार्थके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको भी जानना चाहिए। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव वे चारों प्रकार ज्ञाताका ज्ञेय हैं।

संज्ञा अर्थात् पदार्थका नाम, तथा उसकी संख्या उसका लक्षण और उसका प्रयोजन-उन सबको भी जानना चाहिए।

वस्तुका तत्स्वभाव है, इसलिए प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-गुण-पर्यायसे तत्स्वरूप हैं और परद्रव्यसे वे अतत्स्वरूप हैं। ऐसा वस्तुस्वरूप वह ज्ञानका ज्ञेय है।

तथा पदार्थ स्वसे अस्तिरूप है, परसे नास्तिरूप है, इत्यादि सप्तभंग हैं उनको जानना इसप्रकार सामान्य गुणोंसे सिद्धि है।

पदार्थ सत्तारूप है। सत्ताके महासत्ता और अवांतरसत्ता ऐसे दो भेद हैं। महासत्ता अर्थात् सब है। ऐसा क्यों ? —ऐसा ज्ञेयमें नहीं है। जैसा है वैसा है, इसप्रकार महासत्तारूपसे ज्ञेयको जाननेकी शक्ति ज्ञानकी है। अवांतरसत्ता अर्थात् स्वरूपसत्ता, विशेष सत्ता, पेटाभेदरूपसत्ता, महासत्ता—वे महासत्तारूप हैं और अवांतरसत्तारूप नहीं हैं। उस अपेक्षासे

सत्व–असत्वरूप सत्ता है।

त्रिलक्षण = प्रत्येक पदार्थमें उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य हैं, वे महासत्ता अपेक्षासे हैं। सर्व विश्वकी सत्ता उनमें समा जाती है।

अत्रिलक्षण = पेटाभेद अपेक्षासे एक–एक लक्षणवाली है। सर्व द्रव्यकी उत्पाद सत्ता देखें तो सर्व उत्पाद लक्षणवाले हैं, सर्वद्रव्यकी व्ययसत्ता देखें तो सर्व व्यय लक्षणवाले हैं। इसमें वीतरागता ही आती है।

किसीको केवलज्ञान पर्यायका उत्पाद हो, कोई करोड़पूर्व चारित्रका पालन करके मिथ्यात्वी हुआ हो उसे मिथ्यात्वका उत्पाद हो, किसीको निगोददशारूप उत्पाद हो, किसीको सिद्धदशारूप उत्पाद हो, किसीको सम्यग्दर्शनरूप उत्पाद हो, किसीको मिथ्यात्वरूप उत्पाद हो, परन्तु उन सबको उत्पादरूप एक लक्षणसे समानता है।

छहों द्रव्यकी उत्पादपर्यायको लक्षमें लें तो सबके चाहे जो प्रकार हों परन्तु उत्पादलक्षणसे सब एक समान हैं। वैसा 'है'पना देखनेमें वीतरागता है क्योंकि उसमें शुद्ध–अशुद्ध, छोटा–बड़ा कोई भेद जाननेकी बात नहीं है।

किसीको क्षयोपशमपर्यायका व्यय, किसीको मिथ्यात्वपर्यायका व्यय, किसीको सम्यग्दर्शनपर्यायका व्यय, तथा पुद्गलमें सुगन्धपर्याय अथवा दुर्गन्धपर्यायका व्यय, विश्वमात्रकी सर्व व्यय पर्यायोंका एक व्ययलक्षणमें समा जानेकी अपेक्षासे समानपना है। सामान्य महासत्तारूपसे देखो या विशेष अवांतरसत्तारूपसे देखो—विषमता देखनेकी बात नहीं है।

ज्ञान ज्ञेयको जानता है, अकेला ज्ञातामात्र वीतरागभाव खड़ा रखता है।

दीक्षा लेनेके पश्चात् ऋषभदेव भगवानको हजार वर्षमें, बाहुबलि भगवानको एकवर्षमें और भरत चक्रवर्तीको दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रगट

हुआ। किसीको देशे उणा करोड़ पूर्व तक संयम पालन करनेके पश्चात् केवलज्ञान हुआ अथवा किसीको घोर उपसर्गके पश्चात् केवलज्ञान हुआ तो उनमें कौन अच्छा? तो कहते हैं कि—सबने एक ही प्रकारसे केवलज्ञान उत्पन्न किया है, उसमें विषमता नहीं है।

इस व्यक्तिको बहुत दिनोंसे समझा रहा हूँ, परन्तु नहीं समझता, इसलिए बुरा, दूसरा व्यक्ति तुरन्त समझ गया, इसलिए अच्छा—ऐसी विषमता ज्ञेयको ज्ञेयरूप जाननेवालेको नहीं रहती।

अनन्तकाल पहले सिद्ध हुए वे अधिक सुखी और कुछ ही काल पहले सिद्ध हुए वे अल्प सुखी—ऐसा होगा? नहीं। स्वभाव पूर्ण हुआ उस अपेक्षासे सब समान ही हैं। ज्ञानी कहीं किसीको, किसीप्रकार उल्टा-सीधा नहीं करना चाहता। ज्ञानका स्वभाव परमें फेरफार करनेका नहीं है। कोई माने कि तीव्र राग है, उसे मन्द करूँ, परन्तु वह कैसे-किस प्रकार होगा? तीव्र रागके समय वह तीव्र ही है, दूसरे समय तो व्यय होगा ही, ज्ञान क्या करेगा? जैसा ज्ञेय है उसे मात्र जाननेकी शक्ति ज्ञानकी है, अन्य कुछ ज्ञानमें नहीं है। अहा! जाननेमें तो जानना ही आता है। अशुभ राग हुआ तो ऐसा क्यों? —ऐसा ज्ञानमें नहीं है, वह तो ज्ञेयमात्र है। ऐसा जाने वही सुखी होनेका उपाय है।

ज्ञेयमें ऐसा क्यों? अथवा उसमें कुछ करना—ऐसा ज्ञानका स्वभाव नहीं है। मिथ्याज्ञानका जगतमें कोई ज्ञेय नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि मानता है वैसा ज्ञेय विश्वमें नहीं है। मिथ्यात्वी मानता है कि मुझे निमित्तसे लाभ-हानि होते हैं, कर्मसे राग-द्वेष होते हैं—तो वैसा वस्तुस्वरूप नहीं है। इसलिए मिथ्याज्ञानका जगतमें कोई विषय नहीं है। जैसा ज्ञेय है वैसा जाने तो ज्ञान सम्यक् है।

सब सत् है—ऐसा जाना उसमें वीतरागता है।

एकत्व-महासत्तारूपसे एक है।

अनेकत्व-अवांतरसत्तारूपसे-विशेषरूपसे अनेक भी है। महासत्ता

सर्व पदार्थ स्थित है, अवांतरसत्ता एक पदार्थ स्थित है, महासत्ता विश्वरूप है, अवांतरसत्ता एकरूप है।

महासत्ता अनन्तपर्यायरूप है, अवांतरसत्ता एक पर्यायरूप है।

महासत्ता जीव द्रव्य, पुद्गलद्रव्यस्वरूपरूप, सबमें वर्तती है। तथा अवांतरसत्ता–द्रव्यसत्ता, अनादि–अनन्त, पर्यायसत्ता और सादि–सांत स्वरूपसत्ता—ऐसे तीन प्रकारसे है। इसप्रकार ज्ञेयको यथार्थ जाने उसको वीतरागता है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–५०

माघ शुक्ला ११, रविवार दि० २५-१-५३

द्रव्यस्वरूपसत्ता, गुणसत्ता, पर्यायसत्ता—ऐसे तीन प्रकारसे सत्ता है। ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य वस्तु है; उसे ज्योंका त्यों जानना वह ज्ञानका धर्म है। आत्मा ज्ञान द्वारा अपने तथा परके द्रव्य–गुण पर्यायको जैसे हैं वैसे जानता है और ज्ञेयका ज्ञानमें ज्ञात होनेका स्वभाव है।

यह जगत ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य वस्तु है। उसमें द्रव्यस्वरूपकी बात कहते हैं। चैतन्य चैतन्यरूपमें और जड़ जड़रूपमें ज्ञात होने योग्य द्रव्य हैं। अनन्त गुण जैसे हैं वैसे ज्ञान जानता है और तीसरा बोल पर्यायसत्ताका है। आत्माका स्वभाव जाननेका है। पर्याय सत् है उसे ज्ञान जानता है। परमाणुकी सुगंध या दुर्गन्ध पर्यायको ज्ञान जानता है। अच्छा–बुरापन पर्यायमें नहीं है। ज्ञानमें केवलज्ञानकी पर्यायसत्ता ख्यालमें आई, इसलिए केवली आदरणीय हैं, ऐसा ज्ञानस्वभाव नहीं है तथा ज्ञेयस्वभाव भी वैसा नहीं है। प्रतिमाकी पर्याय जड़की पर्याय है ऐसा ज्ञान जानता है। ज्ञेय ऐसा नहीं कहता कि मुझे मान, और ज्ञान भी अमुक पर्याय है, इसलिए आदरणीय है—ऐसा नहीं जानता। मुनिकी पर्याय सत्‌रूप है, केवलज्ञानीकी पर्याय सत् है—ऐसा ज्ञान जानता है, परन्तु वह पर्याय आदरणीय है—ऐसा ज्ञान नहीं जानता। मिथ्यात्वकी पर्याय हो या सिद्धकी पर्याय हो—वे सब जानने योग्य हैं। ज्ञानी दूसरेकी मिथ्यात्वपर्यायको जानता है, परन्तु इष्ट–अनिष्टपना ज्ञानमें नहीं है तथा ज्ञेयमें भी नहीं है। यह कस्तूरी है इसलिए इष्ट है, विष्टा है इसलिए अनिष्ट है—ऐसा इष्ट–अनिष्टपना मानना वह ज्ञानका स्वभाव नहीं है, तथा ज्ञेयोंका भी ऐसा स्वभाव नहीं है।

प्रश्न :—ज्ञान हेय–उपादेय तो करता है न ?

समाधान :—चारित्रकी अपेक्षासे वह उपचार आता है। ज्ञान तो मात्र सबको जानता है। परको जानना–ऐसा कहना वह व्यवहार है, क्योंकि परमें तन्मय हुए बिना जानता है।

यह सर्वज्ञ हैं इसलिए आदरणीय हैं—ऐसा माने तो परके कारण राग माना वह भूल है। ज्ञानी तो मात्र जानता है, परन्तु अभी पूर्ण वीतराग नहीं है, इसलिए चारित्रदोषके कारण विकल्प उठता है। तथा ज्ञानने जाना इसलिए विकल्प उठा, ऐसा भी नहीं है, और वे पदार्थ हैं इसलिए विकल्प उठा ऐसा भी नहीं है। प्रतिमाके कारण राग नहीं होता, तथा जाननेके कारण राग होता हो, अथवा ज्ञेयोंके कारण राग होता हो केवलीको भी राग होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। साधक जीवको रागकी भूमिका होनेसे विकल्प उठता है, परन्तु परको आदरणीय मानकर वह विकल्प नहीं उठता। ज्ञानीको उस काल चारित्रगुणकी अशक्तिके कारण राग होता है, उसे ज्ञान जानता है। केवली भगवान अनन्त पदार्थोंको जानते हैं परन्तु उनको राग नहीं होता, क्योंकि वे वीतराग हैं। रागी जीवको राग होता है। ज्ञेयोंके कारण राग नहीं है, ज्ञानके कारण राग नहीं है और रागके कारण ज्ञेयका ज्ञान नहीं है। ऐसा जानना चाहिए।

आत्माको धर्म कैसे हो ? ज्ञानमें एकाग्रता होना वह अनुभव है। आत्माके ज्ञानस्वभावमें वर्तमान पर्याय एकत्व हो वह धर्म है। रागके साथ एकत्व हो वह अधर्म है। यह नियम बदले ऐसा नहीं है। त्रैकालिक शक्तिवानकी सत्ता वह द्रव्य है, शक्तिसत्ता वह गुण है और पर्यायसत्ता—ऐसे तीन प्रकारसे वस्तु हो सकती है। ज्ञानमें तीनों ज्ञात होने योग्य हैं। दीक्षाके पश्चात् ऋषभदेव भगवानको एक हजार वर्षके बाद केवलज्ञान हुआ, भरत चक्रवर्तीको अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान हुआ—ऐसा जानता है। अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान हो वह अच्छा और हजार वर्षमें केवलज्ञान हो वह अच्छा नहीं—ऐसा ज्ञेयस्वभावमें नहीं है, तथा ज्ञानस्वभावमें नहीं है। जो पर्याय जैसी हो वैसा ज्ञान जानता है।

सुदेव या कुदेवादि दोनों ज्ञेय हैं। ज्ञानी उनको जानता है। यह

आदरणीय हैं और यह नहीं हैं—ऐसा भेद ज्ञानमें नहीं है, तथा ज्ञेयमें भेद नहीं है। धर्मी जीव जैसा है वैसा जानता है। यह ज्ञेय उच्च है, इसलिए राग हो ऐसा नहीं है। उस समयका जो राग है उसे भी ज्ञान जानता है। ज्ञान जानता है कि राग होता है। इसप्रकार ज्ञानका विवेक रहना वह धर्म है। गुण–गुणीकी एकता होना वह धर्म है।

वस्तु है वह स्वभाववान है। उसे स्वभाव अथवा गुण होते हैं और उसके वर्तमान अंशको पर्याय कहते हैं। उसे ज्ञान जानता है। यह आदरणीय है और यह त्याज्य है ऐसा ज्ञानमें नहीं है। ज्ञेयका जाननेका स्वभाव है, परन्तु अन्यको राग–द्वेष करानेका स्वभाव नहीं है। तथा ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, परन्तु राग–द्वेष करानेका ज्ञानका स्वभाव नहीं है। साधक ज्ञानीको अपनी अशक्तिसे राग आता है, परन्तु राग आदरणीय है ऐसा ज्ञान नहीं जानता, राग है ऐसा ज्ञान जानता है। वस्तुका स्वभाव वह धर्म है। आत्माका स्वभाव ज्ञान है। जानना वही धर्म है।

कोई पूछे कि—अनायतनोंको छोड़नेकी बात शास्त्रमें आती है न ?

समाधान :—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा ज्ञान जानता है। जिस प्रकारका राग आता है उसे ज्ञान जानता है। श्री समयसारकी छठवीं गाथामें कहा है कि—प्रमत्त–अप्रमत्तदशा मेरा स्वरूप नहीं है, जानना वह ज्ञायकका स्वभाव है।

प्रमत्तभाव आता है वह ज्ञानका ज्ञेय है,—ऐसा कहना वह भी व्यवहार है। स्वयं अपनेको जानता है वह निश्चय है। प्रमत्त और अप्रमत्तकी पर्याय है इसलिए ज्ञान है—ऐसा नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसके साथ ज्ञान तन्मय हो जाए। प्रमत्त–अप्रमत्त दशा जाननेमें आती है वह अपने स्व–पर प्रकाशक ज्ञानस्वभावके सामर्थ्यके कारण ज्ञात होती है। —ऐसा निश्चय ज्ञानस्वभाव जानना वह धर्म है ।

यहाँ पर्याय सत्ताकी बात चलती है। सर्व पदार्थोंकी जो वर्तमान दशा है उसे ज्ञान जानता है। ज्ञान रागकी पर्यायको या केवलीकी पर्यायको ज्ञेयरूपसे जानता है। हेय–उपादेयके कथन आते हैं वे

व्यवहारनयके कथन हैं। निश्चय ज्ञानस्वभाव जाने उसका व्यवहार सच्चा है। केवली भगवानके कारण राग होता हो तो सबको राग होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। साधक जीवको चारित्रगुणकी अशक्तिके कारण राग आता है, उस पर्यायसत्ताको ज्ञान जानता है। विकल्प, राग, प्रमत्त, अप्रमत्त—सब पर्यायसत्ता है उसे ज्ञान जानता है, वह भी व्यवहारसे जानता है। विकल्प है इसलिए ज्ञानपर्याय हुई है ऐसा नहीं है। चारित्रगुणकी प्रमत्तरूप पर्याय हुई, इसलिए ज्ञानकी पर्याय हुई ऐसा माने तो ज्ञानका स्वसामर्थ्य नहीं रहता। ज्ञान अपने सामर्थ्यसे रागादिको जानता है। ज्ञान परपदार्थोंको जानता है—ऐसा कहना वह व्यवहार है, असत्यार्थ है; इसलिए छोड़ने योग्य है। स्वयं अपनेको जानता है वह निश्चय है, भूतार्थ है। अपना ज्ञानस्वभाव कैसा है—वह जाने बिना पर्याय सत्ताको या परकी सत्ताको यथार्थ नहीं जान सकता। आप्त बिना वस्तुस्वभावका ज्ञान नहीं होता। वस्तुस्वभावको जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्दर्शन बिना चारित्र नहीं होता, चारित्र बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञानके बिना सिद्धदशा नहीं होती।

प्रथम सम्यग्दर्शनको समझो, पश्चात् विशेष स्थिरता होने पर प्रतिमा आदि होते हैं। सम्यग्दर्शनके बिना व्रतादि नहीं होते। आत्माकी अंतर्‌स्थिरता वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसकी प्रतीति होनेके पश्चात् विशेष आनन्द आता है। उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। शरीरसे बाह्य ब्रह्मचर्यका पालन करे वह शुभ है। अभव्यको भी वैसा ब्रह्मचर्य होता है परन्तु उसमें कोई विशेषता नहीं है।

यहाँ पर्यायसत्ताकी बात चलती है। ज्ञानपर्याय अपनी है इसलिए निश्चय है, रागकी पर्याय वह वास्तवमें अपनी नहीं है।

यहाँ चारित्रपर्यायके गुण–दोषकी बात नहीं है। जो–जो तीव्रता–मन्दता हो उसे ज्ञान जानता है। यह जानने योग्य है—ऐसा जानता है। ''ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं।''

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—विपरीत प्ररूपणा करनेवालेके प्रति

त्याज्यवृत्ति न आए तो वह मिथ्यादृष्टि है, —ऐसा कथन आता है उसको क्या समझना? सत्तास्वरूपमें कहते हैं कि—जो सच्चा जैन होगा वह तो प्रयोजनभूत रकममें अन्य द्वारा सर्वथा बाधा नहीं आने देगा, तथा बाधा देखकर अपनेको तलाक (ऐसा नहीं ऐसी अस्वीकृति) न आए तो वह जैनाभासी–मिथ्यादृष्टि ही है। इसका क्या अर्थ?

समाधान :—जो विकल्प उठता है वह चारित्रगुणकी पर्यायका दोष है। ज्ञानमें हेय–उपादेयपना नहीं है। ज्ञानने उस प्रकारके ज्ञेयको जाना है। विपरीत बात जानी इसलिए साधकको तलाकपनेका राग आया है ऐसा नहीं है, परन्तु साधकदशामें पूर्ण वीतरागता नहीं है, इसलिए राग आता है। मिथ्यादृष्टिकी बात सत्य नहीं है—ऐसा विकल्प साधकदशामें आये बिना नहीं रहता। सामनेवाला जीव मिथ्या प्ररूपणा करता है, इसलिए तलाकपनेका राग आता है—ऐसा नहीं है; ज्ञानने जाना इसलिए राग आता है—ऐसा भी नहीं है; परन्तु अपनी चारित्र पर्यायका दोष है, इसलिए तलाकपनेका विकल्प आता है।

शास्त्रमें अनेक प्रकारके लेख आते हैं—शब्दार्थ, आगमार्थ, भावार्थ, नयार्थ, मतार्थ आदिका ज्ञान करना चाहिए। ज्ञानमें पर्यायसत्ता ज्ञात होती है। परकी सत्ताको जानना वह व्यवहार है। चारित्रगुणकी पर्यायको जानना वह व्यवहार है। अखण्ड स्वभावको जानना वह निश्चय है।

साधक जीवको राग आता है। स्व–पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव है, इसलिए राग हुआ है ऐसा नहीं है, राग हुआ इसलिए ज्ञान प्रगट हुआ ऐसा भी नहीं है। अपनेको जानते हुए पर तथा रागको व्यवहारसे जानता है। राग इस काल ऐसा क्यों है—ऐसा प्रश्न नहीं रहा और अच्छा तथा बुरा ऐसा भी नहीं रहा। इसप्रकार रागसे ज्ञान भिन्न होनेके कारण ज्ञानपर्याय आत्माके साथ अभेद होती है वह धर्म है।

ज्ञान ज्ञानसत्ताको जानता है। ज्ञान स्वयं ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है। तथा ज्ञान दर्शनसत्ताको जानता है। दर्शन अर्थात् देखना। मुझमें देखनेका

गुण है—ऐसा ज्ञान जानता है। इसप्रकार स्वच्छत्व, विभुत्व, प्रभुत्व आदि अनन्त गुण हैं उनको ज्ञान जानता है। अनन्त गुणोंको ज्ञान यथावत् जानता है। प्रत्येक गुण भिन्न–भिन्न है—ऐसा ज्ञान जानता है, परन्तु उनमें प्रदेशभेद नहीं है। ज्ञान अमुक स्थान पर रहता है और दर्शन अमुक स्थान पर रहता है—ऐसा भेद नहीं है। सर्व गुण असंख्यप्रदेशमें व्यापक हैं, इसलिए पृथक्त्वभेद नहीं है; तथापि अन्यत्वभेद है। ज्ञानगुण वह दर्शनगुण नहीं है, आनन्द वह आनन्द है, दर्शन वह दर्शन है—इसप्रकार प्रत्येक गुणको भिन्न–भिन्न जानना वह ज्ञानका कार्य है।

आत्मद्रव्यकी सत्ता, गुणकी सत्ता और पर्यायकी सत्ताको ज्योंकी त्यों जानना वह धर्म है।

प्रवचन–५१

माघ शुक्ला १२, सोमवार २६-१-५३

ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य वह ज्ञेय है। जैसा ज्ञेय है वैसा ज्ञान जानता है और ज्ञेयका जैसा स्वरूप है वैसा ज्ञानमें ज्ञात होता है।

आत्मामें अनन्तगुण हैं। प्रत्येक गुण दूसरेसे अन्यत्वभेदरूप है। प्रत्येक गुण क्षेत्रसे पृथक् नहीं है परन्तु स्वभावसे पृथक् है—ऐसा ज्ञान जानता है। ज्ञान ज्ञानको जानता है, दर्शन एवं चारित्रको भी जानता है। प्रत्येक गुणका परिणमन स्वभाव भिन्न–भिन्न है—ऐसा ज्ञान जानता है। सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ तो ज्ञान केवलज्ञानरूप क्यों नहीं हुआ? और चारित्र पूर्ण क्यों नहीं हुआ?—यह प्रश्न नहीं रहता। प्रत्येक गुणका परिणमन स्वतंत्र है ऐसा ज्ञान जानता है। किसी धर्मीको अवधिज्ञान हो जाता है—अर्थात् तीन ज्ञान प्रगट हो जाते हैं परन्तु चारित्र प्रगट नहीं होता और छठवें गुणस्थानमें मुनिको मति–श्रुत दो ज्ञान हों और मुनिका चारित्र होता है—ऐसा क्यों? ऐसा आश्चर्य ज्ञानमें नहीं है। कोई करोड़ों वर्ष तक मुनिपनेका पालन करता है फिर भी केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, उसे भी ज्ञान जानता है। गुणस्थानोंमें रही हुई शुद्धता, अशुद्धता या अपूर्णता, निमित्तरूपसे कर्मादि जो–जो प्रकार हों उनको ज्ञान जानता है। रागका उत्पाद अथवा व्यय आदिको ज्ञान जैसे हैं वैसे जानता है।

तथा आत्मामें अनन्त गुणोंकी बाढ़ अथवा प्रवाह है उसे ज्ञान जानता है। उनमेंसे एक गुण अथवा एक पर्याय अल्प जाने तो उसने ज्ञानस्वभावको नहीं जाना है तथा ज्ञेयस्वभावको भी नहीं जाना है। सच्चे ज्ञानके बिना शान्ति नहीं होती।

कोई जीव भगवानके समवसरणमें जाए तथापि उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, तथा कोई जीव मुनिके पास जाए और अल्पकालमें सम्यग्दर्शन प्राप्त

कर लेता है तो ऐसा क्यों ? ऐसा प्रश्न ज्ञानमें नहीं है। उस–उस प्रकारका ज्ञेयका स्वभाव है, उसे ज्ञान जानता है। इस प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्यकी पर्याय वह ज्ञानका विषय है।

प्रथम अपनी बात कही थी, फिर पर पदार्थोंकी बात कही। जीव और अजीव द्रव्य तथा उनकी सात पर्यायें—इसप्रकार तीनोंकालके नव पदार्थोंको जैसे हैं वैसे ज्ञान जानता है। अजीव पदार्थको ज्ञान जानता है। अजीवसे राग होता है ऐसा माने तो नव पदार्थ नहीं रहते। कर्म अजीव है, राग अथवा पुण्य–पाप विकार हैं, आत्मा चैतन्यमूर्ति है, संवर, निर्जरा और मोक्ष एक समयकी निर्विकारी पर्याय है—ऐसा जानना चाहिए। व्यवहाररत्नत्रयसे संवर माने तो नवको नहीं माना। पुण्य तो विकारतत्त्व है; विकारके कारण संवर माने तो विकारने संवरका कार्य किया और ऐसा होनेसे संवर तथा पुण्यतत्त्व दोनों उड़ जाते हैं। आत्मासे शरीर चलता है ऐसा जो मानता है वह नवको नहीं मानता। शरीर जड़ है और वह स्वतंत्ररूपसे चलता है—ऐसा माने तो अजीवतत्त्वको माना कहा जाएगा। जीवकी इच्छासे शरीर चलता है—ऐसा माने तो नवतत्त्व नहीं रहते।

कारणपरमात्मा–शुद्धकारण जीव वह जीव पदार्थ है, कर्म और शरीरादि अजीव हैं, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र पर्याय प्रगट हो वह संवर तत्त्व है, शुद्धिकी वृद्धि होना वह निर्जरा है। दया–दानादि भाव पुण्य है, हिंसा–झूठ आदि वह पापभाव है, दोनों आस्रव और बंध हैं। सर्वथा बंधरहित होना वह मोक्ष है। नवों पदार्थ स्वतंत्र हैं—ऐसा ज्ञान जानता है।

कर्म अजीव हैं, उससे राग हुआ माने तो नव तत्त्व नहीं रहते। उसका ज्ञान मिथ्या है तथा उसने ज्ञेयोंको भी यथार्थ नहीं माना है। यहाँ तो नवों तत्त्व हैं—ऐसा सिद्ध करना है। संवर पर्याय जीव द्रव्यमेंसे आई है—ऐसा भी यहाँ नहीं कहना है। जीव और संवरको यहाँ भिन्न–भिन्न तत्त्व कहना है। संवर भी 'है' ऐसा कहना है, जीव भी 'है' ऐसा कहना है; किसीके कारण कोई नहीं है।

मुनिदशामें तीनकषायका अभाव होता है, उस संवर दशामें राग अति मन्द हो जाता है, उस दशामें वस्त्र–पात्र नहीं होते—ऐसा मानना चाहिए। आधाकर्मी या उद्देशिक आहार मुनिको होता है—ऐसा जो मानता है उसको नवों तत्त्वोंमें भूल है। उद्देशिक आहार लेनेका तीव्र राग आने पर भी उसे छठवीं भूमिकाका मन्द राग माना वह आस्रवतत्त्वकी भूल है।

तथा मुनिको निर्दोष आहार ही होता है, तथापि उद्देशिक आहार माने वह अजीवमें भूल है। तथा मुनिदशामें अतिमन्द राग शेष रहा है और अकषायी दशा हुई है ऐसा भी उसने यथार्थ नहीं माना वह संवर–निर्जरामें भूल है। तथा शुद्ध तत्त्वको भी नहीं माना। उद्देशिक आहारका तीव्र राग माना, इसलिए निमित्तरूपसे तीव्रकर्मका उदय माना परन्तु वास्तवमें तो कर्मका मन्द उदय है; इसलिए उसकी अजीव तत्त्वमें भूल है। इत्यादि प्रकारसे नवों तत्त्वोंमें भूल आती है।

कर्मके कारण राग होता है—ऐसा जिसने माना है उसने भूतकालमें भी अनन्त जीवोंको कर्मसे राग हुआ माना—इसप्रकार तीनोंकालमें नवतत्त्वोंकी खिचड़ी करता है। इच्छा से शरीर चलता है ऐसा माननेवाला तीनों कालके तत्त्वकी खीचड़ी करता है। छठवें गुणस्थानमें अट्ठाईस मूलगुणोंका विकल्प वह आस्रवतत्त्व है। वह है तो संवरतत्त्व टिक रहा है ऐसा माने तो बड़ी भूल है। संवरतत्त्व भिन्न है। इसप्रकार अज्ञानी तीनोंकालके तत्त्वोंमें भूल करता है।

एक तत्त्वको मिश्र करे तो नवोंमें भूल होती है। निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्धमें भूल करनेवाला नवोंमें भूल करता है। जड़कर्मकी पर्याय स्वतंत्र है। नैमित्तिकदशा आत्मामें हो वह भी स्वतंत्र है। संवर–निर्जरा अपूर्ण शुद्धपर्याय है, मोक्ष पूर्ण शुद्धपर्याय है; आस्रव–बंध मलिन पर्याय है, —ऐसा न मानकर पुण्यकर्म बाँधेंगे तो भगवानके पास जाएँगे और वहाँ धर्म प्राप्त करेंगे—ऐसा अज्ञानी मानता है। द्रव्यपुण्य अजीवतत्त्व है। पुण्यरूपी अजीवतत्त्वसे शरीर (दूसरा अजीवतत्त्व) भगवानके पास

नहीं जाता। तथा वाणी अजीवतत्त्व है, उससे सम्यग्दर्शन मानता है वह जीव, अजीव और संवरको एक मानता है। रागसे पैसा मिलता है ऐसा माने तो पाप और अजीव एक हो जाए। रागसे सुख माने तो पाप और संवर एक हो जाए। एकतत्त्वमें भूल करे उसकी नवों तत्त्वोंमें भूल हो जाती है। नवों पदार्थ सत् हैं इसलिए कोई किसीका आश्रय नहीं लेता। जीव त्रिकाल शुद्ध आनन्दकन्द परमात्मा है; विकारसे अविकारीदशा प्रगट होगी ऐसा माने तो वह नवपदार्थोंको नहीं मानता। आत्मामें जो पर्याय प्रगट होती है वह उसका स्वकाल है—ऐसा जानना। पैसा अजीव है, उसके कारण आकुलतारहित धर्म हो सकता है ऐसा माननेवाला मूढ़ है। मैं हूँ तो दुकानकी व्यवस्था चलती है—ऐसा माननेवाला भी मूढ़ है। जीवने राग किया इसलिए कर्मबंध हुआ वह बात मिथ्या है। कर्म अजीवतत्त्व है, राग आस्रवतत्त्व है, एक–दूसरेके आश्रित नहीं हैं। इसप्रकार वस्तुस्वरूप जानना चाहिए।

मुनिपनेकी जो पर्याय है उससे विपरीत जाने तो ज्ञान मिथ्या है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधुकी पर्याय जैसी है वैसी ज्ञान जानता है। नव पदार्थोंमें नवोंको पृथक् जाने तो यथार्थ तो यथार्थ है। कर्मादि पदार्थ अजीव हैं, वैसे अनंत अजीव हैं। एक अजीवसे दूसरा अजीव पदार्थ चले तो अनंत अजीव नहीं रहते। स्वतंत्र पदार्थ माने तो अजीवको यथार्थ माना कहा जाए—इसप्रकार नवोंको जैसे है वैसे–यथावत्–जानना चाहिए।

तथा जीव शुद्ध कारणपरमात्मारूप है और उसकी पर्यायमें होनेवाले राग–द्वेष वे आस्रवतत्त्व हैं। जीव और आस्रव दोनों भिन्न पदार्थ हैं। तथा कर्मका जोर है इसलिए राग–द्वेष होते हैं ऐसा भी नहीं है। इसप्रकार जीव, अजीव, आस्रवादिको पृथक् रूपसे ज्ञान जानता है।

कर्मका जोर है इसलिए पुरुषार्थ नहीं हो सकता। ऐसा माननेवाला पदार्थोंको स्वतंत्र नहीं मानता। जीव स्वतंत्र, विकार स्वतंत्र और कर्म स्वतंत्र है—ऐसा वह नहीं मानता।

धर्मास्तिकाय अजीव है, उसके कारण जीवकी गति नहीं होती। जीवमें क्रियावती शक्ति है, उसके कारण क्षेत्रांतर होता है, वह धर्मास्तिकायसे नहीं होता। कालके कारण पदार्थोंमें परिणमन माननेसे तथा अधर्मद्रव्यके कारण जीव स्थिर होता है ऐसा माननेसे नवतत्त्व नहीं रहते। पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अजीव हैं, उनको स्वतंत्र मानना चाहिए। तीनोंकालके पदार्थोंको स्वतंत्र मानना चाहिए।

तथा तीनकालके द्रव्य–गुण–पर्यायको जैसे हैं वैसे ज्ञान जानता है। गुणको पर्याय नहीं जानता, द्रव्यको गुण नहीं जानता, एक गुण पूरा पर्यायमें नहीं आ जाता। भूत पर्यायके कारण वर्तमान पर्याय नहीं होती और वर्तमान पर्यायके कारण भविष्यकी पर्याय नहीं होती। मोक्षमार्गकी पर्यायके कारण मोक्ष हुआ माने तो मोक्षमार्ग जो कि संवर–निर्जरा है और मोक्ष जो मोक्षतत्त्व है—वे दोनों एक हो जानेसे नव पदार्थ पृथक् नहीं रहते। एक पर्यायके कारण दूसरी पर्याय माने तो तीनों कालकी पर्यायें भिन्न–भिन्न नहीं रहती। पर्यायका नाश हो जाता है। सम्यग्दर्शन हुआ इसलिए चारित्र हुआ ? नहीं। प्रत्येक गुण भिन्न–भिन्न है, पर्याय भिन्न–भिन्न है—ऐसा ज्ञान जानता है।

प्रत्येक समयके उत्पादको उत्पाद, व्ययको व्यय और ध्रुवको ध्रुव जानता है। व्यय कारण और उत्पाद कार्य—ऐसा यहाँ नहीं लेना है। व्ययसे उत्पाद कहो तो व्यय और उत्पाद नहीं रहते। ध्रुवसे उत्पाद कहो तो ध्रुव और उत्पाद नहीं रहते। प्रत्येकको भिन्न–भिन्न ज्ञान जानता है।

इसप्रकार ज्ञेयकी बात आगममें लिखी है। षट्‌खण्डागममें और समयसारादिमें यह बात कही है। ज्ञातु योग्यं ज्ञेयं = ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य उसे ज्ञेय कहते हैं।

ज्ञेय सामान्य प्रकारसे एक है। अब दो भेद करते हैं—आत्माके सिवा अन्य पदार्थ ज्ञेय हैं—ऐसा ज्ञान जानता है। जैसा है वैसा ज्ञान जानता है; परको पररूपसे जानता है परन्तु परका अनुभव नहीं होता। निज ज्ञेयको जानना, स्वद्रव्य–गुण–पर्यायको जानकर परकी उपेक्षा करके

स्वकी अपेक्षा करके स्वका अनुभव करना वह फल है। दूसरे जीवोंको, पुद्गल, धर्मादि पदार्थोंको जैसे हैं वैसे ज्ञान जानता है—स्वको जानकर स्वका अनुभव करता है; परका ज्ञान होता है परन्तु परका अनुभव नहीं होता; स्वका ज्ञानसहित अनुभव होता है। लोकालोकका ज्ञान अपनेमें होता है, परन्तु लोकालोक अपनेमें प्रविष्ट नहीं हो जाते।

अब निजधर्माधिकार कहते हैं।

❋ निजधर्माधिकार ❋

निजधर्म–वस्तुस्वभाव। आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी है, और निर्विकारपना उसका धर्म है। यहाँ विकारकी बात नहीं लेना है। आत्माके श्रद्धा–ज्ञान करने पर सम्यक् दशा प्रगट होती है। परका, रागका और स्वका यथार्थ ज्ञान होने पर स्वमें वीतरागदशा प्रगट होती है। यथार्थ ज्ञान होनेपर निजधर्म प्रगट होता है। सच्चा ज्ञान रमणताका अंश लेकर आता है। सच्ची प्रतीति और सच्चा ज्ञान होने पर अंशतः वीतरागता अवश्य प्रगटती है। यथार्थ ज्ञान होने पर पर्यायका द्रव्यमें एकत्व होता है वह धर्म है।

आत्मामें अनन्तगुण हैं। उनको पर्यायमें धारे (धारण करे) तब निजधर्म प्रगट होता है। मुझमें अनन्तगुण हैं, ऐसा निर्णय करने पर पर्यायमें वीतरागता प्रगट होती है। निमित्त वह मैं, राग वह मैं—ऐसा जो पर्याय धारती है उसने जीवके अनन्त धर्मोंको धारण नहीं किया है। यहाँ धर्म शब्द कहा है। 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' अपनी पर्याय अपनेको धारे, निमित्त और रागसे बचाए और स्वभावमें एकाग्र हो वह धर्म है।

भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप पर्यायधर्मोंको धारण कर रखता है। मैं शुद्ध जीव हूँ और विकारादि आस्रव हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है। —ऐसे भेदज्ञानको धारण कर रखे वह धर्म है। मैं पर जीवको बचा सकता हूँ, परकी दया पाल सकता हूँ, दूसरेका कार्य कर सकता हूँ—ऐसा माननेवालेको धर्म नहीं होता। दूसरोंके धर्म तू धारण कर सकता है? नहीं। धर्मी जीवको अल्प राग होता है, परन्तु रागरहित

स्वभावका जोर वर्तता होनेसे वह अनन्तगुणोंको धारण कर रखता है—स्वभावकी पूर्णताकी शक्तिको धारण कर रखता है—टिका रखता है उसे धर्म कहते हैं।

धर्मीके बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्मी जीवके प्रति प्रेम वर्तता है उसे धर्मके प्रति प्रेम वर्तता है। जिसे धर्मी जीवके प्रति अरुचि वर्तती है उसको धर्मके प्रति द्वेष वर्तता है। उसे अपना धर्म रुचा नहीं है, परन्तु उसने द्वेष धारण कर रखा है। धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी दशा, वह आत्माके बिना नहीं होती। धर्मीको अन्य धर्मीके प्रति भूमिकाके योग्य प्रेम आए बिना नहीं रहता। रागका भी वह काल है। 'अशुभवंचनार्थम्'—ऐसा लेख आता है वह व्यवहारकी भाषा है। अशुभ भाव होता था और उसे टाला-हटाया ऐसा नहीं है; अशुभका व्यय होनेके समय शुभ होता है ऐसा उसका कालक्रम है। धर्मी जीव समझता है कि मेरा धर्म मुझसे है, रागसे नहीं। इसप्रकार अनन्त जीव भी द्रव्यस्वभावके श्रद्धा-ज्ञानसे धर्मदशाको प्राप्त हुए हैं। निमित्त और रागसे धर्म नहीं होता। मुनिने निजधर्म धारण किया है, शरीरको धारण नहीं किया, विकल्पको धारण नहीं किया। अनन्तगुणोंको अपने श्रद्धा, ज्ञान और रमणतामें धारण कर रखा है वह धर्म है। शरीरकी क्रिया कर सके या छोड़ सके वह आत्माके अधिकारकी बात नहीं है। राग रागके कालमें होता है, परन्तु जो वीतरागता होती है वह धर्म है। साधक जीवको रागके समय अन्य धर्मीके प्रति प्रेम आता है किन्तु द्वेष नहीं आता, द्वेष आए तो वह धर्मी नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने धर्मको धारण करता है। आत्मा अपना स्वभाव धारण करता है, अजीव उसका अपना स्वभाव धारण करता है। आत्माका धर्म आत्मामें है, आत्माका धर्म परसे नहीं है और परकी पर्याय आत्मासे नहीं है। यहाँ धर्म अर्थात् स्वभाव अथवा गुणपर्याय। प्रत्येक द्रव्यने अपना स्वभाव स्वयं धारण किया है, अन्यने धारण नहीं किया,—ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

❀

प्रवचन–५२

माघ शुक्ला १३, मंगलवार दि० २७-१-५३

आत्माका धर्म किसे कहें? जानना, देखना और राग–द्वेष रहित दशामें स्थिर रहना वह धर्म है।

प्रश्न :—आपने धर्मकी व्याख्यामें कहा कि शरीर, मन, वाणीकी क्रिया हो या विकार हो वह धर्म नहीं है परन्तु अखण्ड शुद्ध चिदानन्दके श्रद्धा, ज्ञान और लीनता वह धर्म है। तब फिर जैसे आत्मामें निजधर्म हैं, वैसे ही पुद्गलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि धर्म हैं; तब उनको धर्म क्यों नहीं कहा? आत्माके ज्ञान, दर्शन और रागरहित दशाको निजधर्म कहते हो, परन्तु सर्व पदार्थोंका जो–जो स्वभाव है वह–वह निजधर्म है, तो सबको निजधर्म कहो, परन्तु मात्र दर्शन–ज्ञान–चारित्रको ही निजधर्म क्यों कहते हैं? —ऐसा प्रश्न किया है।

समाधान :—प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव अपने–अपने में है। त्रिलोकनाथने छह द्रव्य देखे हैं और वाणीमें भी वैसे ही आए हैं। उनका जो–जो स्वभाव है वह–वह निजधर्म कहा जाएँगा; परन्तु यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो जो आत्माको तारे उसे निजधर्म कहते हैं। पुद्गलमें चाहे जो फेरफार हो फिर भी उसे दुःख नहीं है। यहाँ आत्माकी बात है। ज्ञानानन्दस्वभावमें रहते हुए संसारसे बच जाए उसे निजधर्म कहते हैं। अजीवको दुःख नहीं है। शरीर हड्डी और मांससे भरा है, वह किसी भी रूपमें हो, उसका धर्म उसके पास है, परन्तु तारणधर्म जीवमें है। जीवको संसारसे बचाकर मोक्षदशामें ले जाय वह धर्म है।

तथा सजीवधर्म जीवमें है। अपनेको तथा परको जाने ऐसा प्रकाश–धर्म जीवमें है। पुण्य–पाप हटकर संवर और शान्ति प्रगट हो वैसा हितरूप धर्म जीवमें है। असाधारण धर्म, अविनाशीसुखरूपधर्म,

चेतनाप्राणधर्म, परमेश्वरधर्म, सर्वोपरिधर्म, अनन्तगुणधर्म, शुद्धस्वरूप-परिणतिधर्म, अपारमहिमाधारकधर्म, निजशुद्धात्मस्वभावरूप धर्म—यह निजधर्म हैं। पाँच जड़द्रव्योंके धर्मकी बात नहीं करते। यहाँ जीवके निजधर्मकी बात करते हैं। जड़को हित–अहित नहीं हैं, जीवको हित करना है। जीवमें तारणधर्म है उसकी बात करते हैं।

(१) **संसार तारण धर्म** :—यह संसार आदि रहित है। कर्मके निमित्तसे जीव जन्मादि दुःख भोगता है। कर्मने दुःख नहीं दिया है, कर्म जड़ है। उसमें सम्बन्ध बाँधे तो दुःख भोगता है। वैसे दुःख या अधर्मसे तारे उसे तारणधर्म कहते हैं। दया, दान, काम, क्रोध भाव होते हैं वह परधर्म है—विकार है। अज्ञानी विकारको अपना स्वरूप मानता है। शरीरके धर्मको अपना माने, पुण्यसे अच्छा होगा, पूर्वपुण्य फलित हो तो ठीक, —ऐसी मान्यता वह अधर्मभाव है। पैसा, स्त्री, पुत्र और अनुकूलता अपनेको प्राप्त हुई मानता है; पुण्य–पाप विकारादि परधर्मको अपने मानता है तथा उन्हें हितकारी मानकर दुःख भोगता है। परधर्मको निजधर्म मानना वह दुःख है। संयोग, पैसा या शरीर सुख–दुःख नहीं देते; परवस्तुके स्वभावको अपना स्वभाव मानना वह दुःखका कारण है। खाने–पीनेके पदार्थोंमें सुख–दुःख नहीं है। लड्डू सुखरूप और विष दुःखरूप नहीं है। पैसा हो तो आनन्द रहे इत्यादि मान्यता भूल भरी है। परवस्तुका स्वभाव स्वतंत्र है, आत्मा उसमें कुछ कर नहीं सकता। परका स्वभाव आत्मा बदल सकता है अथवा परके स्वभावको अनुकूल–प्रतिकूल मानना वह संसार है। पर जीव बच जाता है वह उस जीवका धर्म है, तथापि मैं उसे बचाता हूँ, यह मान्यता दुःखका कारण है। पर प्राणी मुझसे मरा या बचा यह मान्यता दुःखका कारण है।

शरीरादि अनन्त पर पदार्थ हैं। पर पदार्थोंको अपना मानना अथवा अच्छा–बुरा मानना वह दुःखका कारण है। पच्चीस हजार रुपये मिल जाए वह सुखका कारण नहीं है और पच्चीस हजार रुपये कोई लूट ले वह दुःखका कारण नहीं है। पर पदार्थ सुख–दुःखका कारण नहीं है। पर पदार्थका धर्म अपनेको सुखरूप या दुःखरूप मानना वह भ्रान्ति है।

अन्य जीव मुझे तार सकता है—ऐसी मान्यता वह भूल है।

शरीर आदर करने योग्य नहीं है इसलिए निंद्य है, तथापि अज्ञानी शरीरको धर्मका साधन मानता है। शरीरमें सुख माने, विषयमें सुख माने, इन्द्रियोंसे सुख माने, जड़की पर्यायसे आत्माकी पर्याय माने तो दुःखी होगा। शरीर स्वस्थ हो तो धर्म होता है और रोगी हो तो धर्म नहीं होता—यह मान्यता अज्ञान है। शरीरके ऊपरकी दृष्टि वह पर्यायदृष्टि है। स्वभाव पर जिसकी दृष्टि नहीं है किन्तु राग पर दृष्टि है उसकी दृष्टि शरीर पर गए बिना नहीं रहती। शरीरसे तपस्या करेंगे और उससे धर्म होगा—ऐसा मूढ़ जीव मानते हैं। अनादिसे जड़की क्रियासे धर्म मानते हैं, इसलिए दुःख प्राप्त करेंगे ही करेंगे, सुख प्राप्त नहीं कर सकते। दया, दान, व्यवहाररत्नत्रय परधर्म है। शरीरको अपना माने बिना रागको अपना नहीं मान सकते। परपदार्थ ही मैं हूँ—ऐसी बुद्धि पर्यायबुद्धिवालेको होती है। आत्मा बड़ा सरदार है, वह शरीर एवं पुण्यको अपना माने तो दुःख प्राप्त करेगा ही, उसे धर्म नहीं हो सकता। शरीर मैं नहीं हूँ, विकार मैं नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ—इसप्रकार शुद्ध चैतन्य धर्मको जाने तब संसारसे तिरता है। वह संसारतारण धर्म है। उसे निजधर्म कहते हैं। कर्मको दुःख नहीं है। कर्म यदि परमाणुकी अवस्थारूप हो जाय तो कर्मको दुःख नहीं है और कर्म पृथक् हो जाए तो कर्मको सुख नहीं है। सिद्धदशाके समय सिद्धके कर्म पृथक् हो गए तो क्या कर्मको सुख होता होगा? —नहीं, कर्मको सुख–दुःख नहीं है। यहाँ आत्माको सुख–दुःख होता है। यह आत्माके धर्मकी बात चल रही है। परसे सुख–दुःख मानना वह अधर्म है। शुद्ध चैतन्यके आश्रयसे अधर्म मिटकर धर्मदशा हो ऐसा संसारतारण धर्म जीवमें है, जड़में ऐसा धर्म नहीं है। कस्तूरी, हीरा आदि पुद्गलोंमें ऐसा धर्म नहीं है। परसे सुख–दुःख माननेरूप अधर्मसे छूटें और शान्ति प्रगट हो उसे संसारतारण धर्म कहते हैं। शिष्यने प्रश्न किया था कि जीवमें ज्ञान, दर्शनको निजधर्म कहते हो तो सर्व द्रव्योंके स्वभावको निजधर्म कहो न? उसका स्पष्टीकरण किया कि आत्मा दुःखसे बच जाए और संसारसे तिर जाए ऐसा तारणधर्म आत्मामें है। इसलिए उसे निजधर्म कहते हैं।

(२) **सजीवधर्म :**—आत्मा अपने चेतनाप्राणसे जीवित है। जानना–देखना वह जीवका स्वभाव है, वह स्वजीवका धर्म है, इसलिए उसे निजधर्म कहते हैं। शरीर मैं नहीं हूँ, राग–द्वेष एवं अल्पज्ञता मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो परिपूर्ण ज्ञाता हूँ। सजीव अर्थात् जागृत धर्म चेतनायुक्त है। राग–द्वेष हों उनको भी जाने ऐसा धर्म है। ज्ञातृत्वकी अधिकता और राग–द्वेषकी मन्दता होनेपर सजीव धर्म प्रगट होता है। अहो ! राग–द्वेष, पुण्य–पापको ज्ञानकी अधिकतासे मैं जानता हूँ, शरीरकी क्रिया मैं नहीं करता, उन सब क्रियाओंको मैं जानता हूँ, —ऐसा जागृतधर्म जीवमें है। चैतन्य जागृतधर्म जिसे प्रगट हुआ है ऐसे साधकको निर्बलतासे राग हो आता है और परके ऊपर लक्ष जाता है उस रागको धर्म नहीं कहते। मैं तो निर्मलानन्द हूँ—ऐसे शुद्ध चैतन्यके लक्षसे विकारसे बच गया वह तारणधर्म है और दूसरा धर्म जागृत धर्म है। शरीरादि एवं विकारादिका ज्ञाता हूँ। इस प्रकार अनन्त धर्मोंको जानकर जो स्वमें एकाग्र हो उसे सजीवधर्म प्रगट होता है। यह धर्म अजीव पदार्थोंमें नहीं होता।

(३) **प्रकाशधर्म :**—मैं त्रिकाल ज्ञानानन्द हूँ—ऐसा जाने और ज्ञाता–दृष्टा स्वभावमें रहे उसे प्रकाशधर्म कहते हैं। वह धर्म जीवमें होता है। स्वयं अपने धर्मको जाने और परके धर्मको भी जाने वह प्रकाशधर्म है। मैं ज्ञाता हूँ, शरीरादि तथा राग–द्वेषको जाननेवाला हूँ, परका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो स्व–परका ज्ञाता हूँ। —ऐसे प्रकाशधर्मको निजधर्म कहते हैं। आत्मा स्व–परका ज्ञाता है। व्यवहार रत्नत्रयको परज्ञेयरूप और स्वयंको स्वज्ञेयरूप जानूँ—इसप्रकार यथार्थ ज्ञान होनेसे अंतरमें स्थिर हुआ वह धर्म है।

(४) **परमधर्म :**—आत्माने सर्व धर्मोंको प्रगट जाना। जड़को अपने धर्मकी खबर नहीं है। परमाणुमें यह धर्म है, धर्मद्रव्यमें यह धर्म है—ऐसा आत्मा जानता है। तथा यह राग हुआ, यह द्वेष हुआ–उस सबको ज्ञान जानता है, इसलिए ज्ञान आत्माका उत्कृष्ट धर्म है। पाँच द्रव्य

जड़ हैं—ऐसी घोषणा आत्माने की है। —इसप्रकार सर्व पदार्थोंके स्वभावको प्रगट किया। ऐसा उत्कृष्ट धर्म जीवमें होता है, जड़में नहीं होता। इसलिए परमधर्म निजधर्म है।

(५) **हितधर्म** :—मेरा आत्मा चिदानन्द स्वरूप है, उसकी श्रद्धा ही हितकारी है। रुपया–पैसा आदिमें हित न मानकर अपनेसे हित होता है—ऐसा माने उसे हितधर्म होता है। हितधर्म जीवकी पर्यायमें रहता है। व्यवहारसे या निमित्तसे हित होता है ऐसा मानना वह मिथ्याभाव है। अपने निजरूपसे शान्ति होती है—ऐसी प्रतीति, ज्ञान और रमणताको हितधर्म कहते हैं। वह जीवका निजधर्म है। इसमें ज्ञानक्रिया आती है, और मिथ्याक्रियाका निषेध होता है। हितरूप दशा जीवमें होती है, परमाणुमें हित–अहित नहीं है। गेहूँके आटेको घीमे सेकनेसे हलुवा बने तो उस आटेके परमाणुओंका कोई हित–अहित होता होगा ? नहीं; जड़में हितपना नहीं है। आत्मा अनन्त ज्ञानस्वरूप है—ऐसी श्रद्धा हितरूप है। अज्ञानी परसे हित–सुख मानता वह अहितरूप था। सच्ची श्रद्धासे हित होता है। बुरे परमाणु पलटकर अच्छो हो जाए तब भी परमाणुमें हित नहीं है। आत्मामें हितरूप धर्म है। जो व्यवहारका राग आता है, दया–दानादि एवं काम–क्रोधादिके परिणाम उठते हैं वे अहितरूप हैं; स्वयं त्रैकालिक ज्ञानस्वरूप है, उसकी श्रद्धासे हितरूप धर्म प्रगट होता है। लोग कहते हैं कि हम परका हित कर सकते हैं, अच्छी जान–पहिचान हो अथवा अच्छे सगे–सम्बन्धी मिलें तो हित होता है—वह सब मान्यता भ्रम है। हितधर्म अपनेमें है। ज्ञानानन्दस्वभाव हितकारी है। अपनी पर्यायमें होनेवाला शुभराग भी हितकारी नहीं है, तो फिर परपदार्थोंको हितकारी कैसे कहा जाएगा ? —नहीं कहा जा सकता।

(६) **असाधारणधर्म** :—आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख अन्य द्रव्योंमें नहीं हैं, इसलिए असाधारण धर्म आत्मामें है—उसीप्रकार एक जीवके ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि अन्य जीवमें नहीं हैं।—ऐसा असाधारण धर्म जीवमें है, उसे निजधर्म कहते हैं।

શ્રી દિગંબર જૈન સ્વાધ્યાયમંદિર ટ્રસ્ટ, સોનગઢ - ૩૬૪૨૫૦

लोगोंने सत्य बात सुनी नहीं है, बाह्य क्रियाकाण्डमें धर्म मान रखा है। एक हीरेको पेटीमें सुरक्षित रखा हो और ऊपरसे फटे–पुराने कपड़े रजाई–गद्दे आदि हों तो वहाँ उनके नीचे रखा हुआ हीरा दिखाई नहीं देता। बाहरसे पुराने कपड़े दिखाई देते हैं। उसीप्रकार शरीर, मन, वाणी आदि तो फटे–पुराने कपड़ोंके समान हैं; पेटीमें रखे हुए हीरेकी भाँति आत्मा उनमें सुरक्षित रखा है, उसे देखे–पहिचाने तो धर्म हो सकता है। फटे–पुराने कपड़ोंको देखनेसे हीरा हाथ नहीं आ सकता। उसीप्रकार बाह्यक्रिया काण्डसे आत्मारूपी हीरा हाथ नहीं आ सकता; अन्तर्मुख होकर आत्माको पहिचाने तो उसकी प्राप्ति होगी—धर्म होगा।

સહજ ચિદાનંદ.

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

प्रवचन–५३

माघ शुक्ला १४, बुधवार दि० २८-१-५३

अनुभव प्रकाशमें यह निजधर्म अधिकार चलता है। आत्मामें ज्ञान, दर्शन एवं आनन्दगुण है, वह अन्य पदार्थमें नहीं है। ऐसे ज्ञान, दर्शन और आनन्दका अवलम्बन लेकर जो वीतरागदशा प्रगट होती है वह असाधारण धर्म है।

(७) **अविनाशी सुखरूप धर्म :—**धर्म शरीर या वाणीमें नहीं है अथवा पुण्य–पापके रागमें नहीं है। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है, वह आनन्दरूप है; उसके अवलम्बनसे जो आनन्द प्रगट होता है उसे अविनाशी सुखरूप धर्म कहते हैं। शरीर नाशवान है, पुण्य–पाप–विकार नाशवान है, इसलिए वह धर्म नहीं है। अंतर्शक्तिका अवलम्बन लेकर जो दशा प्रगट हो उसे अविनाशी सुखधर्म कहते हैं। मोक्षमार्ग कहो या अविनाशी सुखधर्म कहो एक ही हैं। अपने आत्माके अवलम्बन बिना धर्म नहीं होता। अज्ञानी कहते हैं कि संयोग प्राप्त हों और व्रत–तप करें तो धर्म होता है तो वह बात मिथ्या है। आनन्दस्वरूप आत्माका अवलम्बन लेनेसे आनन्द अथवा शान्ति प्रगट हो उसे धर्म कहते हैं। बाह्य संयोग अनुकूल वर्ते उनमें अथवा व्रतादिके परिणामोंमें धर्म नहीं है। आत्मामें त्रिकाल आनन्द भरा है, उसके अवलम्बनसे आनन्द प्रगट हो उसे निजधर्म कहते हैं। व्यवहार रत्नत्रय शुभ उपयोग है, उसमें धर्म नहीं है, वह आत्मशान्तिके लिए व्यर्थ है। आत्मा अनाकुलरसका कन्द है, उसका अवलम्बन लेकर अमृतदशा प्रगट हो उसे निजधर्म कहते हैं। अंतरमें शुद्ध चैतन्यतत्त्व विद्यमान है; उसमें आनन्दके झरने बहें उसे निजधर्म कहते हैं, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं, वह मोक्षका कारण है। यह अंतर्दृष्टिकी वस्तु है, अंतरमें देखे तो ख्याल आता है।

(८) **चेतनाप्राण धर्म :**—आत्मा ज्ञान-दर्शनका पिण्ड है। राग-द्वेष टूटकर चेतना पर्यायमें आए वह चेतनाप्राण धर्म है। वह निजधर्म है। आत्मवस्तु चेतन त्रैकालिक है। राग-द्वेषरहित होकर चेते और चेतनागुणमें एकाग्र होकर चेतनाप्राणको धारण कर रखे तथा राग-द्वेषको तोड़ दे वह चेतनाप्राण धर्म है।

(९) **परमेश्वर धर्म :**—आत्मा अनन्तशक्तिका धारक है। अंतरसे स्वभाव प्रगट हुआ वह परमेश्वर धर्म है। परमेश्वरकी भक्ति परमेश्वरधर्म नहीं है। स्वयं ईश्वर है, —ऐसी अंतर्शक्ति प्रगट हो वह परमेश्वर धर्म है।

जैनशासन कहाँ रहता होगा? —ऐसा प्रश्न करते हैं। श्री समयसारकी १५वीं गाथामें कहा है कि—जो पुरुष आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखता है वह सर्व जिनशासनको देखता है। आत्मा कर्मसे बँधा नहीं है, कर्मको स्पर्श नहीं करता, एकरूप है, नियत है, अविशेष है और असंयुक्त है—ऐसे पाँच प्रकारका है, उसमें एकाग्र हो उसे परमेश्वरधर्म कहते हैं। चिदानन्द आत्मा कर्मसे पृथक् है और राग भी आत्माका स्वरूप नहीं है। अनन्त गुणोंका पिण्ड आत्मा है; ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करनेसे जो वीतरागता प्रगट हुई वह परमेश्वर धर्म है। जैनधर्म कोई कल्पना नहीं है, वाड़ा नहीं है। आत्मा अनन्तशक्तिका पिण्ड है, उसकी प्रतीति, रमणता करना वह जैन परमेश्वरका धर्म है। आत्मा ज्ञान-दर्शनरूप सामान्य ध्रुव चिदानन्द है, आत्मा प्रभु है। स्वभावमें प्रभु है और विभावमें भी प्रभु है। अन्य कोई प्रभु नहीं है। पर्यायमें विकार होता है उसका लक्ष छोड़कर आत्माकी ओर लक्ष कर। त्रिकाल ध्रुवस्वभावमें परमेश्वर पद न हो तो पर्यायमें सिद्धपद नहीं आ सकता। प्राप्तकी प्राप्ति होती है, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं होती। स्वभावमें परमेश्वर शक्ति है, वह कारणपरमात्मा है; उसकी श्रद्धा, ज्ञान, एकाग्रतासे पर्यायमें सिद्धदशा प्रगट हो, वह कार्यपरमात्मा है, उसे परमेश्वरपद कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि तेरा परमेश्वरपद तुझमें है—ऐसी दृष्टि कर, ऐसी

श्रद्धा करनेसे परमेश्वर धर्म प्रगट होता है। यह साधककी बात है, पूर्णदशाकी बात नहीं है।

(१०) **सर्वोपरि धर्म** :—आत्माके अवलम्बनसे जो दशा प्रगट हुई वह सर्वोपरि धर्म है। वह मोक्षमार्गकी पर्यायोंके नाम है।

(११) **अनन्तगुण धर्म** :—सर्वगुणांश वह सम्यग्दर्शन। आत्माकी यथार्थ प्रतीति होनेसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विभुत्व, कर्ता, करण, सम्प्रदान आदि गुणोंकी अंशतः शुद्धता होती है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होने पर अनन्त गुणोंकी अंशतः शुद्धता आ जाती है, इसलिए उसे अनंत गुणधर्म कहते हैं। आत्माकी प्रतीति होने पर कर्तागुणका अंश निर्मल होता है। स्वच्छत्व, प्रभुत्व आदिके अंश निर्मल होते हैं। कर्ता, करण, सम्प्रदान, आनन्द, ज्ञानादि गुण त्रिकाल हैं; ऐसे अनन्तगुणोंको पर्यायमें धारण किया और अवस्था प्रगट हुई, इसलिए उसे अनन्तगुण धर्म कहते हैं। सत्ता आदि गुण अशुद्ध नहीं होते, परन्तु आत्माकी प्रतीति हुई इसलिए सर्व गुण शुद्ध हुए ऐसा कहा, और जिसे आत्मप्रतीति नहीं है उसके सर्व गुण अशुद्ध हैं ऐसा कहा जाता है। इसप्रकार अनन्तगुण धर्म वह निजधर्म है।

(१२) **शुद्धस्वरूप परिणति धर्म** :—जैसा, आत्मा द्रव्यरूपसे शुद्ध है वैसा पर्यायमें भी शुद्ध–निर्मल परिणमित होता रहे उस धर्मको शुद्धस्वरूपपरिणति धर्म कहते हैं। यहाँ मुख्यरूपसे मुनिकी बात है। शरीरकी क्रिया अथवा २८ मूलगुणोंका पालन वह मुनिपना नहीं है, किन्तु निर्विकारी दशा मुनिपना है। शक्तिरूप स्वभावका परिणमन होनेसे पर्यायमें शुद्धता बनी रहती है, उस शुद्धदशाको शुद्धस्वरूप परिणति धर्म कहते हैं। शरीरादि जड़ हैं, पर्यायमें विकार होता है वह मूलस्वरूप नहीं है। उस पर्यायके ऊपरसे लक्ष उठाकर द्रव्यस्वभावमें श्रद्धा–लीनता करे वह शुद्धस्वरूपपरिणति धर्म है।

भरत और बाहुबलिने युद्ध किया उस समय उनको शुद्धस्वरूपपरिणति धर्म है। जो द्वेषका अंश हुआ है वह आत्माका स्वरूप

नहीं है—ऐसा वे जानते हैं। शुद्ध आत्माकी प्रतीति वर्तती है। युद्धादि जड़की क्रिया है। आत्मा हाथ या तीर–धनुषको स्पर्श नहीं करता, जड़के परावर्तनानुसार परिणमन होता है। अल्प द्वेष होता है उसे धर्मी जानता है। स्वयं ज्ञायकस्वभावी है—ऐसा बना रखे वह शुद्धस्वरूपपरिणति धर्म है।

(१३) **अपारमहिमा धारक धर्म :**—आत्माकी स्वभावदशा अपार महिमावान है; वह दशा प्रगट होने पर धर्मीको इन्द्रपद, राज्यपद तुच्छ लगता है, चक्रवर्तीका वैभव भी तुच्छ–कूड़ाघर समान लगता है, व्यवहार रत्नत्रयके परिणामको भी विषके समान समझता है। आत्मा अनंत गुणोंका पिण्ड है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप दशा प्रगट हो उसकी अपार महिमा है; जिसकी महिमा भगवानकी वाणीमें भी पूर्ण नहीं आती। स्वभावमें ऐसी अनंत शक्ति है। ऐसी श्रद्धा और लीनता पूर्वक जो दशा प्रगट हुई उसे अपार महिमा धारक धर्म कहते हैं।

यह निजधर्म अधिकार पूर्ण हुआ।

प्रत्येक गुणकी अनन्तशक्ति है। उसकी अनन्त पर्यायें हैं। एक गुण अपनेको उपादान है और अन्य अनन्त निमित्त हैं। ज्ञानगुणने अनन्त गुणोंको जाना। ज्ञानकी एकसमयकी पर्याय अनन्त गुणोंको—दर्शन, चारित्रादिको जान लेती है, इसलिए अनन्तगुणोंको धारण करती है। चारित्रगुणकी पर्याय अनन्त गुणोंको स्थिरतामें धारण कर रखती है। आनन्दकी पर्याय अनन्त गुणोंका आनन्द धारण कर रखती है। सम्यग्दर्शन पर्याय अनन्तगुणोंकी प्रतीति धारण कर रखती है। —इसप्रकार एक–एक गुणकी उपादानशक्ति अनन्त है और एक गुण दूसरे अनन्त गुणोंको निमित्त होता है—इसप्रकार अनन्तको निमित्त होनेकी शक्ति प्रत्येक गुणमें विद्यमान है। इसप्रकार प्रत्येक गुणकी अनन्त पर्यायें हैं—ऐसी प्रतीति करो।

वस्तुमें अनन्त गुण हैं, एक गुणमें अनन्त शक्ति है तथा एक गुणकी अनन्त पर्यायें हैं। जितने समय उतनी पर्यायें हैं। केवलज्ञानकी एक पर्यायमें सम्पूर्ण लोकालोक ज्ञात हो जाता है। एक ज्ञानपर्यायमें

अनन्त गुणोंका सामर्थ्य, अनन्त गुणोंका ज्ञान तथा अनन्त पर पदार्थोंका ज्ञान आ जाता है। लोकालोक है इसलिए ज्ञान है—ऐसा नहीं है। ज्ञान निरपेक्षरूपसे कार्य करता है। प्रत्येक आत्मा अपनी प्रभुत्वशक्तिसे परिपूर्ण है। अनन्त गुण अनन्त महिमाको धारण करते हैं। ऐसी निजधर्म महिमाको कहाँ तक कहा जाए ?

एकदेश निजधर्म करनेसे संसार पार होता है। आत्मा आनन्दकन्द है; ऐसे आत्माका अंशतः आनन्द आया और स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ उसे केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहता। जैसे दूजका उदय होने पर पूर्णिमा हुए बिना नहीं रहती, वैसे ही सम्यग्दर्शनरूपी दूज अथवा अंशतः शुद्धता प्रगट होने पर सर्व शुद्धदशा प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन होनेपर सिद्धपद होता ही है, इसलिए उसकी अनन्त महिमा है। जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध होता है वह शुभभाव आस्रव है, उसकी महिमा नहीं है परन्तु जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ उसकी महिमा है। वह ज्ञान बढ़कर केवलज्ञान होगा। इसलिए आत्माके श्रद्धा–ज्ञान करके निजधर्मधारी परमेश्वरपद प्रगट करो।

ऐसे निजधर्मकी धारणा कैसे होती है ? आत्माके अनुभवसे निजधर्मकी धारणा होती है। आमके ज्ञान बिना आमका ख्याल नहीं आता, उसीप्रकार आत्माके ज्ञान बिना आत्माका ख्याल नहीं आता। आत्मा रागरहित है—ऐसा ज्ञान करे तो अनुभव हो। धारणा धारण कर रखना, वह अनुभवसे होता है।

स्वभावशक्तिकी प्रतीति एवं रमणतासे अनुभव होता है। व्यवहारसे वज्रकायसे अथवा पुण्यसे अनुभव नहीं होता। इसलिए अनुभवसार सिद्धि हेतु निजधर्म अधिकार कहा।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—सम्यग्दर्शन होने पर तुरन्त ही सर्वथा रागरहित दशा प्रगट हो जाती होगी या राग शेष रहता होगा ?

समाधान :—साधकदशामें ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों प्रवर्तती हैं। बारहवें गुणस्थान तक दोनों धाराएँ रहती हैं। बारहवेंमें राग नहीं है

परन्तु ज्ञान अल्प है इतनी कर्मधारा है। आत्माके श्रद्धान–ज्ञान सम्यक्स्वरूप हैं वह ज्ञानधारा है और जितना राग शेष है उतनी राग–द्वेषधारा है।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय गुणस्थानमें बहिरात्मपना है। स्वयं आत्माका अनुभव न करके बाह्यमें अटकता है वह बहिरात्मा है, आत्माका अंशतः अनुभव करे वह अंतरात्मा है, पूर्णदशा प्रगट करे वह परमात्मा है। शक्तिरूपसे सब परमात्मा ही हैं—शरीर, मन, वाणी, संयोगोंको अपना माने वह बहिरात्मा है। स्वरूपकी शक्तिका विश्वास करे और अंशतः निर्मल पर्याय प्रगट हो वह अंतरात्मा है और पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो वह परमात्मा है।

अल्प धर्म विकसित हुआ है और अल्प विकसित नहीं हुआ—ऐसी दशाको मिश्रदशा कहते हैं।

मैं आत्मा अखण्डानन्द हूँ, आनन्दकन्द हूँ—ऐसी श्रद्धा हुई है परन्तु राग–द्वेष अभी शेष हैं, कषायभाव सर्वप्रकारसे दूर नहीं हुआ है। जितना कषाय अंश है उतनी राग–द्वेष धारा है। श्री समयसार कलश ११० में जो बात है उसका यह स्पष्टीकरण है। आत्मा वस्तुरूपसे परमात्मा है परन्तु पर्यायमें परमात्मा नहीं है। चौथेमें तीन कषाय शेष हैं, पाँचवेंमें दो कषाय बाकी हैं, मुनिको एक संज्वलनकषाय है। दसवें गुणस्थान तक राग होता है। छत पर पहुँचनेके लिए दस सीढ़ियाँ चढ़ना होती हैं, उसीप्रकार आत्माकी पूर्णदशा प्राप्त करनेके लिए चौदह सीढ़ियाँ हैं। उनमें प्रथम तीन तक बहिरात्मपना है, चौथीसे बारहवीं तक अंतरात्मदशा है और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें परमात्मदशा है। दसवेंमें अव्यक्तराग है। यहाँ साधक जीवकी बात करते हैं। जितना राग–द्वेष है उतना बाधक है, आत्माको शुद्ध चिदानन्दकी प्रतीति हुई उतना आनन्द है। श्रद्धा आनन्दका स्वीकार करती है, परन्तु अभी राग शेष रहा है, वह कर्मके कारण नहीं रहा है। मलिन पर्याय सर्वथा दूर नहीं हुई है। दसवें गुणस्थान तक कषायभाव रहा है, त्रैकालिक स्वभावकी श्रद्धा मुख्य है। चौथे गुणस्थानमें

पूजा–प्रभावनादिका विकल्प होता है। तथा चौथे और पाँचवेंमें आर्त्त एवं रौद्रध्यान होता है और छठवेंमें आर्त्तध्यान होता है परन्तु उसकी गौणता है, द्रव्यस्वभावकी मुख्यता है इसलिए श्रद्धाभाव मुख्य है और कषायभाव गौण है—इसलिए कषायको गौण कहकर व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। सम्यग्दर्शन हुआ कि तुरन्त ही सर्व पर्यायें पूर्ण निर्मल हो गईं—ऐसा नहीं है, जितना राग है उतना दोष है।

यहाँ कहते हैं कि आत्माकी श्रद्धा होना वह मुख्यभाव है। अल्पराग गौण है, अखण्डभाव पूर्ण नहीं हुआ है, परमात्मदशा हुई नहीं है, थोड़ा धर्म प्रगट हुआ है और थोड़ा नहीं हुआ, इसलिए उसे मिश्रधर्म कहते हैं। वह चौथेसे बारहवें तक होता है।

प्रवचन–५४

माघ शुक्ला १५, गुरुवार दि० २९-१-५३

यह मिश्रधर्मका अधिकार है। आत्माका ज्ञान और दर्शनरूपी चेतना स्वभाव है; उसमें लीनता करके जबतक केवलज्ञान दशा न हो तबतक मिश्रधर्म है—ऐसा कहते हैं। केवलज्ञानमें कर्मधारा नहीं है, मात्र ज्ञानधारा हैं और जो दया–दानसे धर्म मानें तथा शरीरकी क्रियासे धर्म मानें ऐसे मिथ्यादृष्टिको मात्र कर्मधारा है; वहाँ मिश्रधारा नहीं है। चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक मिश्रधर्म है, उसकी बात करते हैं।

मैं आत्मा अखण्डानन्द हूँ—ऐसी श्रद्धा एवं स्थिरता की, उतनी ज्ञानधारा है और जितना राग शेष रहा उतनी रागधारा है। आत्माके अवलम्बनसे आनन्दधारा होती है, परन्तु साधकको ज्ञानचेतना पूर्ण नहीं हुई है इतना रागभाव शेष है। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानवाले जीवोंको गुणकी अपूर्णता है इतना मिश्रभाव है, परन्तु मुख्य श्रद्धाभाव है। मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, एक रजकणका कर्ता–भोक्ता नहीं है तथा रागादिक वास्तवमें कर्ता–भोक्ता नहीं है, ऐसे श्रद्धा भावमें आनन्द है और ऐसी श्रद्धा होने पर भी केवलज्ञान न हो तबतक रागादि परिणाम होते हैं परन्तु वे गौण वर्तते हैं। रागादि हेयभावसे वर्तते हैं उनको व्यवहार मानकर वे मेरे स्वरूपमें नहीं हैं ऐसा कहा है।

श्री नियमसारकी टीकामें पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि—''मैं स्वर्गमें होऊँ अथवा चाहे जहाँ होऊँ तो हे प्रभु ! तेरे चरणकमलमें रहूँ'' उसका अर्थ ऐसा है कि—पुद्‌गलपरावर्तनके नियमानुसार बाहरकी चाहे जो अवस्था हो, मैं स्वर्गमें होऊँ या अन्यत्र जड़के चाहे जिस संयोगमें होऊँ, परन्तु उस समय मैं चिदानन्द आत्माकी दृष्टि बनाए रहूँ—यह मेरी

भावना है और यही तेरी भक्ति है। नरकमें होऊँ तब भी उस समय नरकके क्षेत्र, भव और अल्प राग जो वर्तते हों उनकी रुचि न रहकर मैं ज्ञानस्वभावी हूँ ऐसी श्रद्धा हुई है वह नित्य रहना। मुनिको नरकपर्याय नहीं होती परन्तु संयोगदृष्टि उड़ाते हैं। मैं संयोगमें नहीं हूँ, मैं शुद्धस्वभावी हूँ; इसप्रकार स्वभावकी मुख्यताका ध्येय होनेसे संयोग एवं पर्यायमें होनेवाले रागादिभाव गौण हैं, उनका आदर नहीं है। हे नाथ ! संयोग तो नहीं, परन्तु जो विकल्प उठते हैं, उनको गौण करता हूँ, उनका आदर नहीं करता परन्तु स्वभावका आदर करता हूँ—इसे साधककी मिश्रदशा कहते हैं।

किसी समय यदि रागकी मुख्यता हो जाए और अखण्डस्वभावकी मुख्यता न रहे तो उस जीवको मिश्रधर्म नहीं रहता और मिथ्यादृष्टि हो जाता है। शरीरादिकी अवस्था उसके कारण होती है। जो कुछ भी अशक्तिके कारण पुण्य–पापके परिणाम होते हैं उनको धर्मी मुख्य नहीं करते, परन्तु स्वभावको मुख्य करते हैं।

मैं अखण्ड चैतन्यस्वभावी हूँ—ऐसी पूर्णदशा पर्यायमें प्रगट नहीं हुई है किन्तु चेतनामें अपूर्ण दशा रही है, इसलिए उसे मिश्रभाव कहते हैं। यहाँ कर्मकी बात नहीं है। आत्मा और कर्म साथ हैं—ऐसी मिश्रकी बात नहीं है। कर्म तो जड़ है, पर है, उसके साथ आत्माका मिश्रपना नहीं हो सकता।

अंतरात्मा बारहवें गुणस्थान तक होता है, सर्वज्ञता प्रगट नहीं हुई तबतक अखण्ड धारा अथवा पूर्ण आत्मा नहीं है। अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान नहीं किन्तु अपूर्ण ज्ञान समझना। बारहवें गुणस्थानमें ज्ञान रुका हुआ है वह कर्मचेतना है। ज्ञानचेतना पूर्ण नहीं हुई है, इसलिए वहाँ मिश्रधारा है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है, निमित्त और विकारको गौण करके शुद्ध चैतन्यकी प्रतीति की तथापि पर्यायमें दया–दानादिके परिणाम हुए बिना नहीं रहते। राग और अल्पज्ञता है तबतक कार्य अपूर्ण है। अंतरमें स्थिरता

होकर ज्ञान हुआ उतनी ज्ञानधारा है। आत्मा अनन्त गुणके सामर्थ्यसे परिपूर्ण है—ऐसी प्रतीति हुई वह मुक्तिका कारण है, परन्तु जो रागादि परिणाम होते हैं वे मुक्तिका कारण नहीं हैं। ज्ञान ज्ञानमें पूर्णरूपसे स्थिर हुआ नहीं और रागादि मलिन परिणाममें लगा हुआ है वहाँ मलिनता बंधका कारण है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ—ऐसी प्रतीति और ज्ञान मुक्तिका कारण है। वह भव बाधा मिटानेका कारण है। भव बाधा मिटानेका सामर्थ्य आत्माकी यथार्थ प्रतीतिमें है। आत्मा परमात्मा है ऐसी प्रतीतिका होना वह मुक्तिका कारण है। बीचमें जो दया-दानादिकी वृत्तियाँ आए वह मलिनभाव है। उसे हटानेका सामर्थ्य श्रद्धामें है।

स्वयं परमात्मा न हो जाए तबतक अल्पज्ञता और राग-द्वेष वर्तते हैं, तबतक कर्मधारा है। आत्माकी प्रतीति होने पर भी रागादि परिणाम तथा अल्पज्ञता दूर करनेकी शक्ति मिश्रधारामें नहीं है। वहाँ कोई कर्मका कारण नहीं है। राग-द्वेष और अल्पज्ञता कर्मधारा है। धर्मीजीवकी धर्मदशा शुद्ध चिदानन्दकी प्रतीतिमें वर्तती है। पर्यायमें पूर्ण निर्मलता नहीं हुई है, अनिर्मलता वर्तती है, उसे अंतरात्मा अभी हटा नहीं सकता। पुरुषार्थ निर्बल है; यदि पुरुषार्थ बढ़ जाए तो वीतरागता एवं सर्वज्ञता प्रगट हुए बिना नहीं रहे। साधक जीवने प्रतीति तो बराबर की है। मेरी वस्तु चैतन्यज्योति है, दूसरी नहीं है। —ऐसा धर्मीने निर्णय कर लिया है। अंतरमें रागादि परिणाम हों वह अपराध है परन्तु त्रैकालिक स्वरूप नहीं है।

धर्मी जीवने प्रतीतिमें स्वरूपको बराबर समझा है, परन्तु अभी राग शेष है। पर्यायमें राग शेष नहीं है अथवा अल्पज्ञता बिलकुल नहीं है—ऐसा मिथ्याज्ञान करे तो वह व्यवहारका मिथ्याज्ञान किया कहा जाएँगा, तब वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। राग एवं अल्पज्ञता बाकी रहती है उसे आदरणीय माने और उससे निश्चय प्रगट होगा ऐसा माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि हो जाती है। आत्माकी प्रतीति हुई वह निश्चय है और जितना राग एवं अल्पज्ञता वर्तती है उसे जानना वह व्यवहार है।

श्री समयसार गाथा १२वीं की टीकामें कहा है कि—यदि निश्चयको छोड़ोगे तो तत्त्वका नाश हो जाएँगा और यदि व्यवहारका ज्ञान नहीं करोगे अर्थात् किस भूमिकामें कितना राग वर्तता है उसका ज्ञान नहीं करोगे तो मिथ्यादृष्टि हो जाओगे। जो अल्पज्ञतामें सर्वज्ञता माने और रागमें वीतरागता माने उसने तीर्थपना छोड़ दिया है। उसने व्यवहारको छोड़ा है। व्यवहारनय छोड़ना नहीं उसका अर्थ यह नहीं है कि शरीरादि परपदार्थोंकी क्रिया नहीं छोड़ना। पर पदार्थोंकी बात ही नहीं है। आत्मा पर पदार्थोंकी क्रिया कर नहीं सकता तथा छोड़ नहीं सकता। स्वरूपमें सम्पूर्ण स्थिर नहीं हुआ तबतक राग–द्वेषादिके परिणाम एवं अल्पज्ञता वर्तती है। चौथी, पाँचवीं, छठवीं आदि भूमिकामें जो–जो रागादि परिणाम वर्तते हैं उनको जानना वह व्यवहारनय है, उनको यथार्थ न जाने तो व्यवहारको उड़ा दिया कहा जाता है।

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति करके स्वरूपकी श्रद्धा की, परन्तु राग अनेक प्रकारका होता है और अनेक प्रकारकी ज्ञानकी तारतम्यता होती है उसे जानना वह व्यवहार है। पर्यायमें अशक्ति है—राग है उसे जानना वह व्यवहार है। उस व्यवहारको छोड़ना नहीं तथापि व्यवहार आदरणीय नहीं है । ग्यारहवीं गाथामें व्यवहारको अभूतार्थ कहा था, इसलिए बारहवीं गाथामें स्पष्टीकरण किया कि व्यवहारको अभूतार्थ कहा, परन्तु जानने जैसा है अवश्य। जानने जैसा नहीं है—ऐसा नहीं है। पर्यायका ज्ञान करके, स्वभावमें संसार नहीं है ऐसी दृष्टि करके लीनता करना वह धर्म है।

इसप्रकार निर्णय बराबर किया होने पर भी पर्यायमें अल्पज्ञान है, अल्पदर्शन है, अल्पचारित्र है, अल्पवीर्य है, अल्पआनन्द है—ऐसा पर्यायका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए, वह व्यवहार है।

मिश्रधारामें दो प्रकार वर्तते हैं। जितनी श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता की वह निश्चय है, तथापि जितना राग वर्तता है तथा ज्ञान–दर्शनकी हीनता वर्तती है, ज्ञान अनन्तवें भाग, दर्शन अनन्तवें भाग, आनन्द अनन्तवें भाग वर्तता है—ऐसा धर्मी जानता है—वह व्यवहार है।

अज्ञानी मानता है कि बाह्य पदार्थोंको छोड़ना वह व्यवहार है। वह मूढ़ है। बाह्य पदार्थोंको आत्मा छोड़ ही नहीं सकता। परपदार्थोंसे आत्मा भिन्न है और राग–द्वेष आत्माका स्वरूप नहीं है। —ऐसी प्रतीति करनेके पश्चात् रागादि परिणाम रहें उनका ज्ञान करना चाहिए।

पर्यायमें चारित्र नहीं होने पर भी चारित्र मान लेना वह भूल है। स्वभावके अवलम्बनसे शान्तिमें वृद्धि हो और राग कम हो जाए तब चारित्र होता है। मात्र २८ मूलगुणोंके विकल्पको व्यवहार नहीं कहते जिसे आत्मप्रतीति हो उसे व्यवहार होता है।

जड़की पर्याय ऐसी ही हो ऐसा आग्रह ज्ञानीको नहीं है; रागका भी आग्रह नहीं है। जिस प्रकारका राग आए उसे ज्ञान जानता है। मैं शुद्ध चैतन्य पूर्णानन्द हूँ, असंख्यप्रदेशी हूँ; शरीरप्रमाण क्षेत्र परिमित है फिर भी स्वभाव अपरिमित है। ऐसे स्वभावकी प्रतीति करके स्वरूपको बराबर समझा। श्रद्धा यथार्थ करने पर भी रागादि परिणाम वर्तते हैं और केवलज्ञान पूर्ण नहीं है ऐसा जानना चाहिए। जो राग उठता है वह भूमिकानुसार उठता है, वह स्वकाल है। कालभ्रमसे वे परिणाम होते हैं उनको जानना वह व्यवहार है, वह आदरणीय नहीं है। अखण्ड स्वभावको जानना वह निश्चय है—इसप्रकार दोनोंका ज्ञान करना वह प्रमाण है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यने श्री समयसारकी टीकामें स्पष्ट किया है कि व्यवहारनय जाना हुआ उस काल प्रयोजनवान है। चतुर्थवालेको दर्शनका क्षयोपशमभाव वर्तता हो तो क्षयोपशम जानना और क्षायिकभाव वर्तता हो तो क्षायिकभाव जानना। जैसा है वैसा जानना।

आत्माकी प्रतीति होने पर भी राग और अल्पज्ञता है, इसलिए उस दशाको मिश्रदशा कहते हैं। जो पर्याय जैसी है वैसी जानना। अल्प विकास हुआ हो उसे अधिक विकसित नहीं मानना और अधिक विकसित नहीं हुई इसलिए खेद नहीं करना।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५५में कहा है कि—''व्यवहारनय

स्वद्रव्य–परद्रव्य अथवा उनके भावोंको अथवा कारण–कार्यादिकको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हींका यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें मिलाता नहीं है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है इसलिए उसका श्रद्धान करना।''

प्रश्न :—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है उसका क्या कारण ?

उत्तर :—जिनमार्गमें किसी जगह तो निश्चयनयकी मुख्यतासहित व्याख्यान है उसे तो ''सत्यार्थ ऐसा ही है'' ऐसा जानना, तथा किसी जगह व्यवहारनयकी मुख्यतासहित व्याख्यान है उसे ''ऐसा नहीं है परन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है'' ऐसा जानना, और इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है, परन्तु दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर ''इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है,'' ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नय ग्रहण करना कहा नहीं है।

सर्व जीवोंको समान शक्तिरूपसे परमात्मा कहा है। निगोद पर्यायमें परमात्मदशा प्रगट नहीं है, वहाँ पर्याय अत्यन्त हीन है। जिस प्रकार तिलमें तल शक्तिरूपसे है, प्रगट नहीं है। तेल निकाले तब प्रगट होता है। तिलमें तेल मानकर पूड़ी तलना चाहे तो तिल और आटा दोनों बिगडेंगे। आत्मामें शक्तिरूपसे परमात्मा है ऐसा न मानकर पर्यायमें भी परमात्मा मान ले तो चार गतियोंमें परिभ्रमण करेगा। आत्माकी प्रतीति और लीनता करके जबतक परमात्मदशा प्रगट न हो तबतक पर्यायमें परमात्मपना नहीं मानना चाहिए, तथापि शक्तिरूपसे परमात्मा है ऐसा न माने तो पर्यायमें परमात्मा नहीं होगा। शक्तिसे केवलज्ञानरूप हूँ और पर्यायसे पामर हूँ, —ऐसा जानना चाहिए।

आत्मवस्तु है—ऐसी श्रद्धा एवं लीनता करके एकाग्र हो वह उपादेय है। यह उपादेय है, —ऐसा विकल्प वह उपादेय नहीं है और

जितना राग तथा अल्पज्ञता दूर होती जाती है उसे हेय कहते हैं, हेय करना नहीं पड़ता। हेयका ज्ञान व्यवहारनयका विषय है और उपादेयका ज्ञान वह निश्चयनयका विषय है।

आत्मामें ऐसा विश्वास हुआ कि मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ; —ऐसी दृढ़ प्रतीतिको कोई बदलनेमें समर्थ नहीं है। उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। वह श्रुतकेवली, केवली भगवान और तीर्थंकरके समीप होता है। बाहर संसारमें दिखाई देता हो तथापि धर्मीको चैतन्यज्योतिका विश्वास आया है, उससे डिगानेमें कोई समर्थ नहीं है, स्वयं उससे विमुख हो जाए ऐसा नहीं है। अखण्ड वस्तु आनन्दकन्द है, ऐसी प्रतीति हुई है उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं। पर्यायमें निर्मलता प्रगट की और निमित्तरूपसे कर्म नहीं रहा। अब, उसमें प्रश्न करते हैं—आत्मामें ऐसी प्रतीति आई कि वह उससे विमुख नहीं होगा और पूर्णदशा लेकर ही रहेगा—ऐसी श्रद्धावानको सम्यक्‌पना पूर्ण प्रगट हुआ है कि अपूर्ण है? यदि सम्यक् पूर्णभाव प्रगट हुआ हो तो सिद्ध हो जाना चाहिए क्योंकि एक गुण पूर्ण सम्यक् होने पर सर्वगुण पूर्ण सम्यक् हो जाते हैं और सिद्धदशा प्रगट होती है?

यहाँ मिश्र अधिकारकी बात ली है। आत्मा आनन्दका पिण्ड है, ऐसी क्षायिक प्रतीति की उसे सम्यक् गुण पूर्ण हो गया है, इसलिए सर्व गुण पूर्ण हो जाना चाहिए—ऐसी शंका शिष्य करता है। उसका कारण यह है कि सम्यक्‌गुण सबमें विस्तृत है। श्रद्धागुणकी दशा पूर्ण निर्मल हो गई वह सम्पूर्ण आत्मामें व्याप्त है, इसलिए सर्वगुण पूर्ण हो जाना चाहिए—ऐसी शंका शिष्य करता है।

श्रेणिक राजाको क्षायिक सम्यक्त्व हुआ है। वे नरकमें से निकलकर तीर्थंकर होगे। सर्वगुण वर्तमानमें पूर्ण नहीं हैं, जिससे शिष्य प्रश्न करता है कि सम्यग्दर्शन पूर्ण निर्मल हुआ है और आत्मामें विभुत्व नामका गुण है जिससे एक गुण सम्पूर्ण आत्मामें व्याप्त है, इसलिए सर्व गुण पूर्ण होना चाहिए।

समाधान :—क्षायिकसम्यक्त्व होने पर भी परम सम्यक्‌भाव नहीं हुआ है क्योंकि सर्व गुण पूर्णरूप नहीं हुए हैं। भरत चक्रवर्तीको घरमें वैरागी कहा, इसलिए घरमें मुनिपना है ऐसा उसका अर्थ नहीं है। क्षायिकसम्यक्त्व हुआ है परन्तु सर्व गुण निर्मल नहीं हुए हैं। शिष्यने प्रश्न किया था कि एक गुण पूर्ण निर्मल होने पर सर्व गुण पूर्ण निर्मल हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है।

यह सब समझना चाहिए। समझे बिना धर्म नहीं होता। क्षायिक सम्यक्त्व होने पर भी सर्व गुण सम्पूर्ण निर्मल नहीं हुए हैं, अंशतः निर्मल हुए हैं, इसलिए मिश्रधारा रही है—ऐसा यहाँ बतलाते हैं।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन—५५

फाल्गुन कृष्णा १, शुक्रवार दि० ३०-१-५३

इस अनुभवप्रकाश ग्रन्थमें मिश्रधर्मका अधिकार चलता है। आत्मामें जिस क्षण अनुभव अर्थात् धर्म प्रगट होता है उसी क्षण पूर्ण अनुभव नहीं होता। पूर्ण अनुभव तो केवलज्ञानमें होता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति और अनुभव वह धर्म है।

चौथे गुणस्थानसे लेकर जितनी शुद्ध दशा हुई उतना धर्म है और जितनी विकारी दशा रहे वह अधर्म है। जब तक पूर्ण दशा न हो तब तक दोनों भाव होते हैं उसे मिश्रदशा कहते हैं।

अब, इसमें प्रश्न उठाया कि :—आप कहते हैं कि सम्यग्दर्शनरूपी धर्म प्रगट होता है उसमें क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह क्षायिक सम्यक् गुण सर्वथा शुद्ध हुआ है या नहीं? यदि उसे सर्वथा सम्यक्त्व हुआ हो तो उसे सिद्ध कहना पड़ेगा, क्योंकि एक गुण सर्वथा सम्यक् हुआ होता तो सर्व गुण सम्यक् होने चाहिए, क्योंकि एक गुण सर्व गुणोंमें व्याप्त है, इसलिए क्षायिक सम्यग्दृष्टिको मिश्रपना नहीं रहता है।

क्षायिक सम्यक्त्व हुआ उस समय वह गुण सर्वथा सम्यक् हुआ हो तो अन्य गुण भी सर्वथा सम्यक् होने चाहिए, परन्तु ऐसा तो नहीं है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान पूर्ण नहीं हुआ है। एकदेश ज्ञान है इसलिए क्षायिकको सर्वथा सम्यक्पना मत कहो। उसमें किंचित् कचास रह गई है—ऐसा कहना पड़ेगा। अब उसे कचाश कहोगे अर्थात् किंचित् शुद्ध हुआ है—ऐसा कहोगे तो सम्यक् गुणको घातक मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधीका कर्म उसके होना चाहिए।

अब, क्षायिक सम्यग्दृष्टिको मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कर्मका

निमित्त तो होता नहीं है। यहाँ मिश्र अधिकार है, इसलिए यह बात ली है कि–सम्यक्‌गुण क्षायिक सम्यग्दृष्टिको पूर्ण है या अधूरा है—ऐसा प्रश्न किया है। उससे कहते हैं कि सम्यक्‌गुण वहाँ पूर्ण भी है और अपूर्ण भी है। उसे विवक्षा वश समझना पड़ेगा। उसका स्पष्टीकरण करते हैं।

वह आवरण तो गया परन्तु सर्व गुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए हैं। आवरण जानेसे सर्व गुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए, इसलिए परम सम्यक् नहीं है। यहाँ कहते हैं कि क्षायिक सम्यक्त्व होनेसे अन्य गुण तो परम सम्यक् नहीं है, परन्तु जो क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट हुआ वह भी परम सम्यक्त्व नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्यायमें अशुद्धता या अपूर्णता नहीं रही है परन्तु अन्य गुण सर्वथा शुद्ध नहीं हुए हैं, इसलिए क्षायिकको भी परम सम्यक्त्व नहीं कहते। जब सर्वगुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध सम्यक्‌रूप हो तब परम सम्यक्त्व ऐसा नाम प्राप्त करता है। विवक्षा प्रमाणसे कथन प्रमाण है। सम्यग्दर्शन हुआ इसलिए प्रतिमा लेना ही चाहिए—ऐसा कोई कहे तो वह मिश्रधर्मको समझता नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि क्षायिकसम्यक्त्व हुआ हो तथापि गुण निर्मल नहीं होते, इसलिए परम सम्यक्त्व नहीं है; परन्तु वह परम सम्यक्त्व नहीं है इसलिए क्षायिक सम्यग्दर्शनमें कोई मलिनता, अशुद्धता या न्यूनता है—ऐसा नहीं है। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो निर्मल हुआ सो हुआ। आगे गुणस्थान चढ़ने पर क्षायिक सम्यक्त्व विशेष निर्मल होता है ऐसा नहीं है, क्योंकि उसमें कोई अशुद्धता नहीं रही है कि शुद्धतामें वृद्धि हो, परन्तु अन्य गुण शुद्ध नहीं हुए हैं, इसलिए वह परम सम्यक्त्व नाम नहीं पाता—ऐसा कहते हैं।

किसीको सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रगट होता है और किसीको सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् लाखों–करोड़ों वर्ष तक पाँचवें गुणस्थानकी दशा भी नहीं होती, क्योंकि क्षायिकसम्यग्दर्शन हुआ इसलिए कहीं सर्वगुण शुद्ध होते हैं—ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टिको शक्तिके

प्रमाणमें तप-त्यागादि होते हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखकर सम्यग्दृष्टिको त्याग होता है। ऐसा वीतरागका मार्ग है।

क्षायिक सम्यग्दर्शनमें आवरण नहीं रहा है, इसलिए वह पूर्ण निर्मल है, तथापि चारित्रगुण पूर्ण निर्मल नहीं है, इसलिए परम सम्यक्त्व नहीं है, —ऐसा कहा है। धर्मी अपने परिणाम देखकर प्रतिज्ञा लेता है, परन्तु हठपूर्वक प्रतिज्ञा लेना ऐसा वीतरागका मार्ग नहीं है। सम्यग्दृष्टि समझता है कि मेरे परिणाममें शिथिलता है, राग है। अंतरमें दृढ़ता आए अथवा प्राण छूट जाए परन्तु प्रतिज्ञा न टूटे ऐसे परिणाम होने चाहिए।

दर्शनगुणमें क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेसे कोई अपूर्णता नहीं रही है, तथापि वहाँ सर्वगुण पूर्ण नहीं हुए हैं, इसलिए मिश्रधर्म है—ऐसा कहा है।

बारहवें गुणस्थान तक मिश्रदशा होती है, इसलिए वहाँ धर्म पूर्ण नहीं हुआ है। सम्यग्दर्शन पूर्ण है परन्तु अन्य गुण पूर्ण नहीं हुए हैं, इसलिए मिश्रधर्म कहा है।

ज्ञानीको आत्मामें विभाव होता है वह अपने कारण होता है ऐसा वह मानता है। अज्ञानी निमित्तसे वे भाव होते हैं ऐसा मानकर स्वच्छंदी होता है, उसे मिथ्यात्वका नाश नहीं होता। विभाव आत्मामें अपने कारण होता है, ऐसा मानकर वह अपना स्वभावभाव है ऐसा माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। विभावभाव पर्यायमें अपने कारण होता है कर्मके कारण नहीं होता, परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है ऐसा ज्ञानी मानता है, इसलिए उसके नाशका पुरुषार्थ करता है।

राजमल्लजी कृत श्री समयसार कलश-टीकामें कहा है कि जो कोई जीव ऐसा मानते हैं कि आत्माकी पर्यायमें रागादि होते हैं वे कर्मके कारण होते हैं वे मिथ्यादृष्टि-अनन्त संसारी हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टिको भी जो रागादि परिणति है वह चारित्रमोहकर्मकी प्रबलताके कारण है—ऐसा भी नहीं है। यहाँ मिश्रधर्मकी बात कही है। चारित्र पूर्ण नहीं है इसलिए सम्यक्त्वगुणमें कोई कमी है-ऐसा नहीं है।

चेतन–अचेतनकी भिन्न प्रतीतिसे सम्यक्त्वगुण निजजातिरूप परिणमित हुआ है अर्थात् मैं चेतन ज्ञायकमूर्ति हूँ, अचेतन मैं नहीं हूँ। अपनी जैसी जाति है तदनुसार परिणमित हुआ है। उसका लक्षण ज्ञानगुण अनंत शक्तिके कारण विकाररूप हो रहा है। उस गुणकी अनन्तशक्तिमें कितनी शक्ति प्रगट हुई उसे मति–श्रुतज्ञान कहा जाता है। आत्माका लक्षण ज्ञान है, वह ज्ञानशक्ति विकाररूप हो रही थी, उसे सामान्यसे मति–श्रुतकी पर्यायको सम्यक् कहा जाता है। जाति अपेक्षासे सम्यक् हुआ परन्तु ज्ञानगुण पूर्ण निर्मलताको प्राप्त नहीं हुआ। स्वसंवेदन हुआ इसलिए उस ज्ञानको भावश्रुतज्ञान कहा जाता है। वह ज्ञान जघन्य है, पूर्ण नहीं है, क्योंकि अभी ज्ञान बहुत बाकी रहा है, इसलिए उसे अज्ञानपना कहते हैं। इतना ज्ञानका अभाव है, इसलिए विकाररूप कहकर अज्ञानभाव कहा है।

धर्म होता है उस समय अधर्म भी होता है, —उसकी बात चलती है। यदि अंशतः धर्म प्रगट होने पर तुरन्त ही पूर्णता होती हो, तो साधकदशा और मिश्रधर्मको वह समझता नहीं है। ज्ञानमें पूर्ण दशा नहीं है, अल्पज्ञता है, उसे विकारशक्ति कहा है, और उस विकार शक्तिको यहाँ कर्मधारा कहा है। यहाँ आवरणरूप जो कर्म है उसकी बात नहीं है, क्योंकि वह तो जड़ है; परन्तु आत्माकी पर्यायमें जितनी कमी है—न्यूनता है उसे कर्मधारा कहते हैं।

यह कर्मधारा अपने कारण रही है। जितनी ज्ञानशक्ति निर्मल हुई है—उतनी तो सम्यग्ज्ञान धारा है। उन दो धाराओंको मिश्रधारा कहते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टिको कर्मका तीव्र उदय है, इसलिए चारित्रदशा नहीं है—ऐसा नहीं है। इसप्रकार ज्ञानमें जितनी अपूर्णता है वह सब ज्ञानशक्ति पूर्णरूप नहीं हुई है इसलिए है, किन्तु कर्मावरणके कारण है—ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन क्षायिक हुआ है परन्तु अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है; यही दो धाराएँ बतलाते हैं। इसप्रकार ज्ञान और सम्यग्दर्शन मिलाकर बात कही है।

अब कहते हैं, जिसप्रकार ज्ञानकी बात कही उसीप्रकार जीवकी दर्शनशक्ति अदर्शनरूप है—यह सामान्य उपयोगरूप दर्शनशक्तिकी बात है, सम्यग्दर्शनकी बात नहीं है, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शनमें तो पूर्ण निर्मल दशा है। उस समय दर्शनशक्ति सामान्य उपयोगरूप पूर्ण नहीं है—पूर्ण निर्मल नहीं है, इसलिए जितनी शक्ति बाकी है उतनी अदर्शनरूप है—इसप्रकार चारित्रगुणकी कुछ शक्ति चारित्ररूप तथा कुछ शक्ति अन्य विकाररूप है। चारित्रगुणकी पर्याय विकाररूप है वह अपने कारण रही है, कर्मके कारण नहीं रही—ऐसा कहना चाहते हैं। इसलिए मिश्रदशारूप धर्म होता है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–५६

फाल्गुन कृष्णा २, शनिवार दि० ३१-१-५३

❋ मिश्रधर्म–अधिकार ❋

आत्मामें भेदज्ञानपूर्वक स्वका अवलम्बन लेकर जो आत्माका धर्म हो वह अनुभवप्रकाश है। उस समय चारित्रगुणकी मिश्रदशा होनेके कारण अंशतः निर्मलता और अंशतः मलिनता है। वह मलिनता कर्मके कारण नहीं है। निमित्तसे मैं पर हूँ—ऐसी जिसे खबर नहीं है उसे विकार रहित हूँ ऐसी प्रतीति नहीं होती। आत्मज्ञान यथार्थ होनेके बाद अभी पूर्णदशा नहीं हुई है। उस समय ज्ञान, चारित्र, योग आदि गुणोंकी शक्ति प्रगटरूप पूर्ण नहीं है। यद्यपि श्रद्धागुण तो पूर्ण प्रगट हुआ है, तथापि अन्य गुण पूर्ण नहीं हुए हैं—यह मिश्रभाव है।

आत्माके जितने गुण निर्मल हुए हैं वे इतने शुद्ध हैं और जितना विकार भाव है जिन–जिन गुणोंमें है उतनी अशुद्धता है। सम्यग्दर्शन होने पर भी अनुभव पूर्ण नहीं होता। निचलीदशामें मिश्रभावरूपी धर्म है। ऐसा होने पर भी प्रतीतिरूप धर्ममें सर्व शुद्ध श्रद्धाभाव हुआ है। अभी ज्ञानमें अल्पता है, इसलिए मिश्रभाव है। आत्माको निमित्त और रागसे पृथक् करके स्वभावमें एकत्वरूप श्रद्धाभाव किया है, परन्तु अन्य गुणोंकी अपूर्णता है, इतनी कचास है, वह भाव आवरण है; उसे मिश्रधर्म कहते हैं।

स्वसंवेदन है परन्तु सर्व प्रत्यक्ष संवेदन नहीं है। आत्माका अनुभव तो है, परन्तु पर्यायको प्रत्यक्ष जाने ऐसा पूर्ण ज्ञान अभी नहीं हुआ है। जब सर्वथा आवरणरहित होते हैं तब सर्व प्रत्यक्ष होते हैं और सर्व कर्मअंश जाते ही वे शुद्ध होते हैं,—ऐसा कहा है। अघातिकर्म होने पर भी केवलज्ञान शुद्ध है, क्योंकि घातियाकर्मके नाशसे वे सकल परमात्मा हुए हैं। उनको सर्वप्रत्यक्ष ज्ञान है, वहाँ मिश्रभाव नहीं रहा है।

जो सम्यग्दृष्टि दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रगट करते हैं, उनको भी अन्तर्मुहूर्त तो मिश्रभाव रहता है और उसका नाश करते हैं तब सकल परमात्मा होते हैं।—वे शरीर सहित परमात्मा हैं उनकी बात कही। अब सिद्ध परमात्माकी बात करते हैं।

सिद्ध सकल कर्मरहित परमात्मा हैं। अंतरात्माको ज्ञानधारा और रागधारा दोनों हैं—ऐसा यदि आप कहते हो तो उसमें प्रश्न उठता है कि बारहवें गुणस्थानमें दो धाराएँ हैं या एक ज्ञानधारा ही है? यदि ज्ञानधारा ही है तो उसे अंतरात्मा मत कहो और यदि वहाँ दोनों धाराएँ हैं ऐसा कहते हो तो बारहवें मोह क्षय हुआ है, तब कर्मधारा कहाँ रही? अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें तो वीतरागदशा हो गई है, तो अब वहाँ अपूर्णता कैसी रही है?

समाधान :—बारहवें गुणस्थानमें अभी केवलज्ञानको आवरण है, इस अपेक्षासे वह अंतरात्मा है। अर्थात् अज्ञानभाव बारहवें बारहवें तक है, इसलिए वहाँ मिश्रभाव और अंतरात्मा कहा है । प्रत्यक्ष ज्ञानके सिवा परमात्मा नहीं कहा जा सकता। बारहवें गुणस्थानमें कषायभावका नाश होने पर भी ज्ञानकी पूर्णता नहीं हुई इतना अज्ञानपना रहा है, इसलिए वहाँ मिश्रदशा है; तो कहते हैं कि वहाँ अज्ञान कैसा है? उसका समाधान :—केवलज्ञानके बिना सकल पर्यायें भासित नहीं होती यही अज्ञान और निज प्रत्यक्षज्ञानके बिना ही वहाँ अज्ञान है, अर्थात् अपने गुण–पर्याय प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए भी वहाँ अज्ञान नाम पाता है। वहाँ विपरीत ज्ञान इसलिए अज्ञान है ऐसा नहीं है। प्रत्यक्षज्ञानकी अपेक्षासे वहाँ अज्ञान कहा है। इसप्रकार मिश्र अधिकार हुआ।

थोड़ी निर्मलता और थोड़ी मलिनता साधकदशामें होती है। यदि ऐसा नहीं हो तो सम्यग्दर्शन होते ही केवलज्ञान हो जाए, परन्तु ऐसा क्रम नहीं है। पर्यायका धर्म ऐसा है कि सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् मिश्रदशा कमसे कम अन्तर्मुहूर्त तो रहती ही है; इसलिए इस अधिकारका वर्णन किया।

❋ निश्चय वस्तुस्वरूप ❋

देखो, अब न्याय कहते हैं। वस्तुका जैसा सच्चा स्वरूप है उसका वर्णन करते हैं। वास्तवमें वस्तु अनन्त गुणमय है; उसमें दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रधान हैं। आत्मामें अनन्तगुण होने पर भी उसमें जानना, देखना और परिणमना—इन तीनके कारण आत्मामें वेदन–अनुभव होता है। यहाँ परिणमना.....अर्थात् चारित्रकी पर्यायकी बात है और ज्ञान वह आत्मा है। जाना, देखा और स्थिर हुआ अर्थात् अनुभव हुआ। यह अनुभवप्रकाशकी बात है। वह अनुभव कैसे हो? तो कहते हैं कि ज्ञान–दर्शन–चारित्रकी एकता होनेसे रसास्वादरूप अनुभव होता है।

वस्तु अनन्तगुणका पिण्ड है। परसे तो वस्तु ज्ञात नहीं होती किन्तु विकार या आत्माके अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुणभेदसे भी वस्तु ज्ञात नहीं होती। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञान–दर्शन लक्षण द्वारा जानने–देखनेके परिणमनसे आत्माका वेदन होता है। यह वस्तु है ऐसा निर्णय कौन करता है? कि—आत्मामें देखने–जाननेरूप परिणमनसे वह वेदन होता है। जिसे निमित्तकी रुचि है वह निमित्तसे पृथक् होनेका पुरुषार्थ नहीं करता।

जो परसे पृथक् हुआ नहीं है और रागसे पृथक् नहीं होता, उसे आत्मामें एकत्वभाव प्रगट नहीं होता। चेतनकी चेतना जाननेमें आए वहाँ सुख प्रगट होता है।

आत्माका वेदन कैसे हो? तो कहते हैं कि कहीं निमित्त और रागमें प्रेम करनेसे वह नहीं होगा, परन्तु चेतनकी चेतना है वह ज्ञान–दर्शन द्वारा ही ख्यालमें आती है। आत्मा परसे तो नहीं परन्तु ज्ञान–दर्शन द्वारा ही ख्यालमें आता है। आत्मा परसे तो नहीं परन्तु ज्ञानके सिवा अन्य गुणोंसे भी ख्यालमें नहीं आता। चेतना द्वारा चेतनसत्ताका निर्णय हुआ; जब ज्ञानमें चेतना ख्यालमें आईं तब चेतनसत्ता है ऐसा निर्णय हुआ। जानने–देखनेवाली वस्तु है, उसके द्वारा सुखका अंश प्रगट हुआ तब चेतनसत्ताका निर्णय हुआ।

आत्मा चेतनसत्तामय है। प्रयोजनभूत क्रिया द्वारा चेतनका वस्तुत्व निश्चित् हुआ; उसके अनन्त गुण परिणमते हैं वह चेतनका द्रव्यत्व है, जाननेमें आता है वह चेतनका प्रमेयत्व है। ऐसी वस्तु है उसका विश्वास किस प्रकार हो? जानने-देखनेके द्वारा चेतनसत्ताका निर्णय होने पर चेतनवस्तुत्व, चेतनद्रव्यत्व, प्रमेयत्वका निर्णय हुआ, प्रदेशत्वको जाना। यह वस्तु ऐसी ही है—ऐसा निर्णय हुआ। दर्शन, ज्ञान और चारित्र जीववस्तुका सर्वस्व है ऐसा कहा है।

अनुभव तो पर्याय है। वह पर्याय दर्शन-ज्ञान और चारित्रकी है। पदार्थका निर्णय परसे तो होता नहीं है, परन्तु व्यवहाररत्नत्रयसे भी वह निर्णय नहीं होता। चैतन्य अखण्ड वस्तु है, उसमें पर्यायके भीतर जितना राग है उसे व्यवहार कहा है। उसके द्वारा निश्चय अखण्ड द्रव्यका निर्णय नहीं होता। दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पर्यायके सिवा अन्य गुणोंसे भी वस्तुका निर्णय नहीं होता वह सिद्ध किया है।

जानने-देखनेमें स्थिरता हुई उसका नाम अनुभव है, वही धर्म है। उसे सामायिक कहो, या प्रौषधतप कहो, उसके सिवा यथार्थ सामायिक-प्रौषध आदि कुछ नहीं होता। द्रव्य अवस्थित है। सत्‌द्रव्य है ऐसे ही सत्‌गुण है और उसीप्रकार सत्‌पर्याय भी है। आत्मवस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायसे अखण्ड चेतनारूप अनादि-अनन्त वर्तती है। ऐसा शुद्धस्वभाव होने पर भी अनादिसे कर्मके निमित्तसे पर्यायमें अशुद्ध हो रहा है। अज्ञानीको सुखस्वभावकी खबर नहीं है, फिर भी स्वभावसे तो वह भी शुद्धस्वरूप ही है।

देखो, यहाँ चेतनाकी बात कही है। वह चेतना कैसे प्राप्त हो? उसकी बात करते हैं। किसीने एक ज्ञानवान पुरुषसे पूछा कि—हमें शुद्धचेतनकी प्राप्तिका मार्ग बतलाइए। चेतना अपनेमें है उसकी जिसे खबर नहीं है वह दूसरेके पास जाता है। उससे उन पुरुषने कहा कि अमुक पुरुषके पास जाओ। वह दूसरा पुरुष उसे मगरमच्छके पास भेजता है और कहता है कि वह मच्छ तुम्हें शुद्ध चैतन्यकी प्राप्ति कराएगा। वह पुरुष

मच्छके पास गया और कहा कि मुझे शुद्धचैतन्यकी प्राप्ति कराईए। देखो, अज्ञानी निमित्तमें तथा रागमें आत्माका कल्याण हो जाएगा–ऐसा मानता है, और जगह–जगह शुद्धकी प्राप्तिके लिए भटकता रहता है। उससे मच्छने कहा कि मेरा एक काम कर दो तो मैं भी तुम्हारा काम कर दूँगा। उस पुरुषने कहा कि मैं तुम्हारा काम अवश्य कर दूँगा, आप चिन्ता न करो। तब उस मच्छने कहा कि मैंने इस समुद्रमें बहुत काल व्यतीत किया है, किन्तु प्यासा हूँ, मुझे अभी तक पानी नहीं मिला। इसलिए आप मुझे पानी पिला दीजिए जिससे मेरी प्यास मिट जाए। महान पुरुषोंका काम है कि सबका उपकार करें। प्यास बुझते ही मैं आपको चिदानन्दकी प्रत्यक्ष प्राप्ति करा दूँगा। यह सुनकर वह पुरुष बोला कि आप तो अगाध पानीमें ही रहते हैं और मुझसे पानी पिलानेके लिए कह रहे हो! बड़े आश्चर्यकी बात है! तब मच्छने कहा कि मैं पानीमें हूँ ऐसा तुम मानते हो, तब तुम भी प्रत्यक्ष सच्चिदानन्द हो। आपमें चेतना है तब आपने ऐसा विचार किया है। अब, आप मेरे पास जिस कार्यके लिए आए हो वह तो आप स्वयं ही है; आप स्वयं चिदानन्द हंस हो। जिसप्रकार हंस दूध और पानीको पृथक् करता है, उसीप्रकार राग एवं विकारसे रहित परमेश्वर आप ही हो, आप स्वयं चिदानन्द हंस हो। आप राग और विकारसे रहित परमेश्वर हो, इसलिए शंकाको छोड़िए और ज्ञाता–द्रष्टास्वभावी हुं ऐसा निःशंक अनुभव करो। अनादिसे परसंगमें रहकर भी आत्मा तो ज्योंका त्यों है, वह राग–द्वेष लिप्त हो गया है परन्तु जानने–देखनेका स्वभाव कहीं गया नहीं है, राग–द्वेषमें एकाग्र होनेसे ढँक गया है, उसका परिणमन अन्यथा नहीं हुआ है अर्थात् स्वभावरूप परिणमनकी योग्यताका अभाव नहीं हुआ है। पर्यायमें मलिनता हुई है परन्तु चिदानन्दस्वभाव तो अनादिसे ज्योंका त्यों है।

एकेन्द्रियमें भी स्व–पर प्रकाशक स्वभाव ज्योंका त्यों है, किंचित् भी न्यूनाधिक नहीं हुआ है। अनन्तकालसे संसार दशा है, इसलिए स्वभाव घट गया हो ऐसा नहीं है। दीर्घकाल पूर्व मोक्ष हुआ है, इसलिए उनका द्रव्य कम हो गया हो या बढ़ गया हो ऐसा नहीं है। मात्र भ्रमसे–

कल्पनासे अपने स्वरूपको भूल गया है और परको अपना मान रहा है परन्तु उससे त्रैकालिक ज्ञायक अखण्ड चेतनामय स्वभावमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, इसलिए उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करना वह अनुभव-प्रकाश है।

प्रवचन–५७

फाल्गुन कृष्णा ३, रविवार दि० १-२-५३

यह अनुभवप्रकाश ग्रन्थ है। आत्माको परद्रव्यसे भिन्न जानने पर स्वभावसन्मुख दृष्टि हो, तब धर्म होता है।

प्रथम दृष्टान्त देते हैं :—जिसप्रकार हाथमें लिए हुए चिन्तामणिको भूल जाए और काँचको रत्न माने तो वह रत्न नहीं हो जाएँगा और चिन्तामणिको काँच जाने तो वह काँच नहीं हो जाएँगा और उसका चिन्तामणिपना चला नहीं जाएँगा। वैसे ही अज्ञानी जीव आत्माको शरीर, कर्म आदि पररूप जाने उससे आत्मा पररूप नहीं हो जाता। शरीर, मन, वाणीकी क्रिया स्वयं करता है ऐसा माने तो परके ऊपर दृष्टि रहती है तथापि आत्मा अपना स्वभाव कभी छोड़ता नहीं है, अपना प्रमाण–स्वरूप नहीं छोड़ता। प्रमाण अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी सीमाको नहीं छोड़ता कोई द्रव्य अपने प्रदेशको कभी नहीं छोड़ता। आत्मा भी अपने असंख्यप्रदेशको कभी नहीं छोड़ता, परको अपना माने इसलिए पर अपना नहीं होता और स्वयं पररूप नहीं हो जाता।

संसारदशा हो या सिद्धदशा हो,—कोई द्रव्य अपनी सीमाको लाँघकर परमें नहीं जाता। द्रव्य, क्षेत्र, भाव त्रिकाल है और काल अर्थात् संसारदशा अथवा सिद्धदशा जो भी हो उसे जीव छोड़ता नहीं है। सर्व पदार्थ अन्य द्रव्यके बाहर लोटते हैं। निगोद दशा हो अथवा साधक दशा हो या सिद्ध दशा हो—प्रतिसमय द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है। गुण–पर्यायका पिण्ड वह द्रव्य है, अवगाहन अपना क्षेत्र है, अपनी समय–समयकी अवस्था वह काल है और शक्तियाँ वह भाव है।

आत्मामें परके कारण विलक्षणता नहीं होती। आजके कोई पण्डित परके कारण विलक्षणता होना कहते हैं। जैसे कि :—स्मशानमें अकेला मनुष्य जाए तो डर लगता है और दो मनुष्य साथ जाए तो थोड़ा कम डर

लगता है और हाथमें हाथियार लेकर जाए तो उससे भी कम डर लगता है; देखो निमित्तका प्रभाव!—ऐसा अज्ञानी जीव कहते हैं। इसप्रकार संयोगको अनुकूल-प्रतिकूल माननेवाले संयोगमें एकताबुद्धि द्वारा विपरीत प्ररूपणा करते हैं। वहाँ संयोगानुसार डर नहीं है परन्तु अपनी योग्यतानुसार डर लगता है, निमित्तके कारण फेर नहीं पड़ता। मुर्देके पास अथवा स्मशानमें चींटी आदि जीव होते हैं उनको डर नहीं लगता। इसलिए निमित्तका प्रभाव उपादान पर किंचित् भी नहीं होता। प्रत्येक जीवको भय लगता है वह अपने कारण लगता है, परके कारण नहीं। संज्ञी जीवको ज्ञान अधिक है, इसलिए भय है? नहीं, वह भय भी अपने कारण है।

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपनेमें है। निश्चयसे वस्तु अपनेमें ही है, इसलिए अपनी वस्तुकी श्रद्धा करो। पर्यायमें स्वतंत्र, गुणमें स्वतंत्र और द्रव्यमें स्वतंत्र है। किसीकी स्वतंत्रता कोई लूटता नहीं है। आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिण्ड है। अपना स्वभाव कहीं गया नहीं है—ऐसा विचारे तो शान्ति प्राप्त हो। मोक्षमार्गरूप उपायसे मोक्षरूपी उपेय प्राप्त करे। उपेय क्या है? आत्माकी पूर्णदशा हो वह उपेय है। संसार दशामें जड़कर्म और शरीरमें आत्मा गुप्त है और परकी भावनासे दुःख प्राप्त किया है। स्वभावसे च्युत होनेके कारण अपने ज्ञायकस्वभावको अर्थात् परमेश्वर पदको प्राप्त नहीं हुआ। उसका उपाय हो तो उपेयको प्राप्त करें। मोक्षका अथवा परमेश्वरपद प्रगट करनेका उपाय कहते हैं। उपयोगको परोन्मुख किया है उसे स्वोन्मुख करना है। यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करे उसे स्वोन्मुख किया कहा जाता है।

अपनेसे जो भूल हुई है वह अपनेसे सुधरती है। शुद्धउपयोग एक ही उपाय है। व्रत, तप, संयमादि करे वह शुभभाव पुण्यका उपाय है, वह मोक्षका उपाय नहीं है किन्तु बंधका उपाय है। परसे अर्थात् निमित्तसे तथा संयोगसे उपयोग हटा, इसलिए स्वसन्मुख हुआ। सम्यग्दर्शन भी शुद्ध उपयोगमें प्रगट होता है, उसका फल मोक्ष है।

तथा ग्रन्थका उपदेश भी निमित्तकारण कहा है। वीतरागकी वाणी

निमित्तकारण है। यहाँ ग्रन्थ–पठन नहीं कहा है, ज्ञानी पुरुषोंका उपदेश निमित्तकारण है। आत्माके शुद्ध उपयोगसे शुद्धता होती है, वहाँ उपदेश निमित्त है। स्वरूपकी ओर अनुभवकी एकदेश शुद्धता चढ़ती जाए, तदनुसार मोक्षमार्गमें चढ़ते हैं, परन्तु शुभभावके कारण मोक्षमार्गमें नहीं चढ़ा जाता।—ऐसा जिनेन्द्र भगवानका निराबाध उपदेश है। स्वयं आत्माके आधारसे शुद्धोपयोग करके, स्वभावोन्मुख हो तो वाणी आदिको निमित्त कहा जाता है। मैं ज्ञानानन्द हूँ—ऐसी दृष्टि करे तो स्वसन्मुख हो। आत्मोपयोगसे समाधि होती है तब साक्षात् शिवपंथ सुगम होता है। इसप्रकार अनेक संत पुरुष स्वरूपसमाधि धारण कर–करके पार हुए। अब समाधिका वर्णन करते हैं।

❋ समाधि–वर्णन ❋

समाधि किसे होती है? संकल्प–विकल्प आधि है, बाह्यसंयोग वह उपाधि है और शरीरमें रोग वह व्याधि है।—इन तीनों रहित होकर स्वभावमें स्थिरता करना वह समाधि है। समाधि ध्यान होने पर होती है, और ध्यान चिन्तानिरोध करनेसे होता है और राग–द्वेष मिटानेसे चिन्तानिरोध होता है तथा इष्ट–अनिष्ट समाज मिटानेसे राग–द्वेष मिटते हैं; परन्तु यह सब सत्समागमके निमित्तसे समझमें आता है। समझे बिना एकान्तमें बैठ जाए तो कुछ नहीं होगा। कोई पूछे कि परद्रव्यसे लाभ नहीं होता, तब फिर सत्समागमका क्या काम है? तो कहते हैं कि जिसे स्वभाव समझनेकी उत्कंठा है उसे सत्समागमका विकल्प आए बिना नहीं रहेगा।

जिसकी मान्यता मिथ्या है वह बाह्यपदार्थोंको छोड़ना चाहता है। रागके निमित्त इष्ट समाज है और द्वेषके निमित्त अनिष्ट समाज है। परन्तु वास्तवमें वे इष्ट–अनिष्ट नहीं हैं, परन्तु ज्ञानका ज्ञेय हैं। इष्ट–अनिष्टपना वस्तुमें नहीं है। इष्ट–अनिष्टपनेकी दृष्टि छूटने पर उसके निमित्तपनेकी जो कल्पना की थी वह मिट जाती है और राग–द्वेष दूर हो जाते हैं।

बाहर एकान्तमें जाओ–ऐसा कहा हो, तो वहाँ कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि बाहरका एकान्त वातावरण लाभ करेगा, परन्तु स्वभावकी

श्रद्धा, ज्ञान और लीनतारूपी आन्तरिक एकान्त प्रगट हो वह लाभका कारण है और उस समय एकान्तसंयोग हो तो संयोगका ज्ञान करानेके लिए कहा है।

जो जीव समाधिका इच्छुक हो वह इष्ट–अनिष्टका समागम मिटा देता है—वह निमित्तका कथन है। चरणानुयोगके कथनमें सामायिककी विधिमें अमुक रीतिसे बैठना आदि कथन आता है; वहाँ कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा जड़की क्रिया कर सकता है, परन्तु सामायिक कालमें उस प्रकारके विकल्प आते हैं उनका ज्ञान कराया है।

यहाँ निमित्तकी ओरका लक्ष छुड़ानेके लिए कहा है कि इष्ट–अनिष्टका समागम मिटा दे। निमित्तको हटानेकी बात नहीं है और उसे प्राप्त करनेकी भी बात नहीं है। स्वयं निमित्तकी ओरका उपयोग हटाया वहाँ निमित्त हटाया ऐसा कहते हैं। तत्त्वज्ञानपूर्वक परका त्याग करना उसका अर्थ यह है कि परके ओरकी आसक्ति छूटी, इसलिए राग छूटा। तथा जिसे उद्दिष्ट आहारकी ओरका राग नहीं छूटा उसके उद्दिष्ट आहार नहीं छूटा है—ऐसा कहा जाता है परन्तु उससे परद्रव्यके ग्रहण–त्यागकी बात नहीं है।

तथा राग–द्वेष छोड़नेकी बात भी व्यवहारसे है। स्वभावमें एकाग्रता होने पर विकल्प छूट जाते हैं और निमित्तका लक्ष छूट जाता है उसने राग–द्वेष छोड़ दिए कहा जाता है। चिन्ताके लक्षसे चिन्ता नहीं छूटती परन्तु स्वभावमें एकाग्र होने पर चिन्ता उत्पन्न नहीं होती।

अपने ध्रुवस्वभावमें एकाग्र होकर निजानन्दकी भेंट होना वह मुक्तिका कारण है। राग–द्वेषके आश्रयसे वीतरागता नहीं होती, अपने स्वरूपमें एकाग्रता करनेसे ज्ञानभाव होता है और समाधि उत्पन्न होती है उस समय विकल्प छूट जाता है। जड़ मनको अपनेमें लीन नहीं करना है, ज्ञानपर्यायको अपनेमें लीन करता है, उस कथनको स्वरूपमें मन लीन करता है—ऐसा कहा है। स्वद्रव्य गुण–पर्यायमें परिणाम लीन हों उसे समाधि कहते हैं।

प्रवचन–५८

फाल्गुन कृष्णा ३ सोमवार, दि० २-२-५३

❋ समाधि–वर्णन ❋

आत्माके स्वरूपमें एकता होना उसका नाम समाधि है। स्वभाव ज्ञायक है, उसमें लीनता होना वह मोक्षमार्ग है। अथवा सर्वथा अन्तर्मुख दृष्टि करके एकाग्र होना वह समाधि है। शरीरादिकी क्रिया जड़ है और पुण्य–पापके परिणाम तो विकार है, आत्मा शुद्धचैतन्य है, उसकी दृष्टिपूर्वक स्थिरता होना वह समाधि है।

आत्मानन्दके समक्ष इन्द्रादिकी सम्पदा रोग समान लगती है। धर्मीको इन्द्रके भोगका अनुभव भी दुःखरूप लगता है। आत्माकी प्रीतिमें इन्द्रके भोगकी वेदना आकुलता लगती है, वहाँ अनुकूलता नहीं लगती। आत्मा त्रिकाल ध्रुव शुद्ध निर्मलानन्द है, उसके आश्रयसे जो आनन्द प्रगट होता है उसमें पुण्य–पापकी रुचि तो नहीं है परन्तु उसके फलकी भी रुचि धर्मीको नहीं होती। आत्मा ज्ञायक है, उसकी रुचि होने पर स्वभावमेंसे आनन्द ही प्रवाहित होता है–द्रवित होता है। द्रव्य स्वयं द्रवता है–बहता है। जिसे पर्यायबुद्धि छूट गई है और द्रव्यबुद्धि हुई है वह सचमुच अपने स्वभावको द्रवता है, उसे यथार्थमें द्रव्य कहते हैं। विकारको द्रवे वह आत्मद्रव्य नहीं—ऐसा कहते हैं।

जैसे पानीका बर्फ होता है उसमेंसे पानी बहता है, उसीप्रकार द्रव्य स्वयं बहता है। वह परिणाममें परिणमता है। द्रव्यका लक्षण द्रवना है। आत्माको द्रव्य क्यों कहा है? आत्मा चिदानन्दस्वरूप द्रव्य है, वह वीतरागदशारूप द्रवित हो तो द्रव्य है। अखण्ड ज्ञायकस्वभाव है–ऐसे द्रवे–बहे तो द्रव्य कहा जाता है। यहाँ तो समाधिका वर्णन है। समाधि किसे कहा जाता है? कि आत्मद्रव्य स्वयं अपने वीतरागस्वभावको द्रवे

तो द्रव्य कहा जाता है। पर्यायबुद्धि छोड़कर–शरीरादिकी बुद्धि छोड़कर, जिसे अखण्ड द्रव्यकी प्रतीति हुई उसका द्रव्य स्वभावको द्रवता है। इसके सिवा कहीं धर्म नहीं है। पैसेसे, शरीरसे तो धर्म नहीं है क्योंकि वे तो पर हैं, परन्तु आत्मामें दानादिके शुभपरिणाम हों उनसे भी धर्म नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि राग और परबुद्धि छोड़कर मैं तो शुद्ध ज्ञायकमूर्ति हूँ—उसकी दृष्टि करके पर्यायमें वीतरागभावरूप परिणमित हो वह द्रव्य है, क्योंकि द्रव्य अपनी शक्तिसे गुणको द्रवता है। द्रव्य और गुण दोनोंमें द्रवनेका लक्षण है। जैसा आनन्द सिद्धमें है वैसा आनन्द आत्मामें एक अंशमें भी प्रगट होना वह द्रव्य–गुणमें अभेद परिणाम होने पर होता है। ऐसी एकदेश साधकदशा प्रगट होने पर परिषहका वेदन उसे नहीं होता।

लोक धर्म.....धर्म पुकारते हैं; परन्तु धर्म कहाँ और किसप्रकार होता है उसकी खबर नहीं है। धर्म पर्वतमें, पैसेमें या शरीरकी क्रियामें अथवा आहारदानमें नहीं है। मन्द कषायके परिणाम करे तो उनमें भी मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं है। आत्मा गुण द्वारा शक्तिमेंसे द्रवता है। जिसे आत्माकी रुचि प्रगट होकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र परिणति हुई उसे अनेक प्रकारके परिषह हों तब भी उनकी वेदना नहीं होती। जब आत्माका अनुभव है तब बाह्य वेदनाका अनुभव नहीं होता। आत्मा आनन्दकंद शुद्ध है; उसकी रमणता होनेसे चाहे जैसे परिषहके ढेर हों परन्तु उनका वेदन नहीं होता। जिसने चारित्रको कष्टरूप माना है, वह चारित्रके स्वरूपको नहीं समझता, वह अज्ञानी है, वह चारित्रको गाली देता है, अवर्णवाद करता है। देव–गुरु–शास्त्रका अवर्णवाद करता है वह दर्शनमोहनीय बाँधता है। जिसे चारित्रदशा प्रगट हुई हो उसे परिषहकी वेदना नहीं होती। आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है, उसकी दृष्टिपूर्वक संवर–निर्जरा होती है। चारित्र आनन्दमय है, तथापि जो उसे कष्टरूप–दुःखरूप मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानीको अन्तर्मुखदृष्टिपूर्वक जितनी पर्याय प्रगट हुई है उतनी शान्ति तो सदैव होती है। पाँचवें और छठवें गुणस्थानमें तो उसकी अपेक्षा अधिक शान्ति होती है। मुनिदशा कष्टरूप नहीं होती।

आत्मा अनाकुल अकषाय आनन्दरूप है, उसमें लीन होने पर मनके संकल्प–विकल्प टूट जाते हैं; बुद्धिपूर्वक उत्थान नहीं होता। वह आनन्दको धारण कर रहा है, यही स्वरूपधारणा है।

अपना ज्ञान उपयोग रागादि–परकी ओर आकर्षित होता था—परमें एकाग्र होता था, उसके बदले अब चिदानन्द आत्मा जो कि अचल वस्तु है उसमें जितना उपयोगको लगाया उतना परका विस्मरण होता है उसका नाम धर्म एवं मोक्षमार्ग है। लोग बाह्यमें धर्म मान रहे हैं। ज्ञानज्योतिमें जितनी उपयोगकी लीनता हुई, स्वभावमें स्थिरता हुई उतनी परकी उपाधि कम होती जाती है, इसलिए निरुपाधिस्वभाव प्रगट होता है उसे समाधि कहते हैं।

आधि–व्याधि–उपाधि रहित दशा वह समाधि है, कुटुम्ब–परिवार आदि परकी क्रिया वह उपाधि है, शरीरमें रोगादि हों वह व्याधि और मनमें संकल्प–विकल्पका होना वह आधि है। तीनोंसे रहित आत्मामें लीन होना वह समाधि है। आत्मा मन, वाणी और शरीरसे भिन्न है। शुभाशुभभावोंसे रहित अपना स्वरूप है—ऐसी स्वसन्मुख दृष्टि होने पर लीनता होना वह समाधि है, वही धर्म है। ऐसे स्वरूपको न समझे और बाह्यमें दौड़ादौड़ी करता रहे, लाखोंका दान करे, लोग स्वागत–सन्मानादि करें, उसमें आत्माका धर्म नहीं है। परपदार्थोंकी क्रिया होती है वह तो जड़का प्रवाह–द्रवण है और शुभाशुभभाव विकार वह विकारका द्रवण है, उसमें आत्माका द्रवण नहीं है। स्वभावका द्रवण हो वह धर्मदशा है।

सम्यग्ज्ञान होनेसे सुख होता है। सम्यक् अर्थात् सत्य और सत्य वही सुख है। मिथ्याज्ञान वह असत्य है और असत्य वह दुःखरूप है। सम्यग्ज्ञान होनेसे वस्तुकी महिमा आती है और आत्मामें आनन्द प्रगट होता है—ऐसे शुद्धस्वरूपी आत्माका ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान है। ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर ही आत्माकी महिमा होती है और आत्माको जानते ही आनन्द प्राप्त होता है। मैं ज्ञायक हूँ, अखण्ड हूँ, अभेद हूँ—ऐसा जानना ही आनन्द है। ज्ञान ज्ञानको जाने वह आनन्द है। ज्ञान रागको तथा परको

जाननेमें रुकता था वही दुःख था। ज्ञान ज्ञानको जानता है, ज्ञान दर्शनको जानता है, ज्ञान सर्व गुणोंको जानता है और अपनी पर्यायोंको भी जानता है। वह कितनी निर्मल है और कितनी मलिन है उसे भी जानता है। साधक दशामें एकदेश ज्ञान है, पूर्णज्ञान नहीं है, पूर्णज्ञान तो केवलदशामें होगा। अंतर्ज्ञान द्वारा अपने द्रव्यको तथा अनन्तगुणोंको जानने पर परमपद प्राप्त करता है। निचली दशामें आत्माको यथार्थ जानने पर परमपद जैसा अंशतः सुख प्रगट होता है। साधकदशामें प्रत्यक्ष नहीं जानता, इसलिए वहाँ ज्ञान परोक्ष है, परन्तु वेदन प्रत्यक्ष है। ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, परन्तु प्रतीतिमें तो प्रत्यक्ष है। स्वरूपमें उपयोग जम गया हो ऐसी समाधि होने पर बाह्य परीषहादिका वेदन नहीं होता। सनत्कुमार चक्रवर्तीको कुष्ठ रोग था। तथा मुनिको कोई अग्निमें फेंक दे तो उस समय भी उनको आत्माका वेदन होता है, दुःखका वेदन नहीं होता, क्योंकि वहाँ निर्विकल्प अनुभव होता है। श्री समयसारके १०वें कलशमें कहा है कि—ज्ञान स्वरूप होने अर्थात् अनुभूति करनेका ही आगममें निधान अर्थात् आदेश है। भगवानने आत्माके अनुभवको ही धर्मकी विधि कहा है। सर्वज्ञकी वाणीमें ऐसा आदेश आया है कि तेरा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, अखण्ड है—उसीके अनुभवका विधान है। शरीरकी या रागकी विधि करते-करते धर्म होता है ऐसा नहीं है। विधि-विधान तो आत्माकी दृष्टिपूर्वक अन्तर्लीनता करना वह एक ही है। पुण्य-पापका विकार वह विधि नहीं है। रागकी भूमिकामें हेयबुद्धिपूर्वक वे दया-दान-भक्ति-व्रतादिके शुभभाव आते अवश्य हैं परन्तु भगवानने उस धर्मकी सच्ची विधि नहीं कहा है। आत्माका अनुभव करना ही धर्म है, वही विधि और वही विधान है, उसीसे समाधि प्रगट होती है, असमाधि नहीं होती। स्वरूपका वेदन करनेको ही भगवानने विधान कहा है।

अज्ञानी शास्त्रके अर्थको नहीं समझता। शास्त्रमें तो निमित्तसे भी कथन किया होता है। आत्मा है तो उसकी पर्याय उससे होगी या परसे? परसे होगी-ऐसा माने वह निमित्तके कथनको नहीं समझता। एक मूर्ख परदेश गया था; उसके पिताने पत्र लिखा कि तेरी पत्नी कहती

है कि मैं विधवा हो गई हूँ। वह पत्र पढ़कर उसने मान लिया कि मेरी स्त्री विधवा हो गई, परन्तु पत्रके आशयको नहीं समझा कि मेरे होते हुए मेरी स्त्री विधवा नहीं हो सकती। उसीप्रकार जो शास्त्रके कथनको नहीं समझे और मेरी पर्याय परसे होती है ऐसा माने वह आत्मा जीवित– विद्यमान पदार्थ है, उसकी पर्याय परसे नहीं हो सकती, इतनी भी खबर उसे नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि–परकी बात तो नहीं परन्तु आत्मामें जो शुभाशुभ भाव होते हैं वह भी धर्मका विधान नहीं है। ज्ञानी तो स्वसन्मुखतापूर्वक आत्माका अनुभव हो उसीको धर्मका विधान समझता है और वही समाधि है।

સહજ ચિદાનંદ.

प्रवचन–५९

फाल्गुन कृष्णा ४, मंगलवार दि० ३-२-५३

चैतन्यस्वभावका अनुभव और वेदनका प्रकाश हो वह अनुभवप्रकाश है। चिदानन्दकी रुचि करके आत्मामें लीनता हो वह अनुभव, समाधि और मोक्षमार्ग है।

आगममें स्वरूपके वेदनका ही विधान है। मैं शुद्ध चिदानंद हूँ— ऐसी अन्तर्दृष्टिमें रमणता करनेका विधान सर्वज्ञोंने कहा है। कचाश रह जाए और शुभभाव हो ऐसा विधान मुख्यतः नहीं कहा। आत्मा एक समयमें परिपूर्ण चिदानन्द पिण्ड है, उसका वेदन मुख्यरूपसे करनेका विधान है। जो पर्यायको बिलकुल नहीं मानता उसे शुद्ध–अशुद्ध पर्यायका पिण्ड वह द्रव्य है ऐसा कहा है। यहाँ तो जिसे पर्यायका ज्ञान है उसको पर्यायदृष्टि छुड़वाकर त्रिकाल ध्रुव आत्मा शुद्ध है उसकी दृष्टि कराते हैं। आत्मा एक समयमें चिदानन्द परिपूर्ण है, उसकी दृष्टि करना ही विधान है और उसमें स्वाश्रयकी शक्ति द्वारा जितने अंशमें पुण्य–पापकी वृत्तिका अभाव हो उतनी समाधि है। स्वरूपका वेदन होना वह अस्तिसे बात कही है और विकारका अभाव होना वह नास्तिसे कहा है।

अब, यह अन्तिम अधिकार है, इसलिए इसमें सार–सार बात कहते हैं। यह चौथे गुणस्थानकी बात है। जितना सम्यग्ज्ञान–सम्यग्दर्शन है उसके प्रमाणमें अंतर्शान्तिका वेदन है। चौथे गुणस्थानमें भी अंशतः निर्विकल्प समाधि होती है और अंशतः शुद्ध उपयोग भी होता है। पूर्ण शुद्ध उपयोग तो बारहवें गुणस्थानमें होता है। यहाँ तो जितने अंशमें पुण्य–पापका अभाव हुआ उतने अंशमें आत्माका अनुभव होता है। त्रैकालिक चैतन्यज्योतिके आश्रयसे उत्पन्न हुआ जो भाव है वह निरुपाधि भाव है और जितना परलक्षसे हुआ भाव है वह उपाधिभाव है। उपाधिरहित भाव वह समाधि है।

लोग जिसे समाधि कहते हैं ऐसी यह समाधि नहीं है। तिलक आदि लगाकर कुम्भक, रेचक आदि करते हैं और ध्यानमें बैठते हैं वह कोई समाधि नहीं है। समाधिका पता न हो और समाधिके पाठ पढ़ने लगें, उससे कहीं समाधि नहीं हो जाती।

आत्मामें विश्राम होने पर स्वरूपस्थिरता प्राप्त की, समाधि लगी, ज्ञानधारा निरावरण हुई, ज्यों-ज्यों निजतत्त्वको जाना त्यों-त्यों ज्ञानधारामें वृद्धि होने लगी। त्रिकाल शुद्ध द्रव्यका आश्रय करनेसे एकरूप धारा बढ़ती है, त्यों-त्यों विशुद्धता केवलसे और ज्ञानपरिणति परम पुरुषसे मिलकर निज महिमा प्रगट करे वहाँ अपूर्व आनन्दभावका दर्शन हो, तब स्वरूपसमाधि कहलाती है।

यहाँ निजतत्त्व अर्थात् त्रिकाल शक्तिरूप स्वभावभाव है। उसे जाननेपर विशुद्धता बढ़ती है तब वह परिणति, आत्मा त्रैकालिक स्वभावरूपी परम पुरुषमें एकाकार होकर अपनी महिमा ख्यालमें आई तथा पूर्वमें जो एकसमय भी प्रगट नहीं किया था ऐसा आनन्द प्रगट हुआ उसे यहाँ समाधि कहते हैं। पहले कभी स्वर्गमें, मनुष्यादिमें कहीं भी जिसका अनुभव नहीं हुआ था ऐसा आनन्द प्रगट होता है।—ऐसा आनन्द वह समाधि है।

आत्मा निरंजन निर्विकल्परूप है; उसे जानकर अंतर्अवलोकनसे निर्विकल्प दशा प्रगट करना वह गिरिगुफामें प्रवेश है। बाह्यमें ग्राम, नगरादि छोड़कर पर्वतोंमें चला जाना वह गिरिगुफा नहीं है। आत्माके स्वरूपमें लीन होना उसे गिरिगुफामें प्रवेश किया कहा जाता है।

अनादि अज्ञानका भ्रमभाव जो आकुलताका मूल है वह भाव समाधि होने पर मिटता है। देखो, यहाँ कहते हैं कि अनादिके आकुलताभावका नाश कैसे होता है। पुण्य-पाप तो दुःख है, उस भ्रमभावको छोड़कर अन्तरोन्मुख होना वह आकुलताको नाश करनेका उपाय है। अनात्म अभ्यासके अभावसे सहजपदका भाव भानेसे भववासनाका विलय होने पर आत्माका परमपद दृष्टिगोचर होता है। सहज

त्रैकालिक भावकी भावना भानेसे भवके विलासका नाश होता है। अनन्तकालसे जो प्राप्त नहीं हुआ था ऐसा चिदानन्द भगवानका लाभ प्राप्त होता है। स्वरूपकी दृष्टि करनेसे आत्माका लाभ प्राप्त हुआ। जो कभी मलिन नहीं हुआ था ऐसा चिदानन्द ज्ञायकस्वभाव है उसकी प्राप्ति होती है।

अपना ज्ञानस्वभाव ही सच्चा आश्रयधाम है,—ऐसी प्रतीति हुई कि चक्रवर्तीके नवनिधान भी सड़े हुए तिनके जैसे लगते हैं। तीर्थंकरका समवसरण भी जड़ है, वह आत्मा नहीं है। अज्ञानीको तीर्थंकर नामकर्म नहीं होता। जगतका विधान असत्य और आत्मविधान सत्य भासित हुआ अर्थात् आत्मस्वभाव प्रकाशित हुआ। आत्माने स्वयं अपनेसे पहिचान कर ली तब चेतनभावकी प्रतीति हुई और शुद्ध भावना की—निजभावना की—शिवपदका अनुसरण करके आनन्दरससे परिपूर्ण होकर भवबाधाका विनाश करके आत्मानन्द प्रगट किया—उसका नाम समाधि है।

मैं ज्ञायक आनन्दमूर्ति हूँ। उसकी दृष्टि हुई इसलिए मैं शिवपदरूप हूँ। आत्मा आनन्दरससे भरपूर है उसका अनुभव हुआ। स्वरूपमें प्रमोद होनेसे शुद्धि बढ़ती है—ऐसा कहा है, परन्तु व्यवहार करते-करते शुद्धिमें वृद्धि होती है ऐसा नहीं कहा। आत्म-प्रमोदसे जितनी शक्ति बढ़ी उतनी शुद्धता बढ़ती है। आत्मा चिदानन्दस्वरूप है, उसीकी अधिकता धर्मीको लगी है वह समाधि है। ग्रन्थोंमें भी ऐसी समाधि और धर्मका गुणगान किया है।

स्वरूपानन्द पदसमाधिसे होता है। अंतरमें राग-द्वेषको छोड़कर स्वरूपका ज्ञाता होकर समाधिको प्राप्त करता है। वस्तुका स्वरूप गुणसे ज्ञात होता है। वस्तु त्रैकालिक है, उसीप्रकार गुण भी त्रिकाल हैं, इसलिए ज्ञान वह आत्मा, आनन्द वह आत्मा,—इसप्रकार गुणोंसे जाना जाता है। विकल्पसे, परसे, निमित्तसे आत्मा ज्ञात नहीं होता। भगवान आत्मा अनन्तगुणोंका पिण्ड है, उसकी दृष्टि हुई वह सम्यग्दृष्टि है। अज्ञानी पैसेको-द्रव्यको-मानता है; उसकी दृष्टि करनेसे सम्यग्दर्शन नहीं

होता। गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं। आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है, उसे भूलकर पुण्यसे धर्म मानता है वह जीवका घात करता है, उसे धर्म नहीं होता।

अनन्त गुण अभेद हैं, ऐसी दृष्टि करना वह द्रव्यदृष्टि है। जैसे सोना एक वस्तु है, उसमें पीलापन, चिकनापन, वजन आदि अभेद हैं। पीलापन अलग रहता है और चिकनापन अलग रहता है—ऐसा नहीं है, उसीप्रकार आत्मामें ज्ञान, दर्शन आदि अनन्तगुण अभेद हैं, परन्तु संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षासे भेद हैं, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है, वस्तु अभेद है।

वितर्क अर्थात् द्रव्यशब्दके अर्थको भाना। भावश्रुतमें स्वरूपअनुभवकरण कहा, वितर्क श्रुत कहा जाता है। श्रुतज्ञानमें मैं शुद्ध हूँ—ऐसे शब्दका विकल्प उठता है वह द्रव्यश्रुत है, क्योंकि यहाँ गुण–गुणीभेदका विकल्प उठता है। द्रव्यश्रुत होता है परन्तु उसे अनुभवका करण नहीं कहा है। बाह्यश्रुत तो निमित्त है, श्रुतज्ञानका विकल्प उठा उससे भी आत्माका अनुभव नहीं होता परन्तु उस विकल्पसे रहित शुद्ध चिदानन्दकी दृष्टि हुई, अंतर अवलम्बन हुआ वह भावश्रुत है, वह अनुभवका कारण है। भावश्रुतसे पूर्व द्रव्यश्रुत होता अवश्य है, उसे व्यवहारसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

ज्ञान वह आत्मा है—ऐसा विकल्प लक्ष्यमें लेता है, इसलिए उसे द्रव्यश्रुत कहा जाता है। भावश्रुत आत्माका अनुकरण करता है, निमित्त और रागका अनुकरण नहीं करता। यह बात समझनेमें कठिन लगती है। संसारमें रुचि हो उसे सांसारिक बात कठिन नहीं लगती, वैसे ही जिसे आत्माकी रुचि हो उसे यह बात कठिन नहीं लगती। निश्चयश्रुतज्ञानके बिना व्यवहार श्रुतज्ञान भी नहीं कहा जाता। ज्ञानकी पर्याय स्वज्ञेयमें अभेद हुई वह भावश्रुत है। ऐसी समाधि अमरपदका कारण है।

लोग बातें करते हैं कि गिरनारकी गुफामें अनेकों योगी अमर हो गए हैं, मरते नहीं हैं, वे सब कल्पनाएँ हैं। ऐसे कोई अमर नहीं होते।

अमरफल खानेसे भी अमरत्व प्राप्त हुआ हो—ऐसा भी नहीं है। हाँ, समाधिसे अमर हुआ जाता है।

''अब हम अमर भये, न मरेंगे।''

आत्माका विचार अनादि भवभावनाका नाश करता है। निजद्रव्य–गुण–पर्यायके विचारसे परके द्रव्य–गुण–पर्यायको भिन्न जानकर दर्शन–ज्ञानके नमूनेको पहिचानकर, चेतनमें मग्न होनेसे, सिद्धदशाकी शांतिका नमूना प्राप्त होता है। जैस अनाजका नमूना दे वैसा ही सारा माल होता है, वैसे ही आत्मामें ज्ञान–दर्शन भरे हैं, उसकी एक समयकी पर्यायमें नमूना–वानगी है, उसे देखने पर पूर्ण आत्मा कैसा है उसका निर्णय करता है।

अभी जिसे निमित्तसे भेदज्ञान करना नहीं आता हो उसे रागसे भेदज्ञान नहीं होता। आत्माके लक्षण द्वारा आत्माको परसे भिन्न जाने तो उसके द्वारा साररूप पदको प्राप्त करे और समाधि हो जाए तथा जिसकी अपार महिमा है ऐसे परमपदकी प्राप्ति हो।

अनादिसे पर–इन्द्रियजनित आनन्द मानता था वह मिट गया। आत्माके अतीन्द्रिय सुखकी प्रतीति होनेसे आकुलतारूप दुःखका नाश हुआ, ज्ञानानन्दमें समाधि हुई, वस्तुके वेदनसे आनन्द हुआ, गुणके वेदनसे आनन्द हुआ, परिणति विश्रामस्वरूपमें लीन हुई तब आनन्द हुआ। एकदेश स्वरूपानन्द ऐसा है। यह साधकको बात है। एकदेशस्वभावका आनन्द ऐसा है, इसलिए यह चौथे गुणस्थानकी बात है। यहाँ केवलीकी बात नहीं है। केवली पूर्ण दशा तो रागादिका सर्वथा नाश होने पर होती है, वहाँ पूर्णानन्द दशा होती है।

प्रवचन–६०

फाल्गुन कृष्णा ५, बुधवार दि० ४-२-५३

आत्मशान्ति अथवा आत्माके धर्मको अनुभव प्रकाश तथा मोक्षमार्ग कहते हैं। वह मोक्षमार्ग कैसे प्रगट हो? सो कहते हैं।

यह समाधिकी बात है। जहाँ इन्द्रियविकार बलका विलय हुआ है—मनविकार नहीं है वहाँ समाधि है। आत्मामें कर्म और शरीरका बल ही नहीं है वहाँ समाधि है। आत्मामें कर्म और शरीरका बल ही नहीं है, क्योंकि आत्मा परसे निवृत्तस्वरूप है, निमित्तसे निवृत्तस्वरूप है—ऐसा जिसने निर्णय नहीं किया है वह विकारसे निवृत्त नहीं हो सकता, इसलिए प्रथम निर्णय करना चाहिए कि—इन्द्रियादि परनिमित्तोंका मुझमें जोर नहीं है, तब इन्द्रियविकारका विलय होता है। इन्द्रियविकार अर्थात् अशुभभाव जो कि इन्द्रियोंके निमित्तसे होते हैं; इतना ही इन्द्रिय विकारका अर्थ नहीं है, परन्तु भगवानके दर्शन करना, शास्त्रश्रवणादि करना वह सब इन्द्रियविकार है। परसे—निमित्तसे लाभ माना उसके इन्द्रियविकारका विलय नहीं हुआ है।

निमित्तसे लाभ–हानि होते हैं—ऐसा माना उसको निमित्तका पक्ष छूटा ही नहीं है अर्थात् निमित्तका परिग्रह नहीं छूटा है और जिसने विकारका बल है ऐसा माना उसने आत्मामें विकारका नाश करनेका सामर्थ्य है—ऐसा नहीं माना है।

यह समाधि अधिकार है; तो वह समाधि किसे होती है? कि—जिसको निमत्तकी भी रुचि छूट गई और इन्द्रियोंके निमित्तसे होनेवाले विकारभावकी भी रुचि छूट गई हो और आत्माकी यथार्थ रुचि हुई हो। आत्मा चिदानन्द त्रिकाल शुद्ध है, उसके आश्रयसे ही धर्म होता है।—ऐसी दृष्टिपूर्वक अंतर्लीनता हुई उसे यहाँ समाधि होना कहा है। जिसको

निमित्तका बल नहीं छूटा उसे विकारका बल तीनकालमें नहीं छूटता। आत्मामें शुभाशुभ परिणाम होते हैं वह विकार है। भगवानके दर्शनका विकल्प वह शुभ भाव है और स्त्रीको देखनेका भाव वह अशुभभाव है—वे दोनों विकार हैं। निमित्तसे वे शुभाशुभ भाव हुए हैं ऐसा जिसने माना उसके तो निमित्तका परिग्रह नहीं छूटा है, इसलिए उसको विकारकी पकड़ भी नहीं छूटी है।

सच्चे देवादिकी श्रद्धा तथा पंचमहाव्रतादिका विकल्प है वह मनका विकार है। जिसे आत्माके आश्रयसे शुद्ध परिणति प्रगट हुई है, अनाकुल शांतरसरूप समाधि प्रगट हुई है उसे मनका विकार नहीं होता। यही धर्म है और यही मोक्षमार्ग है।

जिसे यह खबर नहीं है कि आत्मा शांत समाधिरूप है, उसे पुण्यकी रुचि नहीं छूटती। पर्यायमें दानका शुभविकल्प होता है वह भी मनोविकार है। पहले तो जिसने निमित्तका बल माना उसे तो निमित्तकी पकड़ है और फिर जिसने व्यवहारसे धर्म माना है उसके विकारका परिग्रह नहीं छूटता—ऐसी दो बातें कही हैं।

आत्माकी शान्ति कोई लूट नहीं गया है, तथा वह परमें नहीं भरी है। आत्मा स्वयं शान्तिरूप है ऐसा ज्ञान, रुचि करनेसे होता है। जिसने निमित्तसे धर्म-शान्ति मानी है उसकी निमित्तबुद्धि नहीं छूटती। परके कारण आत्मामें कोई लाभ-हानि नहीं होते और आत्माके विकल्पसे परमें कुछ नहीं होता—ऐसा जानना चाहिए। मेरी वस्तु तो मेरे पास है, परके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु मेरी पर्यायमें विकार होता है उतना मात्र मैं नहीं हूँ।—ऐसी अन्तर्दृष्टि होने पर समाधि जागृत होती है।

आत्मामें वह आनन्दस्वाद आया उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। अब, वह आनन्द होनेसे पूर्व कैसा विकल्प होता है वह कहते हैं। मैं आनन्द हूँ, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ—ऐसा विचार कुछ काल तक रहता है। पश्चात् समाधिमें अहंपना तो छूटता है, अस्मि कहें ऐसा भाव वहाँ रहता है। वहाँ दर्शन-ज्ञानमय हूँ, मैं समाधिमें लगता हूँ। ऐसे ही रहूँ यह विचार होता

है। मैं ज्ञाताद्रष्टा हूँ—ऐसा विकल्प होना वह भी शुभराग है। उसका अभाव होनेसे स्वरूपमें स्थिरता होती है। ज्ञान–दर्शन या विकल्प उसे यहाँ द्रव्यश्रुत कहते हैं। निमित्त, रागकी रुचि छूट जानेके पश्चात् ज्ञान सो आत्मा, दर्शन सो आत्मा—ऐसे विकल्पको द्रव्यश्रुत कहते हैं। उस गुण–गुणीके भेदका विकल्प मिटता है तब समाधि प्रगट होती है।

जबतक विकल्प था तबतक तो पुण्यबंधका कारण था, फिर जब द्रव्यश्रुतका भी विकल्प छूट गया और आत्मामें एकत्व हुआ वह समाधि है। ऐसा धर्मका स्वरूप है—ऐसी जिसे खबर नहीं है वह कदाचित् दया, दान, भक्ति एवं व्रतादिके परिणाम करता हो तथापि उसे धर्म नहीं होता। आत्मा कौन है? उसे जानकर गुण–गुणीका भेद मिटाकर अन्तर्लीनता हो उसे धर्म होता है। धर्मकी विधि तो पहले जानना चाहिए। विधि जाने बिना धर्म नहीं होता। प्रथम विकल्प होता है, परन्तु उस विकल्पके कारण निर्विकल्प नहीं हुआ जाता—ऐसा जानना चाहिए। आत्मा परमानन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि करनेसे विकल्पका अभाव होता है—ऐसी विधि है।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी खबर नहीं है और व्रत करें तो धर्म हो जायगा—ऐसा जो मानता है वह विधिको नहीं समझता। जिसे घी–गुड़ और आटेका हलुवा खाना हो उसे प्रथम विधि समझना पड़ती है। विधि जाने नहीं और पानीमें आटा डाल दे तो हलुवा नहीं बनेगा। वैसे ही पहले सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप न जाने और व्रतादि शुभभावसे धर्म हो जाएँगा ऐसा माने उसे धर्म या मोक्षमार्ग नहीं होता।

आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, उसकी रुचि करनेसे तथा उसकी लीनतासे समाधि होती है और वही वीतरागरूप स्वसंवेदनभाव है। जब एकत्वचेतनामें मन लगाकर लीन हुआ वहाँ इन्द्रियजनित आनन्दके अभावसे स्वभावका लक्ष होने पर रसास्वादन करके आनन्दकी वृद्धि हुई। वहाँ विवेकरूपी शुद्धपरिणति है। जहाँ परमात्माका विलास निकट हुआ वहाँ अनन्त गुणोंका रस आया फिर परिणामवेदी समाधि लगी, निर्विकार धर्मके विलासका प्रकाश हुआ।

परसे विभक्त हुआ अर्थात् स्वसे एकत्व हो गया—वह अस्ति–नास्तिकी बात है। अनन्त गुणोंका परिणमन शुद्ध हुआ, इसलिए अंतर्‌समाधि प्रगट हुई, निर्विकार धर्मके विलासका प्रकाश हुआ। रागादिरहित भावनामें मनोविकार छुट गया। पहले प्रतीति हुई कि मैं ज्ञान हूँ; विकार नहीं हूँ, पर नहीं हूँ; वहाँ तो रागादि विकारके स्वामित्वका नाश होता है और आगे चलकर स्थिरता होते–होते शुद्धिमें वृद्धि होती है और मनका विकार भी नष्ट होता है।

ऐसी समाधि–स्वरूप दृष्टिपूर्वक स्थिरता करके स्वभावकी शान्ति प्रगट की उसे भगवान तप कहते हैं। ऐसा तप करके भगवानने केवलज्ञान प्रगट किया है। लोगोंको तपकी भी खबर नहीं है। तपको जगत कष्टरूप मानता है। स्वभावमें स्थिरता और परभावोंका विस्मरण हो ऐसी लीनता करनेसे निकट भविष्यमें परमात्मा होते हैं। यह सहजका धंधा है। जो इसे कष्टरूप मानता है उसे वस्तुकी खबर नहीं है।

आत्मस्वरूपमें लीनतासे केवलज्ञान प्रगट होता है। जिसके मिथ्यात्वभावका नाश नहीं होता उसके मनका विकार नहीं मिटता। मिथ्यात्वके नाशका उपाय नहीं करे और दूसरे पचड़ोंमें पड़ा रहे उसके संसारका अन्त नहीं होता। मिथ्यात्वरूपी मोह महान शत्रु है। यह मोह ही आत्माका विपरीतभाव है। वही जीवको अनादिसे संसारमें परिभ्रमण करा रहा है। धर्मके बहाने अनेक क्रियाएँ करते हैं वे सब मोहके वश नाच रहे हैं। आत्मा ज्ञायक है ऐसी बात सुननेमें भी जिसे अरुचि आती हो और कोई कहे कि राग कम करोगे तो धर्म हो जाएँगा वहाँ उत्साह आता हो; वह मिथ्यात्वभावकी रुचिवाला है; वह संसारमें भटकता है। मिथ्यात्वका सेवन करके हर्ष मान–मानकर संसारमें परिभ्रमण करता रहेगा। यदि कोई त्यागकी बात करे, धनसे धर्म होनेकी अथवा धर्मसे धन मिलनेकी बात करे तो वहाँ हर्ष मान–मानकर जीव मिथ्यात्वका सेवन कर रहे हैं।

लाखों रुपयेका दान कर–करके, उपवासादि तपश्चर्या करके धर्म

मानते हैं और उल्लसित होते हैं। व्रतादि लेकर धर्म मानकर प्रसन्न हो जाते हैं। उनमें आत्माका कल्याण मानकर, वे सब क्रियाएँ करके अपनेको धन्य मानते हैं वे अज्ञानी मूर्ख हैं, उनको आत्माके धर्मकी खबर नहीं है। मिथ्यात्वको दृढ़ करके उसमें धर्म मानते हैं, वे हर्षित हो–होकर संसारमें भटकते हैं। आहारका ग्रहण–त्याग मुझमें है ही नहीं, लक्ष्मी आदि मुझसे पर हैं ऐसा नहीं जानता। आहारदान करे वहाँ साधुको अध:कर्मी एवं उद्दिष्ट आहार देता है और अपनेको धन्य मानता है, परन्तु जो साधु अध:कर्मी अथवा उद्दिष्ट आहार लेता है वह निश्चयव्यवहार दोनों प्रकारसे साधु नहीं है—ऐसा वह नहीं जानता, इसलिए संसारमें भटकता है।

मुनिकी दशा तो ऐसी होती है कि—हमारे लिए आहार बनाया है—ऐसी शंका होने पर भी उस आहारको छोड़ देते हैं। अज्ञानीको इसकी खबर नहीं है। देखो! अज्ञानीमें कैसी हठधर्मिता है? निज निधि अनन्त सुखदायक है उसका कौन स्मरण करता है? इसलिए उन्हीं जीवोंको श्रीगुरु–उपदेशामृतका पान करना योग्य है, उससे मोहका नाश होता है और अनुभव प्रगटता है, वह अब कहते हैं।

जीव संसारमें भटक रहा है। और कहते हैं कि पहले देशनालब्धि होनी चाहिए। अपने आप शास्त्र पढ़कर कोई धर्म प्राप्त कर ले ऐसा नहीं होता। सत्समागम करनेकी बात कही है। अनादि संसारी मिथ्यादृष्टि पहले ज्ञानीके निकट शुद्ध आत्मतत्त्वकी बात सुने और अंतरमें उतारे तब उसके मोहका नाश होता है और आत्माका अनुभव प्रगटता है। पात्रता हो वहाँ योग्य जीवको ज्ञानीकी देशनालब्धि प्राप्त होती ही है। देशनालब्धिके बिना मात्र शास्त्र पढ़नेसे अथवा अज्ञानीके उपदेशसे कदापि सम्यग्ज्ञान नहीं होता,—ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सहज स्वतंत्र वस्तुका स्वभाव है।

प्रवचन–६१

फाल्गुन कृष्णा ६, गुरुवार दिनांक ५-२-५३

जिसे धर्म करना हो और शान्तिकी चाह हो उसे आत्माकी प्रतीति करनी चाहिए। आत्मानन्दका अनुभव होना उसे अनुभवप्रकाश कहते हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, उसकी प्रतीति करके आनन्द प्राप्त करना उसे धर्म कहते हैं।

पहले क्या करना चाहिए? श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाकी प्रतीति करो। कुदेवादिको मानना वह जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा नहीं है। जिनमें सच्चे देव–गुरु–शास्त्रका, नवतत्त्व आदिका यथार्थ वर्णन हो वह सच्चे शास्त्र हैं। सर्वज्ञ भगवान प्रणीत तत्त्वोंका विचार करे, जिनेन्द्रदेवके उपदेशानुसार गुरु उपदेश देते हैं, उस उपदेशका बराबर श्रवण करे। भगवानने किन तत्त्वोंको ग्रहण योग्य कहा है? चैतन्यप्रकाश अनन्त सुखधाम है, शरीर जड़ है, पुण्य–पापभाव हेय हैं, भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाश है, वह अनन्त सुखका धाम है। भगवान आत्मा मलरहित है। त्रैकालिक द्रव्य एकसमयके संसारसे रहित है, वही शान्तिका कारण है।—ऐसा चिद्घन आत्माराम उपादेय है। निमित्त एवं विकाररहित आत्मा उपादेय है। यहाँ तो विकारको भी स्वभावकी अपेक्षासे पर कहा है। जिसे शान्तिकी इच्छा हो उसे अपने चिदानन्द आत्माको मानना चाहिए। आत्मा पर पदार्थोंसे तथा रागादिसे रहित है। शरीर, कर्मादि आत्माके नहीं हैं, तब फिर शरीर, कर्मादि आत्मामें क्या करेंगे? तथा पर्यायमें होनेवाले शुभाशुभ परिणाम वह विकार हैं, इसलिए हेय हैं और शुद्धआत्मा उपादेय है; मैं शुद्धचिदानन्द हूँ—ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए। इसप्रकार भेदज्ञानसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है वह सम्यग्दर्शन है। क्रियाकाण्ड, दान, पूजा, भक्ति धर्म नहीं है, किन्तु पुण्य है, धर्म तो स्वाश्रयरूप निर्विकल्प वीतरागपरिणति है।

अज्ञानी जीव पुण्यसे धर्म मानकर हर्षित होता है और पुण्यसे बड़ा लाभ मानता है और संतुष्ट होता है, परन्तु वह सब भ्रमभाव है। स्व–पर भेद विज्ञान करना वह धर्म है। उसका निरन्तर अभ्यास करना। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसी प्राप्ति अनुभवमें होगी।

शरीर जड़ है, शरीरकी दशा उसके अपने आधीन है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। जो जीव निमित्तसे लाभ अथवा प्रभाव माने अथवा कर्मके उदयसे अपनेमें विकार माने उसमें परसे या कर्मसे भेदज्ञान करनेकी शक्ति नहीं है, उसमें विकारसे भेदज्ञान करनेकी शक्ति नहीं है। भगवान आत्मा हो या प्रतिमा हो, सम्मेदशिखर हो या शत्रुंजय हो—सब पर हैं, उनसे धर्म नहीं है। कषायकी मन्दता करे तो पुण्य होगा, परसे तो पुण्य भी नहीं है। निमित्तसे लाभ–हानि नहीं है। रागसे लाभ नहीं है। स्वयं ज्ञानस्वभावी है—ऐसा अभ्यास निरन्तर करना। रागसे पर्यायमें हानि होती है परन्तु रागसे त्रैकालिक स्वभावमें लाभ–हानि नहीं है। संसारका औदयिकभाव परमपारिणामिकभावमें प्रविष्ट नहीं हो जाता।

श्री नियमसारमें चार भाव–औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकको आवरणयुक्त कहा है, विभाव कहा और परिहार योग्य कहा है। चारों भाव द्वारा आत्मा जाना जा सके ऐसा नहीं है। चारों भाव पर्याय हैं। उनका आश्रय लेनेसे आत्मा गम्य नहीं होता। पर्याय भेदरूप है, इसलिए भेदका लक्ष छुड़वाने और अभेदका लक्ष करानेके लिए ऐसा कहा है। भेदके लक्षसे विकल्प उत्पन्न होता है।

साधक जीवको पूर्ण क्षायिकभाव प्रगट नहीं है। जो नहीं है उसका विचार करनेसे विकल्प उठता है, इसलिए वह परिहार करने योग्य है—ऐसा कहा है।

तत्त्वार्थसूत्रमें रागद्वेष, गति आदि औदयिकभावको स्वतत्त्व कहा है, क्योंकि उन–उन परिणामोंको अशुद्ध उपादानसे जीव स्वयं करता है, कर्म नहीं कराता। वह बतलानेके लिए स्वतत्त्व कहा है। यहाँ चारों भावोंको विभावभाव कहा है, क्योंकि वे चारों पर्यायें हैं, भेद हैं। भेदके आश्रयसे

धर्म नहीं होता, इसलिए वह आदरणीय नहीं है, उसके आश्रयसे रागकी उत्पत्ति होती है। पारिणामिक चिदानन्दभावके आश्रयसे धर्म होता है—इसप्रकार जैसा है वैसा अर्थ समझना चाहिए।

यहाँ साधक जीव विचार करता है कि चैतन्यतत्त्वको उपादेय बनाकर चैतन्यतत्त्वकी प्राप्ति करे तो राग–द्वेष मिटे। साधकदशामें भक्ति आदिके भाव होते हैं, दया–दानादि तथा प्रभावनाके भाव उठते हैं, परन्तु ज्ञानी उनको हेय समझता है। दृष्टि तो स्वभावसन्मुख है और रागको नष्ट करनेका प्रयत्न है।

स्व तथा परका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए, उससे राग–द्वेष मिटते हैं। आत्मामें परपदार्थोंका ग्रहण–त्याग नहीं है। आत्मा पर पदार्थोंका ग्रहण–त्याग कर सकता है ऐसा मानना वही मिथ्यात्व है। आत्मा पैसा खर्च नहीं कर सकता। आत्मा जड़की पर्यायका कर्ता–हर्ता नहीं है। आत्मा ज्ञाता है ऐसी प्रतीति करनेसे धर्म होता है।

देखो, यह ग्रन्थ श्री दीपचन्दजीने गृहस्थदशामें लिखा है। कितनी अच्छी बात लिखी है। आत्मस्वरूपकी प्रतीति एवं लीनतासे मोह–राग–द्वेष नष्ट होते हैं। ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करना वह विकार मिटनेका उपाय है। उससे कर्मका आस्रव रुक जाता है।

मैं ज्ञानानन्द हूँ ऐसी प्रतीति और लीनता करनेसे निर्जरा होती है। अभव्य जीवने अज्ञान तपश्चर्या बहुत की; बाह्य क्रिया वह कहीं वास्तविक तप नहीं है। मैं ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसे आत्माके आश्रयसे निर्जरा होती है। कर्मका छूटना वह द्रव्यनिर्जरा है। अशुद्धताका नाश और शुद्धताकी वृद्धि होना उन दोनोंको भावनिर्जरा कहते हैं, तथा सम्पूर्ण शुद्धताका प्रगट होना वह मोक्ष है। इसप्रकार संवर, निर्जरा, मोक्ष—तीनों आत्माके आश्रयसे होते हैं। मिथ्यात्व, व्रत, प्रमाद, कषाय, योग—ऐसे पाँच आस्रव हैं; उनमें मुख्य मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व मिटे बिना अव्रत और प्रमाद नहीं मिटते। आत्माकी प्रतीति और लीनता करनेसे मिथ्यात्व एवं राग–द्वेष दूर होते हैं। भेदज्ञान करनेसे संवर, निर्जरा और केवलज्ञान होते

हैं। भावमोक्ष होने पर कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है, वह द्रव्यमोक्ष है।

शरीर, कर्म आदि पर पदार्थोंसे भिन्न हूँ—ऐसे भेदज्ञानसे सिद्धि होती है।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए हैं और जो बँधे हैं वे भेदविज्ञानके अभावसे ही बँधे हैं।

अज्ञानी निमित्त पर भार देता है, निमित्तके कारण विलक्षणता मानता है, उस जीवको निमित्तसे भेदज्ञान नहीं है तब फिर विकारसे भेदज्ञान कहाँसे होगा? इसलिए भेदज्ञान करना आवश्यक है। भेदज्ञानके अभ्याससे परमपद–सिद्धपद होता है, वह भेदज्ञान उत्पन्न होनेका विचार करते हैं :—

ज्ञानभाव अपना है परन्तु दया–दानादिके रागको अपना माने वह मिथ्याभ्रान्ति है। ज्ञानको अपना हितरूप कार्य न माने वह संसार है। पुण्य–पापसे लाभ माने वह पुण्य–पापको अपने माने बिना नहीं रहेगा। बाह्यमें करने–न करनेकी बात नहीं है परन्तु परिणामकी बात है। मैं दया पालता हूँ, यात्रा करता हूँ, विनय करता हूँ—ऐसी वृत्तिको विभाव कहते हैं। वही मैं हूँ—ऐसा मानता है वह संसार है।

धर्मी दया–दानादिको जानता है। भेदज्ञान द्वारा विकारको हेय ही जानता है। किसी भी विभावको अपना नहीं मानता किन्तु विभावको जाननेकी शक्तिको अपनी मानता है। मैं ज्ञाता हूँ, अपने जाननेके स्वभावसे विकारको जानता हूँ,—इसप्रकार जाननेरूप परिणमन करे तो ज्ञानरस पिये और अनुभव करे। मैं राग नहीं हूँ किन्तु रागका ज्ञाता हूँ, वह भी व्यवहारसे है। ज्ञानानन्दस्वभावमें एकाग्रता करना वह निर्विकल्प अनुभव है। साधककी भूमिकामें राग होने पर भी साधक उसे अपना नहीं मानता।

जीभका स्वभाव ऐसा है कि वह मुँहमें रखी हुई गोंद जैसी चिकनी वस्तुको गला देती है और उसे चिकनाई निकालनेके लिए साबुनकी आवश्यकता नहीं होती; उसीप्रकार बाह्य क्रियाकाण्डसे राग–द्वेषकी चिकनाई नष्ट नहीं होती। परसे रूक्ष ऐसे आत्माके अवलम्बनसे रागकी चिकनाहट नष्ट हो जाती है।

अज्ञानी जीव पर पदार्थकी कर्तृत्व बुद्धिमें लगा है। विभाव, अज्ञानधारा अथवा मूर्च्छा धारा है। स्वभावका ज्ञान करना वह ज्ञानधारा है।—दोनों धाराओंको ज्ञानी जानता है।

श्री समयसारके पुण्य–पाप अधिकारके ११०वें कलशमें कहा है कि—''जबतक ज्ञानकी कर्मविरति बराबर परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तबतक कर्म और ज्ञानकी एकत्रितता शास्त्रमें कही है, उनके एकत्रित रहनेमें कुछ भी क्षति अर्थात् विरोध नहीं है।''

साधकदशामें दो धाराएँ होती हैं। कर्मधारा अर्थात् जड़कर्मकी बात नहीं है, परन्तु अपनी अशक्तिसे होनेवाले राग–द्वेषके परिणाम वह कर्मधारा है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है वह ज्ञानधारा है। रागको ज्ञान भिन्न जानता है।

जिसने आत्माको विभावसे भिन्न जाना और आठ कर्मोंसे भिन्न जाना उसे धर्म होता है। ''कर्म बेचारे कौन भूल मेरी अधिकाई'' कर्म अजीव है वह भूल नहीं करवाता; स्वयं अपराध करता है। कर्मके कारण राग–द्वेषका होना मानता है उसमें भेदज्ञान करनेकी शक्ति नहीं है। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानको रोकता है, वह निमित्तका कथन है। शास्त्रमें केवलज्ञानावरणीय कर्मकी शक्ति महान कही है। जीव स्वयं केवलज्ञान प्रगट न करे तब केवलज्ञानमें विघ्नरूपसे निमित्त होता है वह केवलज्ञानावरणीय कर्म है, इसलिए उसकी उत्कृष्ट शक्ति है ऐसा कहा है। केवलज्ञान प्रगट नहीं होनेमें निमित्तरूप उत्कृष्टताका वर्णन है; परन्तु वह कर्म ज्ञानको रोकता है ऐसा अर्थ नहीं है। मोहनीयकर्म मोह नहीं कराता। इसप्रकार आठों कर्मोंको आत्मासे भिन्न जानना। अष्ट कर्मोंको दहन करनेकी शक्ति तो स्वभावमें है। मुझमें ऐसी चिदानन्द अग्नि जागृत

हो जिससे अष्टकर्म स्वाहा हो जाए—ऐसी धूप पूजाके समय की भावना है। धूप चढ़ानेकी क्रिया और धूप तो जड़ है, पूजामें तृष्णाभाव घटाए उतना पुण्यभाव है। धर्मीको धर्मप्रभावनाका भाव आता है परन्तु वास्तवमें वह धर्म नहीं है। आत्मा शरीर एवं कर्मसे भिन्न है और विभावसे भी भिन्न है। ऐसी प्रतीति होना वह धर्म है। शरीरसे धर्म होता है, कर्मोंकी मन्दतासे धर्म होता है—ऐसा माननेवालेको शरीर एवं कर्मकी रुचि है।

आत्मा चैतन्य उपयोगमय है। शरीरादि प्रत्यक्ष भिन्न हैं। शरीर और कर्ममें चेतनाका प्रवेश नहीं है। आत्मा शरीरको नहीं चलाता। शरीर जड़ है। जड़के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावमें आत्माके स्वचतुष्टयका अभाव है। चेतनाका अंश शरीरमें नहीं है, कर्मका अंश और शरीरका अंश चेतनामें नहीं है। चेतन और जड़ भिन्न हैं—ऐसा शास्त्र कहते हैं। वीतराग तो प्रत्यक्ष कहते हैं। साधारण मनुष्य भी कहते हैं कि शरीर और आत्मा भिन्न हैं, परन्तु वह तो कथन मात्र है। वे यथार्थ भेदज्ञान नहीं करते।

चैतन्यमें जड़का प्रवेश नहीं है, वीतरागकी वाणी स्पष्ट–प्रत्यक्ष कहती है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और ऐसे अनन्त शरीर छोड़े हैं ऐसा ख्यालमें आता है। यदि शरीर तेरा हो तो तुझसे पृथक् क्यों होता है? शरीर पृथक् होता है, इसलिए वह तेरा नहीं है। दर्शन–ज्ञान तेरा स्वभाव है, इसलिए तुझसे पृथक् नहीं होता, इसलिए आत्मा ज्ञाता–द्रष्टा है और जानना–देखना ही तेरा उपयोग है। जड़में उपयोग नहीं है। शरीरको शरीरकी खबर नहीं है। आत्माको अपनी और शरीरकी खबर पड़ती है। शरीर, कर्म अनुपयोगी हैं और स्वयं उपयोगी है,—ऐसा विचारने पर जड़–चेतनकी भिन्नताकी प्रतीति होती है।

तथा राग–द्वेषादि परिणामोंमें रुके वह कर्मचेतना है, वह विकारी है। मिथ्यात्वादि भावमें चेतना परिणमति है, कर्म नहीं परिणमते। इसप्रकार अपने भावकर्मका विचार करना। राग–द्वेष, दया–दानादि भाव भी चिद्विकार होनेसे वे भावकर्म हैं। उनमें ज्ञाताद्रष्टा शक्ति रुक जाती है, इसलिए उसे कर्मचेतना कहते हैं। उसका आदर नहीं करना। कर्मके

कारण राग-द्वेष नहीं हैं। स्वयं रुकता है तो चिद्विकार होता है। स्वयं अपनेसे मलिन हुआ है, परसे मलिन नहीं हुआ। किसीने अथवा कर्मके उदयने विकार नहीं कराया है।

अकेला ज्ञानप्रकाश आत्माका विलास है, उसे अज्ञानी सँभालता नहीं है। शास्त्रसे ज्ञान होगा आदि प्रकारसे मोह रखकर शास्त्रश्रवण करता है। स्वयं ज्ञान करे तो शास्त्रको निमित्त कहा जाता है यह बात नहीं समझता। तथा खबर है कि इस शरीरका अन्त होगा, लक्ष्मी, स्त्री, परिवार, पुत्र, पुत्री आदि भी नहीं रहेंगे; तथापि उनसे स्नेहभाव रखता है। प्रत्यक्ष भिन्न होने पर भी उनसे भेद ज्ञान नहीं करता। वृद्धावस्थामें पुत्र पालनपोषण करेंगे-ऐसी मान्यता होनेसे उन्हें अपना मानता है, उनसे स्नेहसम्बन्ध रखता है और अशुभभाव करके नरक गतिका बंध करता है। लक्ष्मी, पुत्रादि तो अनन्त दुःखके निमित्त हैं, तथापि उस दुःखके निमित्त कारणोंको सुखका कारण मानता है। इसलिए परसे-विकारसे भेदज्ञान करके सुखके-आनन्दके साधनोंकी खोज करना।

સહજ સિદ્ધાનંદ.

प्रवचन–६२

फाल्गुन कृष्णा ७, शुक्रवार दि० ६-२-५३

आत्माके स्वरूपको आनन्दका कारण माने उसे अनुभवका प्रकाश कहते हैं। परको सुखरूप मानना वह तो दुःखका कारण है। आत्मा शक्तिरूपसे ज्ञानादि अनन्तगुणोंका पिण्ड है, वही आनन्दका कारण है— ऐसा न समझे और देव–गुरु–शास्त्रादि परपदार्थ सुखके कारण हैं—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यात्वके कारण दुःख ही भोगता है; अपनी सहज शक्तिको नहीं सँभालता।

ज्ञानप्रकाशरूप मेरा उपयोग है, वही सदा मेरा स्वरूप है। मेरा स्वभाव सदा मुझमें है, उसका कभी वियोग हुआ ही नहीं है—ऐसी अनंत महिमाका भण्डार, अविकार सार मैं ही हूँ;—ऐसी दृष्टि करने पर दुर्निवार मोहका नाश होता है। ज्ञानप्रकाश मेरा स्वभाव है, आनन्द मेरा स्वभाव है और मेरा स्वभाव सदा मुझमें ही है, उसका कभी अभाव हुआ ही नहीं है–ऐसा चिन्तवन ज्ञानी निरन्तर करता है। शरीरका संयोग तो अल्पकाल रहता है, उसमें यदि आत्माका यथार्थ साधन नहीं करूँगा तो फिर कब करूँगा? इसलिए आत्माका अनुभव करना ही कर्तव्य है।—ऐसा ज्ञानी जानता है। लोगोंको बाहरकी बातें तो जल्दी समझमें आ जाती हैं, लेकिन उनमें कोई सार नहीं है; इस तत्त्वको समझे बिना तीन कालमें उद्धार नहीं हो सकता। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, उसका निर्णय करना ही इस मनुष्यभवमें करने योग्य कार्य है। परपदार्थोंकी क्रिया आत्माकी नहीं है। वे पदार्थ तो आत्मासे भिन्न हैं और भिन्नरूप रहेंगे। आत्माका स्वभाव तो ज्योंका त्यों रहता है; उसका वियोग नहीं होता। पुण्य–पापके परिणाम भी एकरूप नहीं रहते, वे भी पलटते रहते हैं।

अनन्त महिमाका भण्डार आत्मा अनन्तकालसे परमें सावधानी

करता था, अब अपनेमें रहते हुए अपनी ही सावधानी इसका कर्त्तव्य है। पुण्य–पापकी भावना करना वह विषरूप है, इसलिए आत्माकी भावना–अनुपम आनन्दकी भावना करनी चाहिए। छोटेसे छोटा अंश जो जड़ परमाणु आदि हैं वे भी पर हैं; जड़ एवं अन्य जीव आत्मासे पर हैं, वे आत्माकी वस्तु नहीं हैं। आत्मा तो ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि अनन्त गुणमय है, वही मेरा स्वरूप है। ज्ञानी एवं मुनि अनादि कालसे कहते आए हैं कि परपदार्थोंसे आत्माका कल्याण नहीं होता, परन्तु लोगोंकी समझमें यह बात नहीं आती। सिद्धगिरि हो अथवा साक्षात् तीर्थंकर देव हों तो वे आत्मासे पर हैं, उनसे तीनकालमें आत्माका कल्याण नहीं होता। इसप्रकार अनन्तकालसे संत–मुनि कहते आए हैं। अपना कल्याण अपनेसे होता है।—ऐसी भावना–रुचि करना ही कर्तव्य है।

मैं दृष्टि द्वारा देखता हूँ, दर्शन द्वारा देखता हूँ और ज्ञान द्वारा जानता हूँ। आँखमें छिद्र नहीं है कि आत्मा छिद्र द्वारा देखे! नामकर्मकी संघात प्रकृतिका फल ऐसा है कि औदारिकादि शरीर छिद्र रहित बनते हैं, इसलिए शरीरमें छिद्र नहीं है कि जिसके द्वारा आत्मा रूपको देखे, परन्तु आत्मा ज्ञान द्वारा जानता है। आत्मा आँख द्वारा नहीं देखता, किन्तु स्वयंसिद्ध आत्मा अपनी पर्यायसे जानता है और देखता है। इस शरीरका प्रत्येक अंश आत्मासे भिन्न है, इसलिए आत्मा उससे देखता–जानता नहीं है। ऐसी प्रतीति करे तो शरीरादि अपनेसे पर है ऐसा भासित हो और अनादिविभावदृष्टिका नाश हो।

आत्मामें विभाव होता है वह ऊपरसे उत्पन्न हुआ भाव है, भीतरसे आया हुआ नहीं है। आत्मामें जो पुण्य–पापके भाव होते हैं वे सब ऊपर–ऊपर तैरते हैं, जिस प्रकार पानीमें तेल ऊपर तैरता है। वह विकार मेरे स्वभावमें नहीं है। भगवान आत्माका ज्ञान अनादिसे गुप्त हुआ है। भ्रम मिटने पर तथा गुप्त ज्ञानशक्तिकी प्रतीति होने पर ज्ञान प्रगट होता है, शुद्ध–अशुद्ध दोनों दशाओंमें ज्ञान तो शाश्वत शक्तिसहित ही है और चिद्विकार तो क्रोधादिरूप होने पर होता है। अज्ञानसे क्रोध, मान, मायादि करे तो होते हैं। निर्विकार सहजभावसे स्वयं अपनेमें आचरण,

विश्राम, स्थिरतारूप परिणमन करे तो विभाव मिटता है। जो पुण्य–पापके भाव होते हैं वे बाह्य हैं। शरीर, वाणी तो आत्माकी वस्तु नहीं है; परन्तु व्यवहाररत्नत्रयके परिणाम भी बाह्य हैं, विकार हैं और अशुद्ध हैं। वे परिणाम अशुद्ध होनेसे आत्मा भी अशुद्ध होता है। यदि स्वयं बाह्य विकारमें न आए और उपयोगको तथा अपनी ज्ञायक शक्तिको जाननेमें रोके तो निजरूपमें स्थिर हो। चेतन–उपयोगकी प्रतीति करते–करते, परसे स्वामित्व मिटाकर, स्वरूप स्वादमें वृद्धि होती जाए, तब शुद्ध उपयोग स्वरसमें पूर्ण विस्तारको प्राप्त हो, वह कृतकृत्यपना है।

इस जिनेन्द्रशासनमें स्याद्वाद विद्याके बलसे निजज्ञानकलाको प्राप्त करके अनाकुल पदको अपना बना ले वह धर्म है। भगवान वीतरागके मार्गमें स्याद्वादसे आत्माके पूर्णस्वभावको प्राप्त किया जाता है। स्याद्वाद अर्थात् आत्मा आत्मामें हैं, निमित्तमें नहीं है, और निमित्त निमित्तमें है आत्मामें निमित्त नहीं है—यह स्याद्वाद है। जिसे इसकी खबर नहीं है वह अज्ञानी परमें धर्म मानकर, हर्ष कर–करके भवमें भटकता है। आत्मा तो मानों कोई वस्तु ही नहीं है। शरीर, वाणी, पर एवं व्यवहार ही उसे भासित होते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी स्याद्वादकलाको बराबर जानकर अपने अनाकुल स्वरूपको प्राप्त करता है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि परका स्वामित्व सर्वथा छोड़कर स्वरससारस्वरूप शुद्ध उपयोग करो। राग–द्वेष विषय व्याधि है, उसे मिटा–मिटाकर परमपदको प्राप्त करो।

‘‘आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान;
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषधि विचार ध्यान।’’

अतीन्द्रिय–अखण्ड–अतुल–अनाकुल सुखका अपने पदमें स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे वेदन करो। सर्व संत मुनिजन पंचपरमगुरु स्वरूपानुभव करते हैं। जितने संत–भावलिंगी मुनि जैनदर्शनमें हुए हैं वे सब अनुभव करते हैं। सिद्ध अरिहंतादि पंच परमेष्ठी सब आत्मानुभव करते हैं। आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप है, उसका उपभोग करना वह

अनुभव है। ऐसा अनुभव पंचपरमगुरु करते हैं। आचार्य, मुनि आदिको अल्प आनन्द होता है और सिद्ध तथा अरिहंतको पूर्ण आनंद होता है, परन्तु वे सब आनन्दका ही अनुभव करते हैं।

अरिहन्तका लक्षण बाह्यमें समवसरण होना नहीं है। बाह्य वस्तुएँ तो इन्द्रादिकके भी होती हैं। समन्तभद्राचार्य कहते हैं :—भगवन्! मैं तो आपको सर्वज्ञपद एवं वीतरागदशा प्रगट हुई है, इसलिए अरिहंत मानता हूँ परन्तु बाह्य वैभवके कारण अरिहंत नहीं मानता। अरिहंतपद तो आत्माकी पर्याय है, अरिहंत पद कोई जड़की दशा नहीं है। वीतराग चिदानन्द दशा हुई वह अरिहंतपद है। आप शरीरादिके स्वामी नहीं हैं, वाणीके कर्ता भी आप नहीं हैं, आपको किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं हैं, आप तो वीतराग हैं। जितने आचार्य, मुनि हुए हैं वे सब स्वरूपानुभव करके हुए हैं। महान पुरुष जिस पथ पर चले हैं उसी पथ पर ज्ञानीका चलना कर्तव्य है। उनके मार्ग पर चलना वह अनन्तकल्याणका मूल है।

चेतनामें एकाग्र हो तो वहाँसे अचल ज्ञानज्योति प्रगट होती है। एकदेश शुद्धदशा प्रगट करके ज्ञानद्वारमें ज्ञानलक्षणसे जाने। ज्ञानद्वारमें स्वरूपशक्तिको जानना। लक्षण ज्ञान और लक्ष्य आत्मा अपने ज्ञानमें भासित हो तब सहज आनन्द धारा प्रवाहित होती है, वह अनुभव है।

सहज धारावाही निजशक्ति प्रगट करते-करते सम्पूर्ण व्यक्तता करता है तब यथावत् जैसा तत्त्व है वैसा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। अब अज्ञानीकी बात करते हैं। देखो, जैसे कोई ठगविद्या द्वारा कंकड़ोंको नीलम, हीरा, मोती बतलाए, झाड़ूँके तिनकेको सर्प बनाकर दिखाए-वह सच्चा नहीं है; वैसे ही आत्मा परमें सुख मानता है वह ठगविद्या है। परमें सुख, पैसेमें सुख, खान-पानमें सुख, शरीरमें सुख मानता है वह सब ठगविद्या है, सब मिथ्या है।

परमें अपनत्व मानता है, स्त्री-परिवार आदि मेरे हैं, वे मुझे सुखका कारण हैं—इस मान्यतासे जीव स्वयं अपनेको ठगता है। सुखका प्रकाश तो तेरी अनन्तशक्तिमें भरा पड़ा है, परमें कहीं भी सुख नहीं है—ऐसी

दृष्टि कर, प्रतीति कर तो सुख होगा। आत्मा स्वयं कौन है और विकार, शरीरादि कौन हैं—उन्हें बराबर समझे तो अपने स्वरूपको प्राप्त करे। यह बात बारम्बार कही जाती है, क्योंकि अज्ञानीने अनादिसे दृढ़ मिथ्यात्वकी गाँठ बाँध रखी है। दर्शनमोहके कारण नहीं, किन्तु अज्ञानीने स्वयं पक्की गाँठ बाँध रखी है, इसलिए स्वपदको भूला हुआ है।

अब, भेदज्ञान–अमृतरस पिऐ तब अनन्त गुणधाम अभिराम आत्माकी अनन्तशक्तिकी महिमा प्रगट हो। अनन्त परमाणु जड़ हैं, एक परमाणुसे दूसरे परमाणुकी क्रिया हो तो अनन्त परमाणु पृथक्–पृथक् नहीं रहें; और निमित्तके कारण आत्मामें कुछ हो तो अजीव और जीव पृथक्–पृथक् हैं ऐसा नहीं रहता। इसलिए जीव–अजीवकी भी यथार्थश्रद्धा नहीं रही। व्यवहार है इसलिए निश्चय प्रगट होता है—ऐसा माने तो आस्रव और संवर दो तत्त्व भिन्न–भिन्न स्वतंत्र हैं—ऐसा भी नहीं माना। तथा कर्मके कारण विकार होता है, ऐसा माननेमें आए तो अजीव और आस्रव दोनों पृथक्–पृथक् नहीं रहते। इसप्रकार अज्ञानीको सात तत्त्वोंकी यथार्थ श्रद्धा नहीं होती। एक भी तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा करे तो भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहे। जिसे भेदज्ञान होता है उसे आत्माका अनुभव होता है। वही सम्यग्दर्शन है।

आत्मा परपदार्थकी क्रिया करे तो दो पदार्थ भिन्न–भिन्न नहीं रहते। दो वस्तुओंको भिन्न–भिन्न मानकर भेदज्ञान करे तो आत्मानुभव हो। परपरिणामको दुःखधाम जानकर, परकी प्रतीति मिटाकर स्वरस करना। परकी दृष्टि करके अनादिसे दुःखका सेवन किया है, इसलिए जन्मादि दुःख हुए, परन्तु अब नरभव प्राप्त करके सत्संगसे तत्त्वविचारका काल मिला है तो अब स्वभाव दृष्टि करना योग्य है। सत्संगसे नरभवमें तत्त्वविचार करके, भवबाधाको टालना चाहिए। अनादि भवसन्तानकी बाधा करनेवाला जो परभाव उसका फिर वह सेवन नहीं करता; जिससे अखण्डित, अनाकुल, अविनाशी, अनुपम एवं अतुल दशारूप हुआ जाए उसी भावका ज्ञानी सेवन करता है और वही भाव सेवन करने योग्य है।

❋ ❀ ❋

प्रवचन–६३

फाल्गुन कृष्णा ९, रविवार दि० ८-२-५३

आत्माका शांत स्वभाव है। उसकी रुचि करके एकाग्रता करना वह अनुभव है। वर्तमान दशामें पुण्य–पाप होते हैं, उनकी रुचि छोड़कर स्वभावमें एकाग्र होना वह धर्म और अनुभवप्रकाश है। जगतका चारित्र झूठा ही बना है, उसे मोहवश नहीं जानता, विकार एवं परकी प्रीति करता है, इसलिए चारित्र झूठा बना है। पुण्य–पापरूप भाव पर्यायमें हैं परन्तु वे स्वभावमें अभावरूप होनेसे झूठ हैं। आत्माकी प्रतीतिके बिना सब झूठा है। परकी प्रीति नहीं छोड़ता इसलिए संसार है। मैं ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप हूँ इसप्रकार स्व–स्वभावकी प्रीति करे तो परकी प्रीति न हो। आत्माका सम्यग्दर्शन कहो अथवा स्व–रसका सेवन कहो—वह एक ही है। पर्यायमें राग होता है परन्तु सम्यग्दृष्टि उसका आदर नहीं करते। पुण्य–पाप आकुलता है। अनाकुल शांत स्वभावकी प्रीतिमें पुण्य–पापकी प्रीति नहीं करना, परकी प्रीति नहीं करना। सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं अनाकुल शांत हूँ, उसे आत्मानंदके सिवा पुण्य–पापके परिणाममें प्रीति नहीं है। जबतक वीतराग न हो तबतक राग आता है, परन्तु रागसे धर्म हो अथवा सम्यग्दर्शन या चारित्र होगा ऐसा धर्मी जीव नहीं मानता।

संसारसे पार होनेका उपाय तो यह है कि—जानने–देखनेका व्यापार होता है वही मैं हूँ, इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। ज्ञान–दर्शनका उपयोग ही मैं हूँ। रागकी भावना छोड़ो–ऐसा कहना वह व्यवहार है। स्वयं ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसी भावना करेगा तो पार होगा ही होगा।

'मैं आत्मा हूँ'—ऐसी रुचि छोड़कर, विकार और संयोगसे लाभ मानकर मैंने दुःख सहन किए हैं। अनन्त केवलज्ञानी और संतपुरुष भी ऐसा ही कहते हैं कि–आनन्दकन्द ध्रुवस्वभावमें लीन होकर आत्माका अनुभव करो। श्रीगुरु ऐसा कहते हैं कि विकार और निमित्तकी रुचि

छोड़कर भगवान आत्माकी रुचि करो—ऐसी गुरुके कथनानुसार श्रद्धा करे तो मुक्तिका भाजन हो। स्वयं श्रद्धा करे तो गुरुको निमित्त कहा जाता है; गुरु श्रद्धा नहीं करा देते। सम्यक्श्रद्धा, राग, पुण्य या भोगवासनाका आदर नहीं करती, संयोगका आदर नहीं करती, वह तो निश्चयसे स्वभावका आदर करती है। स्वभाव एकसमयमें परिपूर्ण है। शरीर और रागमें लाभ नहीं है, अंतर–ध्रुवस्वभावके साथ लाभका सम्बन्ध है। निमित्त और रागके साथ लाभका सम्बन्ध नहीं है—ऐसी सत्यश्रद्धा करे, पश्चात् स्थिरता करे उसे केवलज्ञान अवश्य होता है। श्रद्धा चौथे गुणस्थानमें होती है। अपने स्वभावकी श्रद्धा हुई, इसलिए अंशतः आचरण हुआ, वह विशेष स्थिरता करके मुक्ति प्राप्त करेगा। इसलिए श्रद्धासे मुक्तिका स्वामी होता है—ऐसा कहा है।

अब, ग्रन्थकार हर्ष प्रगट करते हैं। धर्मी जीवको राग है इसलिए गुरुके उपकारका गान करते हैं। गुरुने भवगर्भमें से निकलनेका उपाय बतलाया, चौरासी लाखके अवतारोंमें अज्ञानी जीव पड़ा था उसे श्रीगुरुने पार उतारा—ऐसा कहते हैं। आत्मा अपनी शक्तिके विश्वाससे पार होगा–ऐसा उपाय बतलाया है। आत्मामें सिद्धपद प्राप्त करनेकी शक्ति है, वह स्वयं प्रगट कर सकता है—ऐसी प्रतीति हुई, इसलिए गुरुके प्रति विनय दर्शाकर उपकार मानता है। जो अपने स्वभावके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है उस जीवको शुभरागके समय गुरुका बहुमान आए बिना नहीं रहता।

आत्मा चिदानन्द ज्ञायक है, उसके आश्रयसे जन्म–मरणका अन्त आता है। व्यवहार करनेसे जन्म–मरणका अन्त नहीं आता।—ऐसा गुरुके कथनका आशय जिसने पकड़ा हो उसके लिए गुरुको निमित्त कहा जाता है। जिसे आत्माकी पर्यायमें होनेवाले रागका प्रेम है उसे आत्माकी पवित्रता प्रिय नहीं है। आत्माके प्रेममें पुण्यका और निमित्तका प्रेम छूट जाता है। जिसे पुण्यका प्रेम है उसे ध्रुवस्वभावका प्रेम नहीं है। इसप्रकार यथार्थ जानकर श्रीगुरुकी वचन–प्रतीतिसे पार होना चाहिए।

धर्मी जीवको प्रतीति होने पर वह रागकी दिशा बदलता है। प्रथम निश्चयकी स्थापना करके अब व्यवहारकी बात करता है। चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानमें राग आता है परन्तु दिशा बदलती है। प्रथम पैसा कमाने आदिका तीव्र अशुभ भाव होता था, मित्र, पुत्र, स्त्री, धन, शरीरादि परकी ओर तथा पाँच इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर झुकाव था। पुत्रके विवाहमें, मकानादि बनवानेमें, मित्रके उत्सवमें राग रहता था, वह पापभाव था, उसके बदले अब अपने स्वभावके प्रति रुचि करता है, विषयोंमें जो अनुराग था उसकी रुचि पलटकर अपने स्वभावमें प्रेम करता है, पंच परमगुरुमें राग करने लगा वह सब शुभराग है। अन्तर्दृष्टिमें तो ज्ञानी शुभरागको भी हेय मानता है। स्वभावमें लीनता न हो तब राग आता है; उस समय अशुभराग छूटकर शुभराग आता है। यहाँ ''शुभराग करता है''—ऐसा कहा वह निमित्तका कथन है। साधक जीवको शुभराग आता है, परन्तु वह उसे मुक्तिका कारण नहीं मानता। स्वभावकी श्रद्धा एवं लीनतासे मुक्ति होती है।

अज्ञानीको पाँच गुरुओंके प्रति वास्तवमें प्रीति नहीं है। गुरु ऐसा कहते हैं कि स्वाश्रय द्वारा अंतर्स्वभावकी दृढ़ता करो, परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं करता। गुरु ऐसा कहते हैं कि हम आत्माका अनुभव करते-करते गुरु हुए हैं—इसप्रकार गुरुके कथनानुसार अपने आत्माकी श्रद्धा करता है ऐसे धर्मीको गुरुके प्रति बहुमान एवं राग है, परन्तु अज्ञानीको गुरुके प्रति वास्तवमें राग है ही नहीं। ज्ञानीको मोक्ष अत्यंत सुगम होता है।

जिसप्रकार संध्याकी लालिमा सूर्यास्तका कारण है तथा प्रभातकी लालिमा सूर्योदयकी तैयारी दर्शाती है, वैसे ही अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय या मुनि—इन पाँच गुरुओंके प्रति भेदज्ञान सहित राग नहीं है उसे मात्र शरीर, धनादिका राग है जो केवलज्ञानकी अस्तताका कारण है। राग वास्तवमें केवलज्ञानकी अस्तताका कारण नहीं है परन्तु रागके साथ रही हुई विपरीत श्रद्धा केवलज्ञानकी अस्तताका कारण है।

धर्मी जीवको स्त्री-पुत्रादिकी अपेक्षा विशेष अनुराग पंचपरमेष्ठीके

प्रति आए बिना नहीं रहता। कोई कुदेवादिकी श्रद्धा छोड़कर सुदेवादिकी श्रद्धा करे, परन्तु यदि स्वभावकी श्रद्धा न करे तो उसका निमित्त पलट गया है ऐसा भी वास्तवमें नहीं कहा जाता। निमित्त, संयोग और रागकी रुचि छूटी है और स्वभावकी रुचि हुई है ऐसे धर्मी जीवका उपादान पलट गया है, इसलिए वास्तवमें उसका निमित्त पलट गया ऐसा कहा जाता है।

स्वभावकी प्रीति नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवको कुटुम्बादिके प्रति जो अशुभराग है वह चैतन्यसूर्यको हीन कर देगा। मिथ्याबुद्धि ही चैतन्यसूर्यकी अस्तताका कारण है, इसलिए उसके अशुभरागको चैतन्यसूर्यकी अस्तताका कारण कहा जाता है। जिसे आत्माकी श्रद्धा हुई हो उसे पंचपरमेष्ठीके प्रति शुभराग आऐ बिना नहीं रहता। जिसे स्वभावकी प्रतीति नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टिको अशुभराग केवलज्ञानकी अस्तताका कारण है।

धर्मी जीवको पंचपरमगुरुके प्रति राग आता है। अशुभराग कम हो गया है और शुभराग आता है; उस शुभरागका भी अभाव करके वीतरागता एवं केवलज्ञान प्रगट करेगा। अपूर्णदशामें शुभराग आए वह बात अलग है, परन्तु शुभरागसे धर्म माने वह मिथ्यादृष्टि है। धर्मीजीव दृष्टिमें शुभरागको भी हेय मानता है और ज्ञानानन्दस्वभावको उपादेय जानता है, इसलिए उसमें लीनता होने पर रागका अभाव होकर केवलज्ञान सूर्यका उदय होगा।

जिसे आत्माके स्वभावका आदर है उसे रागका किंचित्मात्र आदर नहीं है, इसलिए धर्मात्माके पंच परमगुरुके प्रति शुभरागको केवलज्ञानके उदयका कारण कहा है।

अब, अर्थ, काम, धर्म और मोक्षकी बात करते हैं।—

(१) अर्थ अर्थात् लक्ष्मी। धर्मी जीवको लक्ष्मी अर्थरूप भासित नहीं होती, परन्तु वह उसे अनन्त अनर्थका निमित्तकारण मानता है। इसलिए लक्ष्मी किसी भी कामकी नहीं है। लक्ष्मीसे सुख प्राप्त होगा, ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है। जिसे आत्मस्वभावरूपी ऋद्धिकी रुचि हुई है वह

विचारता है कि पैसा अनर्थका निमित्त है, उसका कोई प्रयोजन नहीं है। पैसेसे निवृत्ति नहीं मिलती, परन्तु पैसेके प्रति आकर्षण अनर्थका कारण है। धर्मीजीव पुण्य और पुण्यके फलसे प्रेम नहीं करता। हम तो शुद्ध आनन्दस्वरूप हैं—ऐसा वह मानता है। दूसरे आत्मा अपनी अपेक्षासे अनात्मा हैं, सिद्ध भी अपनी अपेक्षासे अनात्मा हैं, समस्त संयोग पर हैं, जितना राग होता है वह हानिकारक है, स्वभावमें लीन होना वह कल्याणकारी है।

धर्मी जीव विचारता है कि लक्ष्मी अनर्थका कारण है। मेरी चैतन्यलक्ष्मी ही मेरा अर्थ है। परमार्थको साधे वह मेरी लक्ष्मी है। निर्धनता कोई अवगुण नहीं है, सधनता गुण नहीं है। निर्धनता या सधनता तो पाप–पुण्यके खेल हैं, परमार्थको साधे ऐसा आत्मा वास्तवमें अर्थ है। यह अर्थ–पुरुषार्थकी बात कही।

(२) अब, कामकी बात करते हैं। इन्द्रिय–विषयोंकी कामनासे क्या काम? चिदानन्द आत्माका कार्य करना वह सच्चा काम है। मैं अनाकुल शांत स्वरूप हूँ, वही मेरा काम है, वही मेरा ध्येय है; उसी भले कार्यको सुधारे वह निजभावना है।

प्रवचन–६४

फाल्गुन कृष्णा १०, सोमवार दि० ९-२-५३

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी व्याख्या करते हैं।

(२) पाँच इन्द्रियोंके विषयोंसे क्या काम है? स्वयं सच्चिदानंद प्रभु है ऐसी शुद्धिकी भावनासे कामको सुधारे। परपदार्थसे आत्मामें सुधार नहीं होता, कोई पदार्थ किसीको सुधारता नहीं है। मैं चिदानन्द हूँ, अविकारी हूँ—ऐसी अन्तर्भावना करना वह काम है, वही धर्म और मोक्षमार्ग है।

(३) **धर्म :**—सर्वज्ञकी वाणीमें सर्व पदार्थोंकी स्वतंत्रताकी बात आई है, उससे विरुद्ध कहे वह मिथ्यात्व है। शुभसे धर्म मनाए वह मिथ्यात्व है। आत्मा साक्षीस्वरूप है, उसकी श्रद्धा और लीनतासे धर्म होता है। उसके बदले जो विकारसे धर्म मनाए वह अधर्म है। परकी दयासे अथवा परकी सेवासे परमार्थरूप धर्म माने वह मिथ्याधर्म है। परकी सेवा कर सकता हूँ वह मिथ्याभाव है। मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र बंधके कारण हैं। परकी पर्याय अपने आधीन नहीं है, परके जीवन–मरण उस–उस जीवके आधीन हैं; परन्तु परकी अवस्था मुझसे हुई और मेरी अवस्था परसे हुई—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आत्माके आश्रयसे होनेवाली अविकारी अवस्था वह धर्म है। बाहरसे धर्म नहीं आता। अज्ञानी मानता है कि परके आशीर्वादसे धर्म होगा। परकी अवस्था उस–उस पदार्थसे पलटती है, इस जीवके कारण वह नहीं पलटती। प्रत्येक पदार्थमें नवीन पर्यायका उत्पाद, पुरानी पर्यायका व्यय और गुणोंकी ध्रुवता विद्यमान है—ऐसा समझना चाहिए।

जिस मिथ्यारूप धर्मसे अनन्त संसारमें भटकना पड़ता हो वह कैसा धर्म? सर्वज्ञ भगवानने छह द्रव्य कहे हैं। जो शुभराग आता है वह पुण्य

है, उसमें देव–गुरु–शास्त्र निमित्त हैं। रागरहित, निमित्तरहित आत्माकी (निजस्वभावकी) श्रद्धा करना वह धर्म है। अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावमें परपदार्थ नहीं हैं और परपदार्थके चतुष्टयमें आत्माके चतुष्टय नहीं हैं। आत्मा ज्ञाता है, स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसकी अखण्ड रुचि करना, ज्ञान करना, लीनता करना वह धर्म है। व्यवहार रत्नत्रय रहित शुद्धोपयोगरूपी लीनता वह साक्षात् निजधर्म है, उसका निमित्तकारण व्यवहाररत्नत्रय है। सच्चे देव–गुरु–शास्त्रकी श्रद्धा, पंचमहाव्रतादि परिणाम वह निमित्तमात्र कारण है परन्तु व्यवहारसे निश्चय होता है—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। स्वयं निश्चय प्रगट करे तो व्यवहारको निमित्त कहा जाए।

सर्वज्ञकी दिव्यध्वनिके अनुसार षट्खण्डागमोंकी रचना हुई है। भाषाका कर्ता आत्मा नहीं है। भगवानकी वाणी अक्रम है। सर्वज्ञको अभेद एकरूप दशा हुई है, इसलिए निमित्तरूपसे अक्रम अनक्षरी वाणी है। निचली दशामें राग और भेददशा है, इसलिए निमित्तरूपसे क्रमवाली वाणी होती है। भगवानको वाणी निकालनेका विकल्प नहीं है, वाणी सहज ही निकलती है। उसमें ऐसा आया है कि आत्मा शक्तिवान् है, आत्मामें सर्वज्ञपद भरा है; सर्वज्ञपद शरीरमेंसे, रागमेंसे अथवा अल्पज्ञ पर्यायमेंसे नहीं आता, अंतरमें एकरूप सर्वज्ञस्वभाव विद्यमान है उसमेंसे सर्वज्ञता आती है।

(१) वज्रकाय निमित्त है, वह जड़ है, उसमेंसे सर्वज्ञपद नहीं आता।

(२) वर्तमान राग उपाधि है, उसमेंसे सर्वज्ञपद प्रगट नहीं होता।

(३) क्षयोपशमपर्याय अपूर्ण है, उसमेंसे सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती।

(४) अंतर्स्वभाव सर्वज्ञतासे परिपूर्ण है उसमेंसे सर्वज्ञता प्रगट होती है।

—इसके अतिरिक्त जो अन्य प्रकारसे कहते हैं वे सर्वज्ञसे विरुद्ध हैं।

प्रश्न :—कोई किसीका उपकार नहीं करता, तो फिर सर्वज्ञसे क्या लाभ है?

समाधान :—जिसके उपादानकी योग्यता हो उसको वाणी निमित्त कही जाती है। नियम एक ही होना चाहिए। यदि भगवानकी वाणीसे लाभ हो तो समवसरणमें सबको लाभ होना चाहिए, परन्तु सब जीव धर्म नहीं समझते। जो उपादान स्वयं आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट करते हैं उनको वाणी निमित्त कही जाती है। उपादानके बिना निमित्त किसका? नैमित्तिक पर्याय प्रगट करते हैं उस समय जो उसके अनुकूल पदार्थ उपस्थित है उस पर निमित्तका आरोप आता है। वाणीसे लाभ होता हो तब तो सर्व श्रवण करनेवालोंको समान लाभ होना चाहिए। सर्वज्ञकी वाणीमें अखण्ड धारा आती है वह बारह अंगका रहस्य लेकर प्रवाहित होती है। यदि वाणीसे लाभ होता हो, तब तो सबको बारह अंगका ज्ञान होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है। जैसा कार्य होता है वैसा उस निमित्त पर आरोप आता है। सभाके जीवोंको अपनी योग्यतानुसार ज्ञानकी विशेषता होती है। स्वयं सामान्य पर दृष्टि करे तो ज्ञानका विशेष परिणमन हो। भगवानके ऊपरका लक्ष छोड़े तो सम्यग्दर्शन होता है।

प्रथम भगवानकी वाणी सुनने का विकल्प आता है, परन्तु विकल्प छोड़कर अंतर्अनुभव करना वह धर्म है। सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं अनेकान्त बतलानेवाली यथार्थवाणीको प्रथम मानना चाहिए। विकार विकारसे है वह धर्मसे नहीं है। उपादान उपादानसे है वह निमित्तसे नहीं है—ऐसा अनेकान्त धर्म वस्तुमें निश्चित् करना चाहिए। प्रथम तो ज्ञानीके पास रुचिपूर्वक उनकी वाणीका श्रवण करना चाहिए। सुनते समय जो शुभराग होता है वह चारित्रगुणकी विपरीत पर्याय है, उससे सम्यग्दर्शनकी निर्विकारी पर्याय प्रगट हो ऐसा कभी नहीं हो सकता। अंतरमें प्रभुत्वशक्ति विद्यमान है, उसकी प्रतीति एवं लीनता करनेसे पर्यायमें प्रभुता प्रगट होती है।—ऐसा देव–गुरु–शास्त्र कहते हैं। जो विकल्प आता है उसका लक्ष छोड़कर प्रतीति और लीनता करे तो पूर्वके रागको भूत नैगमनयसे कारण कहा है। यथार्थ कारण तो शुद्ध स्वभाव है। मुनिको अट्ठाईस मूलगुण

पालनेका शुभराग आता है उस समय आत्माके अवलम्बनसे जितनी वीतरागी दशा प्रगट हुई है वह निश्चय है, उसीसमय जो शुभराग वर्तता है वह वर्तमानमें निमित्तकारण अथवा व्यवहार है। इसप्रकार धर्मकी बात कही। इसमें धर्मका पुरुषार्थ बतलाया।

अपने आत्माकी सच्ची श्रद्धा करे वह सच्चा अर्थ है, वह सच्चा पुरुषार्थ है। रागके पुरुषार्थमें अपूर्वता नहीं है, शुभ–अशुभ भावमें धर्म नहीं है। पुण्य–पापकी रुचि छोड़कर आत्माका पुरुषार्थ करे वह कार्यकारी है।

(४) **मोक्ष :—**कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष होनेके पश्चात् जीव पुनः संसारमें आता है, परन्तु वह बात मिथ्या है। सम्यग्दृष्टि जीवको रागकी रुचि नहीं है, कर्मबंधनकी रुचि नहीं है। ऐसी दृष्टिवानको भी स्वभावके बाहर निकलनेकी भावना नहीं है; तब फिर जिसे पूर्ण निर्मलदशा–मोक्ष प्रगट हुआ है वह पुनः संसारमें अवतरित हो ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

जब–जब सत् समझनेकी योग्यतावाले जीव हों तब कोई जीव उन्नतिक्रमसे चढ़ता–चढ़ता तीर्थंकर पद प्राप्त करके अवतरित होता है, अपने स्वभावका साधन करता हुआ अपने कारण अवतरित होता है और जिसे धर्म समझनेकी योग्यता है उसे भगवान निमित्त कहे जाते हैं।

''मोक्ष कहा निज शुद्धता,'' अपनी पूर्ण शुद्धता वह मोक्ष है। स्वभाव त्रिकाल परिपूर्ण है, उसका अवलम्बन लेकर पूर्णदशा प्रगट करे वह मोक्ष है। मक्खनमेंसे घी बनता है परन्तु घीमेंसे मक्खन नहीं होता। संसारका नाश होकर मोक्षदशा होती है, परन्तु मोक्षदशा होनेके पश्चात् संसारका उत्पाद नहीं होता।

श्री प्रवचनसारमें कहा है कि जो भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धता व्यक्त करता है उसका उत्पाद व्ययरहित है अर्थात् मोक्षका नाश होकर अब फिर कभी संसार होगा ही नहीं। तथा संसारका भंग उत्पादरहित है अर्थात् उसके संसारका नाश हुआ उस संसारका उत्पाद हो ऐसा कदापि नहीं हो

सकता। केवलज्ञान अथवा सिद्धपर्याय एक समय रहती है, वह गुण नहीं किन्तु पर्याय है। उसका उत्पाद–व्यय होता है परन्तु केवलज्ञान अथवा सिद्धदशा सदृशरूप रहती है। उसका व्यय होकर संसार नहीं होता। इस अपेक्षासे यह बात कही है।

इसे मर्यादा–महोत्सव कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने चतुष्टयमें टिकता है परमें नहीं टिकता। अपने द्रव्यमें रहकर लीनता करना वह मर्यादा–महोत्सव है।

कर्म कर्ममें वर्तता है, विकार विकारमें वर्तता है। जिसको विकारकी रुचि छूट गई है उसे कर्मकी रुचि छूट जाती है। स्वभावकी रुचि एवं पूर्ण लीनता करके मोक्षदशा प्राप्त करे वह पुनः कर्मबंध नहीं करता। इसप्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका बराबर विचार करना। लक्ष्मी हितकर नहीं है, पाँच इन्द्रियोंके विषय किसी कामके नहीं हैं, पुण्य वह धर्म नहीं हैं और पूर्ण शुद्धता वह मोक्ष है।

ऐसा विचार करना कि जिसप्रकार दीपकको मन्दिरमें रखनेसे सब कुछ सूझता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञानके प्रकाशसे सब कुछ सूझता है। अपने द्रव्यकी तथा निमित्तकी सूझ पड़ती है। चतुर्थ गुणस्थानवाले ज्ञानीको भी प्रयोजनभूत बातमें भूल नहीं होती, उसके ज्ञानमें विपरीतता नहीं आती। किन्हीं ज्ञानीको ज्ञानका विकास अल्प हो तथापि विपरीतता नहीं है। सात तत्त्वोंको पृथक् मानते हैं। कर्मसे विकार माने अथवा आस्रवसे धर्म माने वह अज्ञानी है। कर्म अजीव है, पुण्य–पाप आस्रव हैं, द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्म ऐसा वास्तवमें माने तो सात तत्त्व नहीं रहते।

स्वभावके आश्रयसे जो शुद्ध पर्याय प्रगट होती है वह संवर–निर्जरा है, मोक्ष पूर्ण निर्मल पर्याय है। आदि प्रकारसे सातों तत्त्वोंमें ज्ञानीको विपरीतता नहीं आती। द्रव्य संवर, द्रव्य आस्रव, द्रव्यबंध, द्रव्यपुण्य–पापादि अजीवमें आ जाते हैं। इसप्रकार सात तत्त्वोंको यथार्थ जानना चाहिए।

ज्ञान द्वारा किस प्रकार विचारता है?

धर्मी जीव विचारता है कि—मैं चेतन हूँ, मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, दृष्टिद्वारसे देखना वह मेरा स्वभाव है, रागसे देखना वह मेरा स्वभाव नहीं है। जीव आँखसे नहीं देखता, आँख तो अजीव है। उसका वर्तमान वह पदार्थसे है। आत्मासे आँखकी क्रिया नहीं होती। मैं तो अपने दर्शन द्वारा देखता हूँ, आँखसे नहीं, रागसे नहीं, इन्द्रियसे नहीं।

भगवान आत्मा किसी लिंगसे ग्रहण हो ऐसा नहीं है। आत्मा इन्द्रियोंसे परको नहीं जानता तथा अपनेको भी इन्द्रियोंसे नहीं जानता। अपने छहकारक–कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण अपनेमें हैं। अपनी पर्यायका कर्ता स्वयं है, पर्यायरूपी कार्य अपना है, साधन अपना है, अपनी निर्मलताका अपनेको सम्प्रदान करता है, स्वयं नित्य रहकर अपनेमेंसे पर्याय प्रगट होती है। अपने आधारसे शुद्धता प्रगट होती है। मैं निमित्तके आधारसे कार्य नहीं करता, अपने आधारसे कार्य करता हूँ—ऐसा विचार ज्ञानी करता है। इसप्रकार छह कारक अपनेमें हैं।—ऐसा समझकर आत्माकी श्रद्धा करे उसे धर्म होता है।

સહજ ચિદાનંદ

प्रवचन–६५

फाल्गुन कृष्णा ११, मंगलवार दि० १०-२-५३

जिसे धर्म करना हो उसे क्या करना? धर्म कहो, शान्ति कहो, अहिंसा कहो, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहो, सब एक ही हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपी है, अनन्त शक्तियोंका भण्डार है–उसकी रुचि करना वह धर्म है। शरीर, मन, वाणीकी क्रिया जड़से होती है, आत्मासे नहीं होती। कोई भी पदार्थ परिवर्तन रहित नहीं होता। परपदार्थका आत्मा कुछ कर नहीं सकता। सम्यग्दृष्टि सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है। परवस्तुएँ आत्माको सहायता करें ऐसी शक्ति उन वस्तुओंमें नहीं होती और आत्माका स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह परकी सहायता करे।

ज्ञान द्वारा किस प्रकार विचार करें? शरीरमें आत्मा है, वह दृष्टि द्वारसे देखता है। आत्मा शरीर एवं इन्द्रियोंसे नहीं देखता, अपने स्वभावसे देखता है। आत्मा शरीरका कुछ नहीं कर सकता। परकी हिंसा या अहिंसा नहीं कर सकता। अपनी पर्यायमें तीव्र राग पापभाव है और मन्द राग पुण्यभाव है। प्रत्येक पदार्थ सत् है, उसकी पर्याय उसके कारण होती है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्यत्व गुणके कारण द्रवता है–प्रवाहित होता है, उसका परिणमन उसीसे होता है। आत्मा परका कुछ कर नहीं सकता, परन्तु वह परका कर सकता है–ऐसा कहना वह व्यवहारमात्र है। घीके संयोगसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहा जाता है, वैसे ही पर्याय अपने द्रव्यके कारण होती है, तब व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि वह परवस्तुके कारण होती है।

यदि जीवकी इच्छानुसार परमें कार्य होता हो तो वह अपने स्वजन स्त्री–पुत्रादिको क्यों मरने देता है? परमें कुछ हो नहीं सकता। पूर्वपर्यायका व्यय, नवीन पर्यायका उत्पाद और गुणरूपसे ध्रुवता प्रत्येक

पर्यायमें हो रहे हैं। अज्ञानी व्यर्थ ही अभिमान करता है। व्यवहारसे तो मैं परका कर्ता हूँ–ऐसी मिथ्यात्वशल्य अज्ञानीके होती है। परपदार्थकी पर्याय आत्मा कर सकता हो तो उस पदार्थके गुणके वर्तमानने क्या किया? परके जीवन–मरण अथवा सुख–दुःख करनेकी शक्ति जीवमें नहीं है; जीवका अशुभभाव अपनी मर्यादामें रहता है, परन्तु परमें कार्य नहीं करता। एक समयमें उत्पाद, व्यय, ध्रुवता–तीनों अंश प्रत्येक पदार्थमें स्वतंत्ररूपसे विद्यमान हैं।

ज्ञानी समझता है कि परकी पर्याय परके कारण होती है और पर्यायमें जो राग होता है वह भी अपराध है। उसका भी वास्तवमें वह कर्ता नहीं है, आत्मा तो ज्ञानका कर्ता है। ऐसा समझे तो धर्म हो।

आत्मा दृष्टिद्वारसे देखता है; परन्तु अज्ञानीको भ्रम होता है कि वह नेत्ररूपी छिद्रोंसे देखता है। यह शरीर तो छिद्र या दरार रहित है। संघात नामकर्मकी प्रकृतिके निमित्तसे शरीर तो अखण्ड पिण्ड है, उसमें दरार नहीं है। आत्माके सामने अखण्ड शरीर होने पर भी वह अपने दृष्टि द्वारसे देखता है, इन्द्रिय द्वारा नहीं देखता। इन्द्रिय और आत्माके बीच अत्यन्त अभाव है। आत्मा स्वयंसिद्ध है। जिसकी ऐसी दृष्टि हुई है वह धर्मी कहता है कि मैं दृष्टि द्वारसे देखता हूँ, अपने ज्ञाताके ज्ञान द्वारा जानता हूँ; पुस्तकसे नहीं किन्तु वर्तमान ज्ञानपर्यायसे जानता हूँ। –ऐसा मेरा स्वभाव है। इसप्रकार अपने उपयोग द्वारा स्वयं देखता–जानता है। कर्मसे, शरीरसे या पुण्य–पापसे मेरा चेतनपना नहीं है, मेरा चेतनत्व तो मेरे ज्ञाता–द्रष्टा उपयोगसे है। परकी क्रिया परके कारण होती है, वह पदार्थ भी सत् है, अनादिनिधन है, उसका कर्ता तीनकालमें अन्य कोई नहीं है और उसकी वर्तमान पर्यायका भी अन्य कोई कर्ता नहीं है। आत्मा त्रिकाल सत् है। उसकी वर्तमानपर्यायका भी अन्य कोई कर्ता नहीं है। आत्मा त्रिकालसत् है। उसकी वर्तमान पर्याय रागकी हो अथवा कोई भी हो, वह उसके अपने कारण सत् है। ऐसा धर्मी जीव समझता है–विचार करता है। पुत्र–पुत्री स्वतंत्र है, उनका शरीर और आत्मा अपनी–अपनी मर्यादामें वर्तता है, कोई किसीकी मर्यादाका स्पर्श नहीं करता। आत्मा त्रैकालिक

पदार्थ है, उसके ज्ञान–दर्शनादि गुण हैं। वस्तुका स्वभाव वह धर्म है। आत्मा अपना उपयोग कर सकता है। शुभाशुभ उपयोग करे वह बंधका कारण है और शुद्ध उपयोग करे वह अबंधता अथवा धर्मका कारण है।

कोई कहे कि जड़की पर्याय करना किन्तु अभिमान नहीं करना। उससे कहते हैं कि वह तो मूलमें भूल है। जड़ पदार्थ क्षेत्रांतर अथवा अवस्थान्तर उनके अपने कारण होता है, आत्मा उनका कर्ता–हर्ता नहीं है, फिर भी आत्माको जड़ पदार्थका कर्ता कहना वह उसे गाली देने जैसा है। उस पदार्थके द्रव्य–क्षेत्र–भाव तो त्रिकाल हैं, उसका स्वकाल है या नहीं? है, तो उस पर्यायका कर्ता वह–वह पदार्थ है। गुण–पर्यायका पिण्ड वह द्रव्य है, उसकी चौड़ाई है वह क्षेत्र है, उसकी वर्तमान अवस्था वह स्वकाल है और उसकी शक्तियोंको भाव कहते हैं। परमाणुमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अस्तित्व आदि अनन्तगुण हैं। एक परमाणु दूसरे परमाणुके कारण नहीं है। शुभ–अशुभ भावरूपी कषायपरिणति तथा शुद्धभावरूपी अकषायपरिणति जीवमें है किन्तु जड़में नहीं है। जड़के भाव अथवा गुण जड़में हैं। उन पदार्थोंके गुण नित्य रहकर प्रतिसमय उनकी पर्याय उनसे ही होती है। प्रत्येक पदार्थके छहकारक अनादिसे हैं इसलिए स्वयं कर्ता होकर कार्यरूप होते हैं।

स्वयं अपनी पर्यायका कर्ता है, स्वयं अपनेमें कार्य करता है, अपने साधनसे कार्य करता है, अपने आधारसे कार्य करता है–इत्यादि छहकारक प्रत्येकमें हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कार्य नहीं करता। धर्मी विचारता है कि परकी विशेषतासे, संयोगसे आत्मामें प्रभाव नहीं होता, विलक्षणता नहीं आती। द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल आदि मंगलका कथन शास्त्रमें आता है। उसका अर्थ यह है कि स्वभावकी रुचि करके पवित्रता प्राप्त करता है। निजशुद्धात्माके आश्रय द्वारा पुण्य–पापके अहंकारको गाले वह मंगल है। इसप्रकार जिस क्षेत्रमें मंगल प्रगट करे उस क्षेत्रको मंगलपनेका उपचार आता है। शास्त्रकारका आशय समझना चाहिए।

सर्वज्ञ तीनकाल–तीनलोकके सर्व पदार्थोंके ज्ञाता हैं, ऐसा निर्णय

कौन करता है? अल्पज्ञपर्यायके द्वारा सर्वज्ञका निर्णय नहीं होता, अपने सर्वज्ञस्वभावके आधारसे वह निर्णय होता है। वैसा निर्णय करनेवाला कह सकता है कि जिस समय जो पर्याय होना है वह होना है। परकी पर्याय जो होना है वह होना है, वह किसके लिए सच है?

अल्पज्ञता और राग-द्वेषको हेय मानकर सर्वज्ञस्वभावको उपादेय माने और स्वभावोन्मुख हो उसके लिए वह सच है और उसीमें पुरुषार्थकी वृद्धि होती है। सर्वज्ञकी प्रतीति अल्पज्ञताके आधारसे होती है?–नहीं; सर्वज्ञस्वभावके आधारसे सर्वज्ञ हुआ जा सकता है–ऐसा निर्णय करनेवाला कह सकता है कि प्रत्येक पदार्थ व्यवस्थित है, कोई भी पदार्थ अव्यवस्थित नहीं है। पदार्थ निश्चित् है उसका निर्णय किसने किया? जगत्में सर्वज्ञ हैं उसका निर्णय किसप्रकार किया? अल्पज्ञता और रागद्वेषको हेय मानकर, स्वभाव उपादेय है ऐसा निर्णय करे तो अल्पज्ञता घट–घटकर सर्वज्ञता होती है–ऐसा वस्तुस्वरूप है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, किन्तु शरीर स्वभावी नहीं है, राग–द्वेषस्वभावी भी नहीं है। राग–द्वेष एक समयमें हैं, ज्ञान–दर्शन त्रिकाल हैं–इसप्रकार गुणीकी रुचि होने पर पर्यायकी रुचि छूट जाती है।

धर्मी विचारता है कि मैं अपने ज्ञान द्वार द्वारा जानता हूँ, जैसा सत्य है उसे वैसा ही स्वीकारना वह धर्म है, विपरीत मानना वह हिंसा है। स्वभावकी दृष्टि एवं एकाग्रता करना वह अहिंसा है। परका कर्त्ता–हर्ता मानना और रागादिमें एकाग्रता करना वह हिंसा है। हिंसा–अहिंसा कार्य हैं, वे पर्यायमें होते हैं, द्रव्य–गुणमें नहीं हैं। निमित्तसे कार्य होता है, पुण्यसे धर्म होता है वह मान्यता हिंसा है। वर्तमान पर्यायमें राग–द्वेष कर्मके कारण नहीं होते, अपनी निर्बलतासे होते हैं, परन्तु वह मेरा यथार्थ स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ–इसप्रकार ज्ञाता–द्रष्टामें एकाग्रता करना वह अहिंसा है।

जड़की पर्यायका अस्तित्व जड़में है, स्वयं अपनेमें है। शरीरको चलाना वह आत्माके हाथमें नहीं है। स्वयं शरीरका भी ज्ञाता व्यवहारसे

है। स्वयं ऐसा जानता है कि शरीरमें, शरीरसे भिन्न, शरीरको देखनेवाला मेरा चेतनरूप है। आत्मा जड़को चलाता है वह निमित्तका कथन है।

तनता, मनता, वचनता, जड़ता जड़सम्मेल।
लघुता, गुरुता, गमनता,–ये अजीवके खेल॥

जड़की पर्याय जड़के कारण होती है, उसमें आत्मा निमित्त है। जीवमें इच्छा होती है, इसलिए उसे प्रेरक कहते हैं। निमित्तके दो प्रकार हैं। स्थिर पदार्थ निमित्त हो उसे उदासीन निमित्त कहा जाता है; इच्छावान् अर्थात् गतिमान पदार्थ निमित्त हो उसे प्रेरक निमित्त कहते हैं। आत्मामें इच्छा है, इसलिए आत्माको प्रेरक निमित्त कहते हैं, परन्तु आत्मा प्रेरणा करके शरीरको चलाता है–ऐसा उसका अर्थ नहीं है। सर्वद्रव्य असहाय हैं, कोई द्रव्य किसीका प्रेरक नहीं है। उदासीन और प्रेरक यह तो निमित्तके दो भेद हैं। अज्ञानी कहते हैं कि–हम तो प्रेरक निमित्त हैं, इसलिए तो कार्य होता है न? परन्तु वह बात मिथ्या है।

श्री समयसार–नाटकमें कहा है :–

कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताको मूलप्रेरक कह हु तुम कौन है।
पुग्गल करम जोग किंधों इन्द्रिनिकौ भोग,
किधौं धन किंधौं परिजन किंधौ भौन है॥

गुरु कहैं छहों दर्व अपने अपने रूप,
सबनिकौ सदा असहाई परिनौन है।
कोऊ अब काहू को न प्रेरक कदापितातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६२॥

कर्म जड़ है, कर्मसे विकार नहीं होता, अपनेसे विकार होता है तब कर्मको निमित्त कहा जाता है। जीव अपनी दृष्टिसे पढ़ता है, लोग कहते हैं कि परका वास्तवमें प्रभाव पड़ता है, परन्तु वह भूल है; क्योंकि पर–पर्यायका आत्मामें प्रवेश नहीं है।

यहाँ आत्माका निमित्तपना बतलाना है। चेतन प्रेरक है, अचेतन देखता–जानता नहीं है। अजीवको अपनी खबर नहीं है, उसे जीव जानता है, तथापि अजीवकी पर्याय होना जीवसे मानना अथवा जीवकी पर्याय अजीवसे हुई मानना वह भूल है। अजीवसे जीवमें कार्य माने तो साततत्त्व भिन्न नहीं रहते। जड़ अनुपयोगी है वह प्रसिद्ध है। मृत्युकालमें जीव चला जाता है तब शरीर कुछ नहीं जानता, जाननेवाला जीव चला गया है। ज्ञान आत्माकी वस्तु है। जड़की पर्यायको ज्ञान नहीं है तथापि अज्ञानी अभिमान करता है।

गमन करना वह पुद्गलका धर्म है, पुद्गलका खेल है। भाषाका होना, शरीरका चलना वह पुद्गलका धर्म है, आत्माके कारण वह नहीं चलता। शरीर कुछ जानता नहीं है। स्वयं जानने–देखनेवाला है ऐसा निर्णय करे तो परका अहंकार छूटे।

जगतके पदार्थ स्वतंत्र हैं। अपनी परिणतिसे चल रहे हैं। उनको सहायता करनेवाला या रोकनेवाला कोई नहीं है। परका कर सकता हूँ ऐसा अभिमान मिथ्यादर्शनशल्य है, जो अनन्तगुना पाप है।

जड़की पर्याय जड़से होती है, वह आत्मासे होती है ऐसा मानना वह अभिमान है और उस अभिमानको तत्त्वज्ञान द्वारा छोड़ना वह मोक्षका मूल है। अशुद्ध पर्याय वह संसार है, स्वसन्मुखतारूप अपूर्ण निर्मलपर्याय वह मोक्षमार्ग है और पूर्ण शुद्धपर्याय वह मोक्ष है। परका अहंकार छूटना और स्वकी दृढ़ता होना वह मोक्षका मूल है।

चरणानुयोगके कथनमें शुभकी बात आती है, वहाँ शुभ विकल्पका ज्ञान कराते हैं। शुभभाव आता है, परन्तु शुभभावसे अचेतनकी पर्याय नहीं होती। तिनकेका एक टुकड़ा करनेकी शक्ति जीवमें नहीं है। वह पुद्गल है और वह अपने कारण पुरता तथा गलता है। अज्ञानी मानता है कि मुझसे उसके टुकड़े होते हैं। हाथकी पर्याय तथा घास–तृणकी पर्यायमें अन्योन्यअभाव है। हाथसे तृणके टुकड़े हुए वैसा कथन निमित्तका ज्ञान करानेके लिए है, परन्तु हाथसे टुकड़े हुए ऐसा उसका तात्पर्य नहीं है।

जीवमें द्वेष उत्पन्न हुआ इसलिए शत्रुका नाश कर सकता है अथवा राग हुआ इसलिए आहार ले सकता है ऐसा नहीं होता। परका अभिमान छोड़ना वह मोक्षका मूल है। ''दंसण मूलो धम्मो'' वीतराग चारित्ररूपी धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। परकी क्रियासे अथवा रागसे धर्म माने वह मिथ्यादृष्टि है। एकसमयकी पर्याय व्यक्त है और शक्ति अव्यक्त है। शक्तिवानकी श्रद्धा करना वह रागद्वेष छूटने तथा वीतरागता होनेका मूल है।

''दर्शनशुद्धिसे ही आत्मसिद्धि होती है।'' दर्शन अर्थात् भगवानके दर्शनसे नहीं, परन्तु अपने आत्मदर्शनसे आत्माकी सिद्धि होती है।

पुनः कहते हैं कि–शरीर–वासनाका त्यागी होना, शरीरके कर्तृत्वकी वासना छोड़ना चाहिए। मैं हूँ तो शरीर चलता है–ऐसी मिथ्यात्वकी गंध छोड़ना। स्वभावकी भावना करनेसे शरीरकी वासना छूट जाती है। शरीरकी वासना छोड़नी नहीं पड़ती। अपने स्वरूपका अनुभव होने पर शरीर–वासना छूट जाती है। अज्ञानी मानता है कि–शरीर, मन, वाणी, कर्म ही मैं हूँ; जिनसे लाभ माना उन पदार्थोंको अपना माने बिना नहीं रहेगा। शरीर, मन, वाणी तो चैतन्यकी शक्तिसे शून्य हैं, राग–द्वेषमें चैतन्यकी बस्ती नहीं है, तथापि उज्जड़ प्रदेशको बस्ती मानता है। ज्ञान–दर्शन–चारित्रादि गुण चेतन–बस्ती है। 'परमात्मपुराण'में यह बात आती है। अपनी अव्यक्तशक्ति ख्यालमें नहीं आती, जो केवलज्ञान प्रगट करे ऐसी शक्तिका विश्वास नहीं आता, इसलिए चेतन–बस्तीको उज्जड़ मानता है।

इसलिए अचेतनको अचेतन मानकर, अचेतनका अहंकार छोड़कर स्वयं चैतन्यस्वरूप है,–ऐसे श्रद्धा–ज्ञान करना वह धर्म है।

प्रवचन–६६

फाल्गुन कृष्णा १२, बुधवार दिनांक ११-२-५३

शरीरकी क्रिया जड़से होती है, आत्मासे नहीं, यह प्रथम जानना चाहिए। व्यवहारसे भी आत्मा शरीरको नहीं चला सकता। शुद्ध चिदानन्द आत्माकी श्रद्धा होनेके पश्चात् शुभराग आए उसे जानना वह व्यवहार है। शरीरकी खान–पानादिकी क्रिया आत्मासे होती है ऐसा मानना वह मूढ़ता है। अच्छा आहार–जल आदि मिलें तो आत्मा पर प्रभाव पड़े–ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है। परपदार्थका प्रभाव आत्माके ऊपर नहीं पड़ता। आहार एवं आत्माके बीच अत्यन्त अभाव है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो उसे शरीरके प्रति अपनत्व छोड़ना चाहिए। मैं ज्ञानानन्द हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ, रागादि मेरा स्वभाव नहीं है–ऐसी दृष्टि करना वह धर्म है।

अज्ञानी जीव अनादिसे शरीर, मन, वाणीकी क्रियाको अपनी मानता है तथा पुण्यसे लाभ मानता है, वह उज्जड़ प्रदेशको बस्ती मानता है। धर्मी जीव पुण्यसे धर्म नहीं मानता। अच्छे शुद्ध आहार–जल आदिकी क्रियामें आत्मा नहीं है और विकारी परिणाममें निर्विकारी स्वभाव नहीं है, तथापि परसे और पुण्यसे धर्म माने वह उज्जड़ प्रदेशको बस्ती मानता है। ज्ञान–दर्शनादि अनन्त गुणोंका पिण्ड आत्मा है उसे उज्जड़ मानता है, इसलिए उसकी श्रद्धा नहीं करता।

अनन्तकालसे लोगोंने निमित्तको सुधारने तथा पुण्य करनेकी बात सुनी है, किन्तु शरीररहित, रागरहित शुद्ध आत्माकी बात नहीं सुनी। भगवानकी वाणीका जो आशय है उसे नहीं पकड़ा, इसलिए यह बात नहीं सुनी। शरीर, मन, वाणीकी रुचि छोड़कर, ज्ञानानन्दकी रुचि करे और अन्तर्लीन हो तो अपने अनन्तगुणोंके निधानको न लुटाए। यदि राग और निमित्तसे धर्म माने तो निधानको लुटाता है।

लोग बाह्यक्रियामें अटक गए हैं, परन्तु बाह्यक्रियामें धर्म नहीं है।

व्यवहार पहले और निश्चय बादमें प्रगट होता है–ऐसा माननेवालेने चैतन्यकी बात नहीं सुनी है। रागसे चैतन्यका सुधार होता है वह मिथ्यादृष्टिका कथन है। अज्ञानी भ्रममें पड़ गया है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है–ऐसी दृष्टि होनेके पश्चात् जो शुभराग आता है उसे व्यवहार कहते हैं।

यशोविजयजीने ३५० वर्ष पहले दिग्पटके ८४ बोल बनाकर दिगम्बरकी भूल निकाली है कि :–

''निश्चयनय पहले कहें, पीछे लें व्यवहार,
भाषा क्रम जानें नहीं जैनमार्गको सार।''

श्वेताम्बर कहते हैं कि भाषामें व्यवहार पहले आता है, इसलिए व्यवहार प्रथम होना चाहिए, परन्तु वह बात मिथ्या है। आत्माकी प्रतीति हुई वह निश्चय है, ऐसा जाने बिना जो राग आए वह हेय है–ऐसा जानना उसका नाम व्यवहार है। यह वस्तुस्वरूप है।

श्वेताम्बर कहते हैं कि ''तुम भाषाका क्रम नहीं जानते। भाषामें पहले व्यवहार आया, इसलिए व्यवहार पहले होना चाहिए। गुरु शिष्यको धर्म समझाता है, उसमें शिष्यको वाणी सुननेका शुभराग आता है, इसलिए राग अथवा व्यवहार पहले होना चाहिए, पश्चात् निश्चय प्रगट होता है और वह जैनधर्मका सार है''–ऐसा श्वेताम्बर कहते हैं, परन्तु वह भूल है। शुभरागका भी अभाव करके, शुद्ध आत्माकी प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्द है, वैसी दृष्टि और लीनता होना वह जैनमार्गका सार है। रागमें रुकना वह जैनमार्गका सार नहीं है।

फिर यशोविजयजी दिगम्बरकी टीका करते हुए कहते हैं कि :–

''तातें सो मिथ्यात्वी जैनक्रिया परिहार,
व्यवहारीसो समकिती कहै भाष्य व्यवहार।।''

वे दिगम्बरको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। ''तुम रागसे धर्म नहीं मानते

इसलिए शुभरागको तुम उड़ाते हो।'' ऐसा तर्क श्वेताम्बर मतानुयायी करते हैं, परन्तु वह मिथ्या है। आत्मा शुद्ध चैतन्य है, ऐसी दृष्टि होनेके पश्चात् जो शुभराग आये उसे व्यवहार कहते हैं, अथवा पूर्वके शुभरागका अभाव होकर सम्यग्दर्शन होता है, इसलिए भूतनैगमनयसे, उसे व्यवहार कहते हैं। श्रवण करनेके रागसे लाभ नहीं है और जो सुनाता है उसे भी रागसे लाभ नहीं है, परन्तु रागरहित शुद्ध चैतन्यकी दृष्टि करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

वर्तमानमें भी जो दिगम्बर प्रथम व्यवहार होना चाहिए ऐसा कहते हैं और व्यवहारसे निश्चय प्रगट होगा ऐसा मानते हैं वे श्वेताम्बरोंकी भाँति मिथ्यादृष्टि हैं। तथा वे कहते हैं कि ''तुमने रागरूप क्रियाको छोड़ दिया क्योंकि तुमने रागसे लाभ नहीं माना।'' फिर कहते हैं कि :–

''व्यवहारी सो समकिती कहे भाष्यव्यवहार।''

''जो व्यवहारी हैं वे सम्यक्त्वी हैं''–ऐसा यशोविजयजी कहते हैं, परन्तु वह बात मिथ्या है। मैं ज्ञानानन्दी हूँ–ऐसी प्रतीति होनेके पश्चात् लीनता करे उसकी मुक्ति होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि– ''निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाणकी।'' भूतार्थ–निश्चयका आश्रय करनेसे ही सम्यक्त्व ज्ञान–चारित्ररूप धर्म प्रगट होता है, स्थिर रहता है, बढ़ता है और पूर्ण होता है।

शुद्ध चिदानन्द स्वभावके आश्रयसे मुनिवर निर्वाणकी प्राप्ति करते हैं। वर्तमानमें अज्ञानी कहते हैं कि अच्छे खान–पानका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है और शुभराग होता है जिससे धर्म प्रगट होता है; परन्तु वह दोनों बातें मिथ्या हैं।

आत्माकी प्रतीति होने पर यथायोग्य आहार लेनेकी वृत्ति आती है। मुनिको उद्देशिक आहार लेनेकी वृत्ति होना वह प्रमाद है। वैसा विकल्प मुनि छोड़ देते हैं, अभक्ष्य लेनेकी वृत्ति ही नहीं होती। परवस्तुका ग्रहण–त्याग ही आत्मामें नहीं है। यदि आत्मामें परका ग्रहण–त्याग हो तो आत्मा और पर एक हो जाएँ। माँस, मदिरा आदि लेनेका अशुभ राग

सम्यग्दृष्टिको कदापि नहीं आता। परपदार्थ छोड़नेकी बात ही नहीं है। जड़पदार्थको ले सकता हूँ या छोड़ सकता हूँ ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है, तथा शुभरागसे परकी पर्याय होती है ऐसा भी नहीं है। जो आत्मज्ञान होनेके पश्चात् मुनिदशा ग्रहण करते हैं ऐसे मुनियोंको उद्देशिक आहार लेनेकी वृत्ति ही नहीं होती। आत्मा या तो स्वभावकी श्रद्धा करे अथवा शुभाशुभ राग करे, परन्तु परका ग्रहण–त्याग नहीं कर सकता।

यशोविजयजी पुनः कहते हैं कि :–''तुम रागसे धर्म मानो, नहीं तो तुमने रागको छोड़ दिया है ऐसा माना जाएँगा।'' परन्तु वह बात मिथ्या है। रागसे धर्म है ही नहीं। तथा व्यवहारीको सम्यक्त्वी कहते हैं, वह बात भी मिथ्या है। आत्माकी प्रतीति होनेके पश्चात् भी जो शुभराग आए वह बंधका कारण है और प्रतीति होनेके पश्चात् स्वरूपमें लीनता करना वह अबंधका कारण है।

''जो नय पहिले परिणमे सोई कहै हित होई,
निश्चय क्यों धुरि परिणमे सूक्षममति करी जोई।''

श्वेताम्बर कहते हैं कि व्यवहारको प्रथम कहो तब व्यवहारको माना कहा जाएँगा,'' परन्तु वह बात सत्य नहीं है। पुनः कहते हैं कि :–

''यदि सूक्ष्म मतिसे देखो तो निश्चय पहले नहीं होगा।''–ऐसा वे कहते हैं, किन्तु वह बात भी मिथ्या है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, समन्तभद्र आदि आचार्य तो प्रथम निश्चय प्रगट हो, तब शुभरागको व्यवहार (मोक्षमार्ग) कहते हैं। समयसारकी ४१३वीं गाथामें कहते हैं कि–कषायमन्दताके परिणाममें अनादिसे जीव आरूढ़ है उसे व्यवहार (मोक्षमार्ग) नहीं कहा जाता; क्योंकि उसे रागकी रुचि है। यशोविजयजीने दिगम्बरकी टीका की, कि प्रथम व्यवहार चाहिए; उसीप्रकार दिगम्बर व्यवहारको प्रथम कहें तो वे भी श्वेताम्बरकी भाँति मिथ्यादृष्टि हैं। श्वेताम्बर पंथव्यवहारको मुख्य कर तत्त्वका विरोध करके पृथक् हुआ है। प्रथम निश्चय हो तो रागको व्यवहार

कहा जाता है–ऐसा सर्व दिगम्बर आचार्य कहते हैं, परन्तु वर्तमानमें कोई कहे कि प्रथम व्यवहार तो करना चाहिए न? तो ऐसा कहनेवालोंकी बात मिथ्या है।

निश्चय अर्थात् सत्य, व्यवहार अर्थात् आरोप। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है–ऐसी दृष्टिवानको वर्तता हुआ शुभराग व्यवहार नाम प्राप्त करता है, तथापि वह शुभराग तो बंधका ही कारण है। वर्तमान वर्तते शुभरागको व्यवहार कहते हैं और पूर्वके शुभरागको भूतनैगमनयसे व्यवहार कहा जाता है।

मैं ज्ञानानन्दमय हूँ, पुण्य–पाप मेरे आत्माके लिए व्यर्थ है–ऐसा निर्णय प्रथम होना चाहिए। रागसे धर्म माननेवाला जीव मिथ्यात्वकी रुचिके कारण अपने अनन्त गुणधामको लुटाता है, स्वभावकी रुचि और अवलम्बन करनेवाला निजसम्पत्तिका स्वामी–बादशाह है, व्यवहारसे तथा परसे लाभ माने वह वास्तवमें चोर है।

प्रश्न :–ऐसा माननेसे तो आत्मा निष्क्रिय हो जाएगा?

समाधान :–जड़की पर्याय जड़से होती है। प्रत्येक परमाणु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त है। परकी पर्यायका आत्मा कर्ता नहीं है। श्री अमृतचन्द्राचार्यने 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय'में कहा है कि–आत्मा–निवृत्तस्वरूप ही है, परसे निष्क्रिय है। प्रत्येक द्रव्य अपने–अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावमें है और दूसरेके द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावमें नहीं है; स्वसे अस्तिरूप और परसे नास्तिरूप है। अज्ञानी मानता है कि–मैं हूँ तो शरीर और कुटुम्बादिकी व्यवस्था बराबर होती है–यही अज्ञानभाव है। अपनेको परसे भिन्न माननेके पश्चात् आत्मा विकारसे रहित है–ऐसा भेदज्ञान करना वह सम्यग्दर्शन है। ऐसी प्रतीतिके बिना सर्वक्रिया अरण्यरोदनके समान है।

जिसप्रकार ज्ञान–दर्शन–चारित्र गुण हैं, उसीप्रकार वीर्य भी आत्माका गुण है। उसका कार्य अपनेमें न्यूनाधिकरूपसे परिणमन करना है, परन्तु शरीरमें और परमें उसका कार्य नहीं है। यदि आत्माको परसे नास्तिरूप नहीं माना जाए तो आत्मा और पर एकरूप हो जाएँ।

प्रश्न :–ऐसा मानें तो साधु–बावा होना पड़े?

समाधान :–ऐसी बात नहीं है। भरत चक्रवर्तीको तो विशाल परिवार था, तथापि उनको आत्माकी प्रतीति थी कि परपदार्थ आत्मासे भिन्न हैं–ऐसी प्रतीति होनेके कारण मिथ्यात्वसे बावा हुए। अल्प अपराध है वह तो चारित्रका दोष है, परन्तु दोषरहित आत्माकी प्रतीति होना वह धर्म है। वस्तुदृष्टिके बिना तो जीव स्वधर्मका त्यागी है। यहाँ कहते हैं कि–जिसे अपने अनन्त गुणोंका स्वामित्व है वह शाहूकार है। निमित्तकी अथवा परकी क्रिया परसे होती है, तथापि उसे आत्मासे होना मानना वह चोरी है।

स्वयं अमुक प्रकारका राग करे तो परकी क्रिया होती है ऐसा कभी नहीं होता। ऐसा हो तो परका नाश माना और स्वयं अभिमान किया ऐसा कहा जाएँगा। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञायकभावको अपना धन मानता है। मेरा स्वभाव शुद्धचिदानन्द अमृत–कुण्ड है, पुण्य–पाप दोष हैं–ऐसा समझे वह शाहूकार है, उसको चिदानन्द आत्माकी अनुभूति होती है। अंतरमें आनन्दका अनुभव सिद्धसमान होता है और अविनाशी लाभ होता है। पुण्य–पाप परिणाम आस्रव हैं; लक्ष्मी आदि पर हैं, उनमें लाभ–हानि नहीं है। पर्यायमें शुभ–अशुभभाव हों वह दोनों हानिकारक हैं। शुभसे धर्म नहीं होता। जैसे विष खाते–खाते अमृतकी डकार नहीं आती, वैसे ही राग करते–करते कभी वीतरागता नहीं होती। ज्ञानीको शुभभाव आते हैं परन्तु उनको हानिकारक मानता है, अज्ञानी शुभको लाभदायक मानता है। अनादिसे अज्ञानीने शरीर, मन, वाणीसे लाभ मानकर परमें अपनत्व माना है, परको ग्रहण करते हुए परवस्तुका चोर हुआ है। धर्मी जानता है कि परकी–जड़की क्रिया होती है वह मेरे हाथकी बात नहीं है। अज्ञानी परवस्तुका चोर होता है। इसलिए जन्म–मरणके दुःख भोगता है। जगतमें चोर दण्डित होता है, वैसे ही शरीरादि परको अपना माननेवाला अथवा शरीरकी क्रिया आत्माको सहायक या लाभदायक होती है–ऐसा माननेवालेको जन्म–मरणके दुःख भोगना पड़ते हैं।

प्रवचन–६७

फाल्गुन शुक्ला–१, शनिवार दि० १४-२-५३

संसारमें परवस्तुका ग्रहण करने पर जेलमें जाना पड़ता है, वैसे ही ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्माकी दृष्टि छोड़कर विकार जितना ही मैं हूँ–ऐसा माननेसे जन्म–मरणका दुःख भोगना पड़ता है। मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ, विकार मेरा स्वरूप नहीं है,–ऐसा भेदज्ञान हो और शरीरादिमें अपनेपनकी पकड़ छूटे तो साहूकार कहा जाय, वैसे साहूकार नहीं कहा जा सकता। मैं शुद्ध चैतन्यका स्वामी हूँ, ऐसी दृष्टि हो तो साहूकार है, और परका स्वामित्व माने तो चोर है। स्वाश्रयसे ही लाभ होता है, इसप्रकार जो शुद्ध चैतन्यस्वभावकी दृष्टि नहीं करता, किन्तु विकार और संयोगकी दृष्टि करता है वह चोर है। जब अपनेमें विवेक करे कि रागादि परिणाम मैं नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ–ऐसा भेदज्ञान करे तो शाहपद धारण करके सुखी हो; वीतरागी परिणति द्वारा अपना घर स्थिर करना चाहिए। अपनी चिदानन्द लक्ष्मीको मानता नहीं है और परको अपना मानता है वह अपना घर लुटाता है। शक्तिवान आत्मा है, उसको भजना–चिंतन करना कहते हैं। पुण्य–पापमें आत्माकी यथार्थ शक्ति नहीं है। शक्तिवान आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान एवं स्थिरता करे तो मुक्ति हो।

अनादिसे शुभाशुभ वृत्तियोंको अपनी वस्तु मान रहा था, इसलिए अस्थिरता होती थी। अपनेमें अस्थिरपदका प्रवेश है,–ऐसा मानकर ध्रुवस्वभावको अपना नहीं मानता यही विपरीत मान्यता है, पुण्यादि विकार करूँ तो मुझे शान्ति हो,–ऐसी मान्यता छोड़कर शुद्ध चिदानन्दकी दृष्टि करे तो मोक्षमहलमें पहुँचे।

अपने स्वरूपके श्रद्धा, ज्ञान और रमणता वह साक्षात् मोक्षमार्ग है। आत्माकी केवलज्ञानदशाको शिवपद कहते हैं। वह अनुभवसे प्राप्त होता

है। विकारसे या क्रियाकाण्डसे शिवपद नहीं मिलता। ''क्रिया पर्यायकी फेरणी,'' स्वरूपकी अनुभवदशाको पलटाया वह अनुभवकी क्रिया है।

जो ज्ञानस्वरूप है उसका अनुभव त्रिभुवनमें सार है, अन्य कुछ सार नहीं है। पुण्यादि परिणाम शुभोपयोग हैं, आस्रवतत्त्व हैं, बंधका मार्ग हैं, वह मोक्षका मार्ग नहीं है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो वीतरागदशा प्रगट करे वह अनुभव अनन्त कल्याणका कारण है। आत्मा वीतरागी शान्ति और केवलज्ञानादि महिमाका भण्डार है। शास्त्र पढ़े, चारों अनुयोग जाने, तथापि जिसकी तुलनामें न आए उस बोधका फल अनुभव है। बारह अंगकी पढ़ाईका फल अनुभव है। राग–द्वेष होता है वह विकार है, दुःख है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है ऐसा अनुभव करना वह भेदज्ञानका फल है। अनुभव स्वरसका रस है। आत्मा सिद्धस्वरूप है–ऐसी अंतर्दृष्टि करके आत्माके रसकी पर्याय प्रगट हो वह स्वरस है। ''बसंतमालती'' आदि दवाओंके रसमें कोई सार नहीं है। आत्मा चिदानन्द शुद्ध ध्रुव आनन्दकन्द है, उसकी शक्तिका रस प्रगट होना ही सच्चा रस है।

प्रश्न :–हमें तो आत्माके बाहर सबकुछ दिखाई देता है?

समाधान :–वह सब अपनी पर्यायमें दिखता है, परन्तु पर्याय जितना आत्मा नहीं है। आत्मा तो पर्यायवान है, ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसकी प्रतीति करके लीनता करना वह रस है।

पुण्य–पापके भाव विकार हैं, उनसे रहित आत्माका अनुभव करना वह धर्म है। आत्मा त्रिकाल ध्रुव सत् है ऐसी दृष्टि और ज्ञानके बिना रागको व्यवहार भी नहीं कहा जाता।

अनुभव स्वसंवेदन है, आत्मा ज्ञानानन्द है, उसका वेदन स्वसंवेदन है, पुण्यका वेदन वह स्वसंवेदन नहीं है।

लोगोंने यह बात सुनी नहीं है। जगतको यथार्थ तत्त्वकी खबर नहीं है। अज्ञानी शरीर, मन, वाणीकी क्रियाका कर्ता आत्माको मानता है। विकाररहित आत्माकी दृष्टि करना वह धर्म है, आत्माका स्वसंवेदन करना

वह अनुभव है। मैं हूँ तो शरीर चलता है, मैं परकी दयाका पालन कर सकता हूँ–ऐसा मानना वह अज्ञान है। रागके कारण कर्मकी पर्याय होती है–ऐसा माने वह अज्ञानी है । आत्माका स्वभाव नित्यानन्द है। शरीर, वाणी पर हैं, रागकी परिणति गौण है, आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चिदानन्द है–ऐसी दृष्टिपूर्वक स्वका वेदन करना वह मुख्य है, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं।

अनुभव तृप्तिभाव है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है। उसकी दृष्टि करके मोक्षमार्ग प्रगट हो उससे शान्ति और तृप्ति होती है। खाने–पीनेके परिणामोंसे या पुण्य–पापसे तृप्ति नहीं है और अट्ठाईस मूलगुणोंके पालनसे भी तृप्ति नहीं है। आत्मा ज्ञायक चिदानन्द है, उसकी श्रद्धा और अनुभव करना वह तृप्तिभाव है। आत्मा शांत अनाकुल शक्तिका भण्डार है, वैसी ही पर्याय प्रगट होना वह तृप्तिभाव है। पुण्यमें तृप्ति नहीं है, विकारसे तृप्ति नहीं है। अनुभव स्वरस है, राग स्वरस नहीं है। तथा अनुभव अखण्डपद सर्वस्व है, अभेद मूर्ति आत्मामें सर्वस्व है, रागमें सर्वस्व नहीं है। आत्माका अनुभव करना–रमणता करना वह निजरसका अनुभव है। आत्माकी ज्ञानानन्दशक्तिका व्यक्त होना वह अनुभव विमलरूप–निर्मलरूप है। शुभराग प्रगट करना वह निर्मलरूप नहीं है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उसको प्रगट करनेका साधन अनुभव है। निमित्त अथवा व्यवहार–साधनको यहाँ उड़ा दिया है। ज्ञानज्योति प्रगट करनेका कारण अनुभव है।

अज्ञानीको खबर नहीं है कि आत्मा परसे भिन्न है और परका उपकार करना चाहता है, परन्तु अपनेसे परमें कुछ नहीं होता। बाह्यदृष्टिवालेको अन्तर्मुख होनेका अवसर नहीं रहता।

अनुभवके रसमें–सम्यग्दर्शनमें–मैं अखण्ड ज्ञानानन्द हूँ–ऐसी श्रद्धा एवं अनुभवमें उन अनन्त गुणोंका रस है। अनुभवमें अनन्त गुणोंका रस आता है। आत्माके अवलम्बनसे प्रगट होनेवाली निर्विकारीदशामें अनन्तगुणोंका रस आता है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि किस साधन द्वारा हुए? वे सब अनुभवसे हुए हैं, होते हैं और

होंगे। क्रियाकाण्डसे पाँच पद प्राप्त नहीं होते। ज्ञानानन्दके अवलम्बनसे शान्ति, वीतरागी दशा होने पर परमेष्ठीपद प्राप्त होता है। अरिहंत और सिद्ध केवलज्ञानका अनुभव करते हैं, सच्चे आचार्यादि आत्माका अनुभव करते हैं। क्रियाकाण्डका अनुभव करें वे आचार्य नहीं है। आचार्यादिको राग होता है, परन्तु रागमें तन्मयता नहीं होती। आत्माका अनुभव–आनन्द करें वह साधुपद है।

जगतमें आत्माकी प्रतीतिवन्त सन्त तथा जो गुणवन्त कहलाते हैं वे आत्माका अनुभव करें। ज्ञानीको भी दया, दानादिके परिणाम होते हैं, परन्तु वह आस्रव है, धर्म नहीं है–ऐसा जानो। बाह्य तप करें, अभिग्रह करें उनको गुणवन्त धर्मात्मा नहीं कहा है; जो आनन्दस्वभावकी खोज करे वह गुणवान सन्त हैं। मात्र क्रियाकाण्ड करनेवालोंको सन्त नहीं कहा जाता। समस्त जीवराशि स्वरूपका अनुभव करो, एक अनुभव ही मोक्षका मार्ग है।

अखण्ड स्वभावकी दृष्टिपूर्वक लीनता करना ही विधि है। जिसके अंतरमें मिथ्यात्वकी ग्रन्थि छिद गई है तथा अल्पराग रहा है और बाह्यमें परिग्रह छूट गया है वे निर्ग्रंथ मुनि हैं। अन्तर्शक्तिको सम्हालकर–नित्यकी दृष्टि करके–सामान्य स्वभावका अनुभव करके भगवान हुए हैं। लोगोंको मुर्दा देखकर स्मशान वैराग्य हो जाता है, परन्तु वर्तमान शरीर ही मृतक समान है। आत्मा अमृतसमान और शरीर मृतकसमान है। समयसारकी ९६वीं गाथामें कहा है कि–अमृतसमान आत्मा मृतकसमान शरीरमें रुका है–मूर्च्छित हो गया है। उस मूर्च्छाको छोड़कर अन्तर्शक्तिका विश्वास लाकर निर्ग्रन्थ मुनि भगवान हुए हैं। आत्माकी दृढ़ प्रतीति करनेवाले मुनि भगवान हुए हैं।

अब गृहस्थकी बात करते हैं। धर्मात्मा चक्रवर्ती बाह्य संयोगोंमें दृष्टिगोचर होने पर भी कभी–कभी आत्माका अनुभव करते हैं। स्त्री, महल–मकानादि आत्मासे पृथक् हैं–ऐसी श्रद्धा करके आत्मानुभव करते हैं। धर्मात्मा समझते हैं कि शरीर, मन, वाणी पर हैं, विकार अपराध है,

उससे रहित आत्मा शुद्ध चिदानंद है–ऐसी प्रतीति होनेसे कभी–कभी अमृतका अनुभव करते हैं और मुनि तो बारम्बार अनुभव करते हैं। चौथे–पाँचवें गुणस्थानवाले वे मुक्तिके साधक हैं, क्योंकि उनको आत्माकी प्रतीति है। मिथ्यादृष्टि मुनि बाह्यमें क्रियाकाण्ड करता हो, परन्तु आत्माकी प्रतीति नहीं होनेसे वह संसारका साधक है। धर्मात्मा बालक हो, वृद्ध हो या मेंढ़क हो, परन्तु मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, राग मैं नहीं हूँ–ऐसी प्रतीति होनेसे जब अनुभव करता है तब अंशतः सिद्धसमान आत्माका अनुभव करता है। सिद्धके समान पूर्ण अनुभव नहीं है, परन्तु सिद्धोंकी जातिका अनुभव है। अपने स्वभावमें स्थिर होता है तब आत्मतत्त्वका अनुभव करता है। धर्मात्मा आठ वर्षका राजकुमार अथवा राजकुमारी हो तो उसे भी आत्माका अनुभव होता है। एकदेश आनन्दकन्दका अनुभव हुआ इसलिए स्वरूपानुभवकी सर्वजाति पहिचान ली है। अर्हंत–सिद्ध आदिको ऐसा अनुभव होता है ऐसा जान लेता है। अनुभव पूज्य है। स्वयं शुद्ध आनन्दकन्द हैं ऐसी श्रद्धापूर्वक अनुभव पूज्य है। वही परम है, वही धर्म है। आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान एवं रमणता ही धर्म है। धर्म कहो या चारित्र कहो–एक ही हैं। वही जगतका सार है। आत्माका अनुभव भवसे पार करता है। अनुभव विकार रहित है। अनुभव भवसे पार लगाता है, महिमाको धारण करता है। ज्ञानानन्द आत्माकी दृष्टि करनेसे अनुभव होता है वह दोषोंका नाशक है। आत्माकी शक्तिमें ज्ञान और आनन्द भरे हैं। शक्तिकी व्यक्तिरूपी अनुभवसे चिदानन्दका सुधार होता है वही सच्चा सुधार है।

देव, जिनेन्द्र, अरिहंत, गणधर और मुनि आदि अनुभव करके निश्चयको प्राप्त हुए हैं। आत्माकी रुचि करके आनन्द प्राप्त किया है। अरिहंत और सिद्ध केवलज्ञानमें विराजते हैं। उनको नित्य आनन्दका अनुभव है। धाराप्रवाह आनन्द अनुभवते हैं। मैं रागरहित हूँ, अखण्ड हूँ, उसका स्वाद लिया है वे जगतमें धन्य हैं। अपने आत्माकी भावना करके अनुभव करते हैं उनको धन्य है।

यह 'अनुभव–प्रकाश' ग्रन्थ है। श्री दीपचन्दजी साधर्मी ज्ञानी श्रावक हो गए हैं उनकी रचना है। पहलेके श्रावक श्री राजमलजी पाण्डे, टोडरमलजी, श्री जयचन्दजी, द्यानतरायजी आदि ज्ञानी थे। अनुभव निजज्ञानका दातार है, उसका अनुभव करके सन्तोंने सुख प्राप्त किया है। भव्यजीव निरुपम आत्माकी श्रद्धा करें। श्री दीपचन्दजी कहते हैं कि आत्मा स्वयं अविकार स्वरूप है, उसकी श्रद्धा करो।